बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी-कवि

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी
हिन्दी साहित्य विषय में
पी एच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबंध
2004

शोधार्थी

कु. किरन चोबे

निर्देशक

डॉ. मनुजी श्रीवास्तव

रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय
झाँसी (उ.प्र.)

बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी (उ.प्र.)

सांई सदन दयाल की दया

भक्त माल के

सूफी संत

"सदन शाह रहमत उल्ला अलैह"

को

सादर समर्पित

हम गंगा जल से न्हावें
नित तुम रीझो सदना के
बदना के पानी सों ।

- नाभादास
भक्तमाल

डॉ. मनुजी श्रीवास्तव
रीडर एवं अध्यक्ष

हिन्दी विभाग
बुन्देलखण्ड महाविद्यालय
झाँसी (उ.प्र.)

मार्गदर्शक का प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि कु. किरन चौबे द्वारा बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की हिन्दी विषय की शोध-उपाधि हेतु ''बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी-कवि'' शीर्षक पर किया गया शोधकार्य मौलिक होकर मेरे मार्गदर्शन में पूर्ण किया गया है।

यह कि, शोधार्थी ने नियमानुसार उपर्युक्त कार्य हेतु 200 दिवस की उपस्थिति मुझे दी है।

मेरी जानकारी एवं विश्वास के अनुसार यह शोध-ग्रंथ -

1- शोधार्थी का स्वयं का मौलिक कार्य है।

2- शोधकार्य अपने आप में पूर्ण है।

3- विश्वविद्यालय की शोध उपाधि हेतु निर्गमित अध्यादेशों की प्रतिपूर्ति करता है और;

4- शोध-कार्य भाषा एवम् विषयगत अध्ययन की दृष्टि से स्तरीय होकर परीक्षकों की ओर प्रेषित किये जाने योग्य है।

(डॉ. मनुजी श्रीवास्तव)
निर्देशक

शोधार्थी का घोषणा-पत्र

मैं यह घोषणा करती हूँ कि ''बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी-कवि'' शीर्षक पर पूर्ण किया गया शोधकार्य मेरा स्वयं का है जिसे मैंने डॉ. मनुजी श्रीवास्तव, रीडर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, बुन्देलखण्ड महाविद्यालय, झाँसी (उ.प्र.) के निर्देशन में तथा शासकीय महाविद्यालय झाँसी (उ.प्र.) शोध केन्द्र पर पूर्ण किया है।

शोध उपाधि-समिति द्वारा स्वीकृत इस शीर्षक पर कार्य करते हुए मैंने 200 कार्य दिवसों की उपस्थिति शोध-केन्द्र पर मार्गदर्शक को दी है।

मैं पुन: विश्वास एवम् ज्ञान के साथ यह घोषित करती हूँ कि इस शोध-कार्य का कोई भी भाग या अंश किसी भी उपाधि हेतु इस विश्वविद्यालय में/अन्य विश्वविद्यालयों में मूल्यांकन हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

कु. किरन चौबे

दिनांक : अप्रैल 2004

(कु. किरन चौबे)

शोधार्थी

भूमिका एवं कृतज्ञता ज्ञापन

अपने पिता की घरेलू लायब्रेरी में हिन्दी के साथ कुछ अन्य पुस्तकों को भी मैंने देखा था जिनकी लिपि मुझे अपरिचित लगी थी। यह बात बचपन की थी। इण्टर तक पहुंचते-पहुंचते मैंने जाना कि वह अपरिचित आकृति उर्दू है। कुछ और समझदार हुई तो मैंने वेद, भाष्य, रामचरित मानस व श्रीमद्‌भगवत के साथ कुरान-ए-मजीद को रखा देखा। घर के मंदिर और अपने बगीचे के मंदिर - 'विजयराघव' में बने कुछ चित्रों को देखा, जिनमें एक श्वेत दाढ़ीधारी बाबा थे और गुम्बदों के आकार के भवन बने थे। इन पर मैं सपरिवार फूल चढ़ाती थी और पूजन-अर्चन करती थी।

एक दिन बॉम्बे ब्लास्ट (बम्बई बमकाण्ड) और हिन्दू-मुसलिम दंगों के बारे में पढ़ा और सुना तो पिता के समक्ष अपनी शंका प्रकट की, कि - "जब हिन्दू-मुसलमान एक-दूसरे के इतने रक्त-पिपासु हैं, इतनी नफरत करते हैं, तब इन मुसलिम फकीर का हिन्दू - वह भी चतुर्वेदी ब्राह्मण के घर क्या काम ?" पिता ने समझाया- तुम यह जो चित्र देख रही हो, ये प्रसिद्ध सूफी संत बाबा सदन रहमत उल्ला अलैह हैं और गुम्बदें वाली इमारत बाबा सदन की पवित्र दरगाह है। दूसरी तसवीर अजमेर शरीफ की है। 'कुरान-ए-मजीद' मुसलमानों का पवित्र ग्रंथ है।

मेरी शंका जिज्ञासा में बदल गयी और पिताजी ने उसका समाधान करते हुए जो ज्ञानवर्द्धक जानकारियां दीं वे मेरे लिए सर्वथा नवीन थीं। उन्होंने बताया कि - "बाबा सदन 'भक्तमाल' के एक सौ आठ संतों में से एक हैं। कुरान-ए-मजीद की जो अपरिचित सी भाषा तुमने देखी है, वह उर्दू है और उर्दू, हिन्दी की छोटी बहिन है। उर्दू ने अपना तमाम रास्ता हिन्दी की उंगली पकड़कर तय किया है। हम हिन्दू हैं, ब्राह्मण हैं, परन्तु उर्दू से वैसा ही प्यार करते हैं, जैसा संस्कृत और हिन्दी से। मुसलमान भी हिन्दी को अपनी ही भाषा मानते हैं। ऐसे अनेकानेक मुसलमान हैं, जिनका हिन्दी में लिखा गया गद्य और पद्य यदि हिन्दी से निकाल दिया जाये तो हिन्दी काफी हद तक निष्प्रभ हो जाएगी। कृष्ण के कृतित्व और लीला से रसखान को तथा नीति व भक्ति से

रहीम को यदि निष्कासित कर दिया जाये, तो हिन्दी-साहित्य में क्या रह जाएगा ? क्या फिर कृष्ण को समग्र रूप में जाना जा सकता है ?''

मेरी पारिवारिक पृष्ठभूमि के संदर्भ में अनेक विषय ऐसे थे, जिनमें स्नातकोत्तर किया जा सकता था; परन्तु सीधे उर्दू से एम.ए. करना सम्भव न था और सब कुछ जानने-समझने-पढ़ने के बाद साहित्य से दूर रहना भी सम्भव न था। जब शिक्षा, स्वरुचि और शौक बन जाये, तो विषय की क्लिष्टता व दुरूहता - सहजता में परिवर्तित हो जाती है - मेरे साथ हुआ भी यही। हिन्दी-साहित्य से एम.ए. करते समय मैंने अपने अध्ययन-आकाश को विस्तृत किया और पठन-पाठन दृष्टि को सूक्ष्म बनाया। पुस्तकों का अध्ययन मैंने केवल परीक्षा की दृष्टि से नहीं किया।

प्रथम श्रेणी से एम.ए. करने के पश्चात् कुछ विशिष्ट करने का लक्ष्य मैंने बनाया। मेरी पारिवारिक पृष्ठभूमि, घर के सुसंस्कृत वातावरण तथा अध्ययन के प्रति उत्कट अभिलाषा ने मेरे विचारों को पोषित किया। मेरे पिताश्री के उदात्त विचार, अनुकरणीय कृतित्व और उनका प्रेरक व्यक्तित्व-मेरा आदर्श था। उन्होंने मुझे बतलाया था कि, अकबर के समय विश्वकवि तुलसी के 'मानस'-सृजन में न ही अकबर ने कभी कोई हस्तक्षेप किया और न ही तुलसी ने 'दीन-ए-इलाही' में । अपने विशिष्ट लक्ष्य तक पहुँचने के लिए मैंने ऐसे विषय पर शोध करने को अपना साधन बनाया जो उपेक्षित हो, अनछुआ हो, परन्तु सर्वथा मौलिक व महत्वपूर्ण हो। मेरा वह महत्वपूर्ण लक्ष्य था - धर्मान्धता, कट्टरपन, वैमनस्य आदि तामसी विचारों के बढ़ते अंधकार को दूर करने के प्रयास में साम्प्रदायिक सौहार्द, सदाशय एवं प्रेम की विकीर्णित रश्मियों से संयुक्त एक नन्हे प्रयास-दीप को प्रज्ज्वलित करना। इसी का प्रतिफल प्रस्तुत शोध प्रबंध है।

किसी कार्य की सफलता में ईश्वरीय-अनुकम्पा तो प्रमुख होती ही है, परन्तु परिवार-समाज के प्रोत्साहन, आशीर्वाद और सहयोग के बिना कोई कार्य सम्पन्न हो ही नहीं सकता। उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना मैं अपना

परम धर्म समझती हूँ। सर्वप्रथम अपने पूज्य पिताश्री रमेशचन्द्र जी चौबे एवं माताश्री श्रीमती वीणा चौबे के प्रति में कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। यदि मेरे पिताजी मेरी बाल-सुलभ-जिज्ञासा को रचनात्मक एवम् उदार दृष्टि से शांत करने का प्रयास न करते तो प्रस्तुत विषय पर शोध करने का बलवती विचार मेरे मन में आ ही नहीं सकता था। पिताजी ने मेरी चेतना में जिस सौहार्द्र का बीज-वपन किया था, उसे माता ने स्नेह और वात्सल्य-नीर से अभिसिंचित किया। वैसे भी माता-पिता के उदार अनुग्रह के प्रति किसी भी प्रकार का आभार अब तक विश्व में सक्षम व पूर्ण नहीं हो सका है। बस, मैं नतमस्तक ही हो सकती हूँ - उनके असीम उपकारों के प्रति।

गुरू-महिमा और गुरू-कृपा तो सर्वविदित है। गुरू ही तिमिराच्छादित पथ को ज्ञान-दीप से आलोकित करता है। कबीर के शब्दों में कहूं तो - ''सतगुरू की महिमा अनत-अनत किया उपगार.....'' की भांति ही मेरे गुरुवर पूज्य डॉ. मनुजी श्रीवास्तव ने भी अनन्त उपकार किया है। वे मेरे शोध-प्रबंध के निदेशक हैं, अत्यन्त उदार हैं। उदधि-अन्तर है उनका। अत्यन्त मृदुभाषी, सहज व निश्छल व्यक्तित्व व कुसुम-सुरभि-सम निर्मल-कोमल मानसधारी अपने गुरुवर के श्रीचरणों में मैं कोटिशः प्रणाम करती हूँ - उनके ज्ञान-दान से कभी उऋण हुआ ही नहीं जा सकता।

मेरे पिताश्री ने मेरी चेतना में जो बीजारोपण किया था, माता ने जिसे अभिसिंचित किया था, मेरे अग्रज श्री शिशिरकांत चौबे अपर जिला जज, ने आवश्यक सामग्री व पुस्तकें आदि एकत्र कर उस बीज को प्रस्फुटित करने से लेकर पल्लवित-पुष्पित करने तक जो सहयोग किया, उसके लिए आभार-प्रदर्शनार्थ शब्द भी बौने प्रतीत होते हैं। मैं नतमस्तक हूँ - उनके प्रति। वे मेरे बड़े हैं। उनका आभार कैसे प्रदर्शित करूँ।

मेरे इस महाज्ञान-यज्ञ में मेरे अनेक सहयोगियों, साथियों व शुभचिंतकों ने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग-समिधाएँ प्रदान की हैं - उन सबके प्रति

मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूँ। जिन पुस्तकों, पत्र-पत्रिकाओं, संदर्भ-ग्रंथों, शोध-प्रबंधों व अन्याय प्रकाशित-अप्रकाशित सामग्री का उपयोग मैंने प्रस्तुत शोध-प्रबंध में संदर्भ और प्रसंगों के रूप में किया है, उन कवियों, लेखकों, सम्पादक-प्रकाशकों, शोधकर्ताओं तथा संबंधित समस्त विद्वानों-साहित्यकारों के प्रति भी मैं हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करती हूँ। डॉ. परशुराम 'विरही', प्रो. महेश प्रसाद दीक्षित, श्री हरीमोहन दीक्षित, एडव्होकेट, डॉ. रमेशदत्त मिश्र, डॉ. सुरेश आचार्य, डॉ. लखनलाल खरे, डॉ. सरोज गुप्ता आदि के सहयोग के लिए भी मैं उन्हें धन्यवाद ज्ञापित करते हुए उनके प्रति आभारी हूँ।

प्रस्तुत शोध में जो भी विशिष्टताएँ हैं, वे सब गुरु-प्रसाद की पर्याय हैं। इसकी न्यूनताओं, शिथिलताओं तथा दोषों के लिए मेरी अज्ञानता, प्रमाद तथा अकर्मण्यता ही उत्तरदायी है जो बाल-बुद्धि होने के कारण क्षम्य है। तुलसी के शब्दों में -

छमहहिं सज्जन मोर ढिठाई। सुनिहहिं बाल-बचन मन लाई।।

(रामचरित मानस, बालकाण्ड)

किमधिकम।

झांसी,

कु. किरन चौबे

दिनांक अप्रैल 2004

अनुसंधित्सु
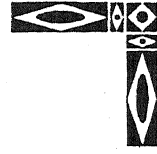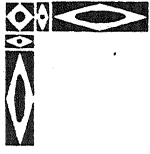
प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

- विषय की मौलिकता और औचित्य।
- आदिकाल (चारण काल) से आधुनिक काल तक के काव्य का अध्ययन।
- हिन्दी के प्रारंभिक युगों में बुंदेलखण्ड में हिन्दी का कोई मुसलमान कवि नहीं।

विषय की मौलिकता और औचित्य

प्रवेश

यह सर्वमान्य और ऐतिहासिक तथ्य है कि सन् 710 से 712 ई. के मध्य मुहम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण किया था। सिंध का राजा दाहिर अपने पुत्रों सहित इस युद्ध में पराजित हुआ था। ब्राह्मण राजा दाहिर की पराजय के साथ ही भारत में मुसलमानों का प्रवेश हुआ। यद्यपि अरब में इसलाम धर्म का प्रवर्तन हजरत मोहम्मद साहब द्वारा इसके पूर्व किया जा चुका था और इसका प्रसार विश्व में बड़ी तेजी से हो रहा था। ''सन् 739 ई. में तत्कालीन अरब सेनापति ने सिंध से कच्छ, दक्खिनी मारवाड़, उज्जैन और उत्तरी गुजरात को ध्वस्त कर लाट (दक्षिणी गुजरात) में प्रवेश किया। वहां चालुक्य सेनापति ने अरब सेना का पूर्णतया संहार किया। अरब सिंध तक ही सीमित रहे। 9 वीं शती में वहां उनके छोटे-मोटे सरदार ही रह गये। 9 वीं शती तक मुसलमान पश्चिमोत्तर भारत में प्रवेश न कर सके, क्योंकि उस समय वहां शक्तिशाली हिन्दू राज्य थे।''[1]

10 वीं शताब्दी के अंतिम चरण में गजनी के शासक महमूद ने भारतीय प्रदेशों को तीव्रता से विजित करना प्रारम्भ कर दिया और शीघ्र ही पंजाब, कांगड़ा, अन्तर्वेद के मथुरा, कन्नौज, ग्वालियर और कालिंजर को परास्त कर, मनमानी लूटपाट की। इतिहास से परिचित प्रत्येक विज्ञ यह जानता है कि कासिम से लेकर महमूद गजनवी तक के, भारत पर किये गये आक्रमणों का मुख्य उद्देश्य ''सोने की चिड़िया'' को केवल लूटना था। इसलाम का प्रचार-प्रसार उनका प्राथमिक नहीं, अपितु द्वितीय श्रेणी की परियोजना थी।

महमूद गजनवी ने सौराष्ट्र पर आक्रमण किया और सोमनाथ मंदिर को नष्ट-भ्रष्ट कर वहां से अपार सम्पत्ति की लूटपाट की। सामान्य आक्रमणों से भारतीय जनमानस इतना उद्वेलित नहीं हुआ था, जितना सोमनाथ पर हुए आक्रमण से हुआ, क्योंकि यह आक्रमण सोमनाथ पर नहीं, अपितु भारतीयों के धर्म, उनकी आस्था और निष्ठा पर हुआ था। सोमनाथ आक्रमण भारतीय इतिहास का वह प्रस्थान-बिन्दु है, जहां से भारतीय संस्कृति की बहुआयामी सीमाएँ प्रारम्भ होती हैं। यहीं से भारतीय संस्कृति में एक नया अध्याय प्रारंभ होता है। विदेशी आक्रान्ताओं के प्रति भारतीयों के मन में संदेह और घृणा का भाव उत्पन्न हुआ। मोहम्मद गौरी द्वारा किये गये आक्रमणों ने इस संदेह और घृणा को और अधिक विस्तार कर स्थायित्व प्रदान कर दिया। दिल्ली का शक्तिशाली हिन्दू राजा पृथ्वीराज चौहान षड़यंत्रों का शिकार हुआ और मोहम्मद गौरी द्वारा मारा गया। इसके साथ ही देश में तुर्कों की सत्ता स्थापित हुई। यद्यपि देशी राजे-रजवाड़े इसका न्यूनाधिक विरोध व प्रतिरोध करने का साहस करते रहे, पर उनका प्रयास अनेक कारणोंवश सफल न हो सका। फिर एक बार जो मार्ग खुला, तो पन्द्रहवीं-सोलहवी शताब्दी तक वह विस्तारित ही होता रहा। देश में धीरे-धीरे मुगलों का आधिपत्य पूर्णरुपेण स्थापित हो गया। मुसलमान आक्रान्ताओं ने अपनी सत्ता की भली-भांति स्थापना हो जाने के उपरान्त इसलाम के प्रचार-प्रसार का कार्य किया। सत्ता उनकी थी, अतः धर्म को राज्य द्वारा संरक्षित होना ही था और हुआ भी।

मुसलमानों के भारत में प्रवेश हो जाने के बाद एक परिवर्तन भारतीय समाज में परिलक्षित हुआ - देश की संस्कृति गंगाजमनी होने लगी। मुसलिमों में अनेक बादशाह ऐसे हुए हैं, जिन्होंने इसलाम के प्रचार के नाम पर हिन्दू संस्कृति के प्रतीकों को नष्ट किया। ''बुतपरस्तों'' और ''काफिरों'' को ''सीख'' देने के नाम पर उनके मंदिरों को लूटा गया, प्रतिमाओं को तोड़ा गया, जबरन हिन्दू-वेटियों से संबंध बनाये गये, उनसे जबरन निकाह पढ़वाये गये। हिन्दुओं पर ''जजिया'' इसलिए लगाया गया कि वे ''हिन्दू'' थे। जो अपनी चोटियां कटवाकर और ''कलमा'' पढ़कर इसलाम स्वीकार

कर लेता था, वह अतिशय अत्याचारों और ''जजिया कर'' से मुक्त हो जाता था। अर्थात् भारत में प्रेम व मोहब्बत का संदेश देने वाला इसलाम तलवार की धारा के बल पर अधिरोपित किया जा रहा था, आतंक और भय का वातावरण निर्मित कर उसे प्रचारित-प्रसारित किया जा रहा था।

मुसलमान शासकों में दूसरा वर्ग वह भी था, जो हिन्दुओं के साथ हिलमिल कर प्रेम से रहने की नीति का अनुसरण करने का पक्षधर था। इन बादशाहों ने जजिया कर दूर किया, हिन्दू-मंदिरों को संरक्षित किया, गौवध पर कड़ाई से प्रतिबंध लगाया और हिन्दुओं को भयमुक्त करने का भरपूर प्रयास किया। इसके अनेक कारण थे। एक कारण यह भी था कि मुसलिम शासकों ने हिन्दुस्तान को ही अपना वतन मान लिया था, उनके पूर्वज कहीं के भी रहे हों। गजनवी और गौरी की भांति हिन्दुस्तान को लूटकर इन्हें कहीं बाहर तो ले नहीं जाना था। दूसरा कारण यह भी था कि अपनी सत्ता के स्थायित्व के लिए इन्हें हिन्दुस्तान के लोगों का विश्वास जीतना आवश्यक था। इनका विश्वास अर्जित किये बिना उनकी सत्ता स्थायित्व प्राप्त नहीं कर सकती थी।

इतना सब कुछ होने के बाद भी दोनों समुदायों के मध्य घृणा और अविश्वास का जो दीर्घकालीन वातावरण निर्मित हो चुका था, वह शीघ्र समाप्त होने वाला नहीं था। इसे दूर करने का प्रयास किया सूफी संतों ने - अपने प्रेम, भाई चारे और ऐकेश्वरवाद के चिंतन द्वारा।

सूफी मत एवम् सिद्धान्त :

''सूफी'' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विभिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विज्ञजनों का मानना है कि ''सूफ'' शब्द ''सफ'' से निकला है, जिसका अर्थ है - अग्रिम पंक्ति में खड़े होने वाले। कतिपय विद्वान मानते हैं कि मदीना की मसजिद के सामने सुफ्फा - (चबूतरे) पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहते हैं। कुछ ''सोफिया'' से सूफी का अर्थ ग्रहण करते हैं, जिसका अर्थ है - ज्ञान। कुछ विद्वान सूफी शब्द का

संबंध सूफ (ऊन) से मानते हैं। इनका मानना है कि सूफी पहले मोटे ऊनी कपड़ों को धारण किया करते थे जो संभवत: उन कतिपय ईसाई संतों के अनुकरण में था, जो संसार को त्यागकर सन्यासियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे और जिनका आचरण सीधा-सरल और पवित्र था। ऐसे रहन-सहन के कारण पहले इनकी निन्दा भी हुई, किन्तु इसकी परवाह न करते हुए इस पहरावे को इन्होंने एक विशिष्ट प्रकार का रूप दे दिया। सूफी शब्द मूलत: अरब और ईराक के उन व्यक्तियों को सूचित करता है, जो मोटे ऊनी वस्त्रों का चोगा पहनते थे। इनका विरक्तों और सन्यासियों जैसा साधनापूर्ण जीवन था और कदाचित इसी कारण ये लोग मुसलिमों की अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे।''[2]

जिस प्रकार ''सूफी'' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में विभिन्न मत हैं, उसी प्रकार इसके उद्भव और विकास के बारे में भी विद्वानों में मतभिन्नता है। सूफियों के मतानुसार तो सूफीवाद अत्यन्त प्राचीन है और इसके प्रवर्तक स्वयं ''आदम'' थे। कुछ सूफी हजरत मोहम्मद साहब को इसका प्रतिपादक मानते हैं। सरदार इकबाल अली शाह ने अपनी पुस्तक - ''इस्लामिक सूफिज्म'' में लिखा है कि - ''संभवत: मुहम्मद साहब की मृत्यु के लगभग दो सौ वर्षों के पश्चात् ''सूफी'' शब्द में सत्ता आयी, क्योंकि सूफी मत का पर्यायवाची शब्द ''तसब्बुफ'' 392 हिजरी में संग्रहित ''सित्तह में नहीं पाया जाता। सूफी शब्द का प्रयोग 861 ई. में अरबी लेखक वसरा के ''जाहिज'' द्वारा हुआ है। जामी के मतानुसार सूफी शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम 800 ई. से पूर्व ''फूफा'' के ''अबू हाशिम'' के लिए हुआ था, जो 788 ई. में विद्यमान था। ''अलकुशेरी के अनुसार'' यह शब्द हिजरी सन की दूसरी शताब्दी से पूर्व अर्थात् सन् 811 ई. में प्रकाश में आया। "Encyclopaedia of Religion and Ethics में लिखा है कि So far as the present writer is aware the first writer to use so word 'Sufi' is Zihaz of Basra (A.D. 869)"[3]

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में एक बात स्पष्ट होती है कि सूफी शब्द का

प्रचलन 8 वी शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हो गया था। परन्तु इसमें जो भावना निहित है, वह उतनी ही प्राचीन है, जितना मानव का हृदय, क्योंकि सूफी भावना भी मानव में सदैव प्रस्फुटित रहस्य की जिज्ञासा का परिणाम है। विधि-विधानों का परित्याग कर इस विश्व की झलक को देखकर जिस रहस्य की अभिव्यक्ति मुसलिम साधकों ने की है, उन्हीं के सामंजस्य का नाम सूफी मत है। इस प्रकार यह मत एक रहस्यवाद है जो स्वतंत्र होते हुए भी मूल रूप से इसलाम से संबंधित है। यह अलग बात है कि यह रहस्यवाद सभी धर्मों के मूल में है, क्योंकि रहस्यवाद समस्त धर्मों से ऊपर है।

सिद्धान्त :

सूफियों में अनेक सम्प्रदाय प्रचलित हैं और उनके आध्यात्मिक सिद्धान्तों में न्यूनाधिक अन्तर भी है। परन्तु इस मत के जितने भी सम्प्रदाय हैं, वे सब यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर एक है, वह निर्विकार है। ईश्वर की प्राप्ति के लिए हृदय में प्रेम की पीर को उत्पन्न करना आवश्यक है। मनुष्य के भीतर स्थित स्थित उसका ''अहं'' जब पूर्णरुपेण नष्ट हो जाता है, तब उसकी साधना सफल हो जाती है। साधना की सफलता के पश्चात् साधक ईश्वर का आभास प्राप्त करने लगता है। जब उसे इस प्रकार का अलौकिक आभास होने लगता है, तब उसकी समस्त कामनाएँ और वासनाएँ लुप्त हो जाती हैं। जब कामनाओं और वासनाओं का समूल नाश हो जाता है, तब उसका अन्तर्बाह्य सर्वथा पावन हो जाता है और यही स्थिति उस ईश्वर को प्राप्त करने की होती है। साधक अल्लाह में मिल जाता है - उससे एकाकार हो जाता है। इस एकाकरण में जो प्रमुख साधन है, वह है - प्रेम।

सूफी मत के उपर्युक्त मूल सिद्धान्तों में समय-समय पर अन्य सिद्धान्त व दर्शन जुड़ते गये और इसी के आधार पर अनेक सम्प्रदाय भी बनते गये। सूफियों के ऐसे सैकड़ों सम्प्रदाय हैं, परन्तु ''आइने अकबरी'' में चौदह सम्प्रदायों का उल्लेख हुआ है। ये हैं - कादरी, सुहरावर्दी, नक्शबंदी, चिश्ती, हबीबी, तफूरी, करर्बी सकती, जुनैदी, काजरुनी, तूसी, फिरदौसी, जैदी, इयादी, अधर्मी और हुबेरी। इन सम्प्रदायों में से

कादरी, चिश्ती, सुहरावर्दी तथा मौलवी सम्प्रदाय अधिक महत्वपूर्ण रहे व लोकप्रिय हुए।''[4]

सूफी मत के जो मान्य सिद्धान्त हैं, उनमें गुरु का महत्व, ईश्वर की एकता, प्रेम की प्रधानता, हृदय की शुद्धता, जीव की श्रेष्ठता, कर्म पर विश्वास एवम् दैवीय प्रकाशन का चमत्कार आदि प्रमुख है।''[5]

भारत में सूफीमत का प्रारम्भ :

कुछ विद्वानों का मानना है कि भारत पर मोहम्मद बिन कासिम के आक्रमण के पूर्व ही सूफी मत का प्रचार यहां हो गया था, पर यहां सूफी सम्प्रदाय का वास्तविक प्रादुर्भाव - अबुल हसन हुज हुज्विरी (मृत्यु सन् 1129 ई.) उर्फ ''हजरतदातागंज के समय से हुआ। ये गजनी के मूल निवासी थे और एक बन्दी के रूप में लाहौर आये थे। इन्होंने बगदाद के किसी सूफी सन्त से ''सूफी मत'' की दीक्षा ली थी और अध्ययन - सत्संग के लिए देशाटन किया था। इन्होंने ''कश्फूल महजूब'' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इनकी मृत्यु लाहौर में हुई, जहां इनकी समाधि अब भी है।

संत दातागंज के उपरान्त ''बाबा फखरुद्दीन (दक्षिण भारत के ''पेन्नुकोंडा'' में) व सैयद मोहम्मद बन्दा नवाज आदि अनेक सूफी संतों ने भारत में अपने मत का प्रचार किया, पर इनका प्रभाव अधिक न रहा। बाद में कुछ संतों ने बाहर से आकर विभिन्न सम्प्रदायों जैसे - चिश्ती, सुहरावर्दी, कादरी आदि की स्थापना की। इन सम्प्रदायों में से भारत में चिश्ती सम्प्रदाय अत्यन्त लोकप्रिय हुआ जिसकी नींव मुईउद्दीन चिश्ती ने रखी थी। ये सन् 1143 ई. में सीस्टीन में उत्पन्न हुए थे, ख्वाजा उस्मान हसनी के शिष्य थे और मोहम्मद गौरी के भारत पर आक्रमण के कुछ समय पूर्व ही यहां आये थे। इनके प्रमुख शिष्य ''बाबा फरीद'' थे और इनके परम भक्त व प्रमुख शिष्य थे - निजामुद्दीन औलिया, जिन्होंने सात मुसलिम शासकों का शासन देखा था।''[6] खड़ी बोली के प्रथम कवि अमीर खुसरो इन्हीं निजामुद्दीन औलिया के परम शिष्य थे।

भारत में चिश्तिया सम्प्रदाय अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इस सम्प्रदाय के अनुयायी संगीत गोष्ठियों को विशेष महत्व देते थे, क्योंकि इनके विचार से संगीत ही प्रेमाग्नि को हृदय में प्रज्जवलित किये रहता है, और ईश्वर प्राप्ति में सहायक होता है। सम्राट अकबर ने इन्हीं की अनुकम्पा से संतान के रूप में सलीम को प्राप्त किया था - इनकी समाधि तक पैदल जाकर।

चिश्ती सम्प्रदाय ही नहीं, सुहरावर्दी सम्प्रदाय भी भारत में लोकप्रिय हुआ। इसका प्रभाव सिंध, पंजाब, गुजरात, हैदराबाद एवं बीजापुर के आसपास सर्वाधिक रहा। इस सम्प्रदाय में सैयद जलालुद्दीन सुर्खपोश, सईद जलाल, बुरहान अल्दीन कुतुबे आलम आदि प्रसिद्ध सूफी संत हुए हैं।

हिन्दी साहित्य और सूफी मत :

किसी भी सिद्धान्त के प्रचार-प्रसार में साहित्य का महत्वपूर्ण योगदान होता है। यद्यपि भारत में सूफी सम्प्रदाय का श्रीगणेश हो चुका था, पर वह अपेक्षित लोकप्रिय नहीं हो सका था। यह कार्य किया साहित्य ने। हिन्दी साहित्य में 'पद्मावत' - ऐसा प्रथम ग्रंथ था, जिसने प्रथम बार आम भारतीयों को सूफी मत के सम्बन्ध में परिचित कराया। जायसी ने अपने प्रबंध काव्य में भारतीय कथानकों और भारतीय भाव भूमि को ग्रहण किया और इसके परिप्रेक्ष्य में सूफी सिद्धान्तों का निरूपण किया - सहज व सरल रूप में।

जायसी की काव्य-भाषा ठेठ अवधी है। यह असंस्कृत है, मगर भाषा की स्वाभाविकता, सरसता और मनोभावों की प्रकाशनगत सामग्री के कारण, अवधी साहित्य क्षेत्र में जायसी की काव्य-भाषा मान्य की गयी है। मुसलमानों के भारत आगमन के पश्चात् उनके द्वारा किये गये अमानवीय व्यवहारों के कारण, हिन्दुओं के मन में घृणा के जो बीज पड़ गये थे और उनसे नफरत, द्वेष व संदेह के जो अंकुर निकल रहे थे, जायसी ने उन्हें समूल नष्ट करने का प्रयास किया, इसमें ये सफल भी हुए। हिन्दू मुसलमानों के

मध्य सांस्कृतिक समन्वय करने का श्रेय निःसंदेह जायसी को है। यद्यपि कबीर ने भी यह प्रयास किया है, परन्तु कबीर ने अपनी कठोर भाषा द्वारा डांटने-डपटने भर्त्सना करने और खरी-खरी सुनाने का काम अधिक किया। इनकी अपेक्षा जायसी का प्रयास पर्याप्त संतुलित और प्रभावी था।

हिन्दी साहित्य में सूफी काव्य परम्परा के उद्‌भव के संबंध में अभी भी स्थिति स्पष्ट नहीं है। सूफी काव्यों में अग्रगण्य 'पदमावत' में जायसी ने अपने पूर्ववर्ती कुछ प्रेम-काव्यों का उल्लेख किया है -

"विक्रम घंसा प्रेम के वारा। सपनावति कहँ गएउ पतारा।
मधू पाछ मुगुधावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी।
राजकुँवर कंचनपुर नयउ। मृगावही कहँ जोगी भयउ।
साधा कुँवर खंडावत जोगू। मधुमाल तिकर कीन्ह वियोगू।
प्रभावति कहँ सुरसरि साधा। ऊषा लागि अनिरुधि उर बांधा।"[7]

उक्त पद के अनुसार जायसी के पूर्व-स्वप्नावती मुग्धावती, खंडरावती, मधुमालती और प्रेमवती काव्यों का प्रणयन किया जा चुका था।

"उपलब्ध सूफी प्रेमाख्यानों के काल क्रमानुसार 'चन्दायन' (रचनाकाल सन् 1377 या 1379 ई.) हिन्दी का प्रथम सूफी काव्य है जिसके कवि हैं- मुल्ला दाउद, जो अलाउद्दीन खिलजी के समय हुए थे।"[8]

चन्दायन के उपरान्त हिन्दी में अनेक सूफी कवियों ने ग्रंथ लिखे। इनमें शेख कुतवन (मृगावती), रंजन (प्रेमवन जीव या प्रेमावती), मंझन (मधुमालती), मलिक मोहम्मद जायसी (पदमावत), उसमान (चित्रावली), जलालुद्दीन (जमाल पचीसी), जान (मधुकर मालती), शेख नवी (ज्ञानदीप) नूर मोहम्मद (अनुराग बांसुरी) आदि आदि प्रमुख हैं। इन सूफी कवियों का साहित्य अत्यन्त व्यापक है और इन कवियों की संख्या भी प्रायः एक सैकड़ा के आसपास है जो स्वयं स्वतंत्र शोध का विषय हो सकता है।

आदिकाल और मध्यकाल से लेकर 19 वीं शताब्दी तक सूफी कवियों के अतिरिक्त सैकड़ों मुसलमान कवि ऐसे हुए हैं जिन्होंने हिन्दू धर्म और हिन्दू देवी-देवताओं को वही आदर और सम्मान दिया, जो वे इसलाम को देते हैं। इस प्रकार उन्होंने साहित्य के द्वारा जनमानस को एक नया संदेश दिया - प्रेम का, भाईचारे का, मानवता का।

शोध प्रबंध की मौलिकता -

हिन्दी में हिन्दी कवियों पर तो इतना अधिक लिखा गया है और बराबर लिखा जा रहा है कि अब उसमें मौलिकता तलाश करना ही व्यर्थ है। हिन्दी के संवर्द्धन में मुसलमानों का भी पर्याप्त योगदान रहा है। भारत के धर्म, यहाँ की संस्कृति यहां की भाषा और यहां के जीवन को इन्होंने गहरे तक प्रभावित किया है और स्वयं गहरे तक प्रभावित हुए हैं। इनमें प्रासंगिक हैं वे मुसलमान कवि, जिन्होंने हिन्दी को ही नहीं, इस देश को भी बहुत कुछ दिया है। इतना अपार दिया है कि वह न तो समाप्त हुआ न हो रहा है और सृष्टि पर्यंत न होगा। रसखान का भक्ति-माधुर्य भला विस्मृत किया जा सकता है ? रहीम के नीति-दोहे कभी अप्रासंगिक हो सकते हैं ? - सृष्टिपर्यंत भी नहीं।

प्रस्तुत विषय पर मेरी दृष्टि में और जहां तक मेरी जानकारी है अभी तक कोई शोध कार्य हुआ नहीं। यदि हुआ भी होगा, तो उसमें बुन्देलखण्ड केन्द्र में न रहा होगा। इस विषय पर कार्य करने वालों की दृष्टि- जायसी, मंझन, कुतुवन, नूर-मोहम्मद, रहीम और रसखान तक ही सीमित रही होगी। बुन्देलखण्ड आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से भले ही पिछड़ा हो, परन्तु साहित्यिक व सांस्कृतिक वैभव की दृष्टि से यह अत्यधिक उन्नत है। यहां ऐसी अनेक विभूतियां हुई हैं, जिन्होंने मानवता के कल्याणार्थ अनेक स्तुत्य कार्य किये हैं। प्रस्तुत शोध-प्रबंध में ऐसे ही अविज्ञापित व अप्रचारित महान कवियों के अवदान को समझने का प्रयास किया गया है। उनके व्यक्तित्व व कृतित्व की श्रमपूर्वक तलाश की गयी है और उसे स्वल्पमति व मतानुसार सजाने-संवारने का लघु प्रयास किया गया है। इसीलिए मेरे मतानुसार प्रस्तुत शोध कार्य सर्वथा मौलिक कोटि

का है। यह कार्य किसी प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रंथ का न अनुवाद है, न किसी ग्रंथ की पूर्ण या खण्ड अनुकृति है और न ही प्रतिलिपि है। यद्यपि मैं हिन्दी के प्रसिद्ध व महान कवि रहीम-रसखान आदि को ग्रंथ में स्थान देने का लोभ संवरण नहीं कर सकी हूँ, तथापि यह उनके अवदान के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के लिए आवश्यक था।

शोध प्रबंध का औचित्य -

पूर्व के पृष्ठों में विस्तार से उल्लेख कर यह दर्शाया जा चुका है कि किस प्रकार भारत में मुसलमानों का प्रवेश हुआ, इसलाम के अनुयायियों ने इसलाम धर्म का प्रचार-प्रसार किया और कैसे हिन्दू-मुसलमानों के मध्य घृणा व संदेह के कारण उनके मध्य दूरियां व्यापक और घनी होती गयीं। इसके साथ ही इस बात के संकेत भी किये गये हैं कि सूफी मत का उद्भव व विकास कहां और कैसे आया तथा भारत में प्रवेश कर इन संतों ने कैसे हिन्दू मुसलमानों को नजदीक लाने का प्रयास किया। दोनों की दूरियां इन संतों के प्रयासों से सिकुड़ने तो लगी थीं, पर अभी भी सांस्कृतिक सम्मिलन दूर-सुदूर था। इस सांस्कृतिक समन्वय का कार्य किया - सूफी कवियों ने और इस कार्य को अंतिम लक्ष्य तक पहुँचाया - मुसलमान कवियों ने। इन मुसलमान कवियों की सरस व निश्छल काव्य-वाणी का सार्थक परिणाम निकला और दोनों समुदायों की दूरियां कम होने लगीं। दोनों समुदाय ईद व दीवाली साथ-साथ मनाने की बातें करने लगे। संदेह के बादल छँटने लगे। घृणा की दीवारें ढहने लगीं और मानवता की कराहें पुनः मुसकराहटों में परिवर्तित होने लगीं।

आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने साहित्य के महत्व पर प्रकाश डालते हुए लिखा था कि "जो शक्ति साहित्य में होती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं।" मानव-मानव के दिलों को पास लाने में आदिकाल और मध्यकाल की तलवारें काम नहीं आयीं, इनकी धार मोंथरी हो गयी। कुंठित हो गयी इनकी मूठें। सूफी और मुसलमान कवियों की वाणी ही थी, जो हिन्दू मुसलमानों को एक दूसरे के गले से लगवा सकी।

आज भी परिस्थितियां लगभग वैसी ही बन रही हैं। कश्मीर में पाकिस्तान द्वारा 'जेहाद' के नाम पर आतंकवाद में वृद्धि और निर्दोष नागरिकों का रक्त बहना, बावरी मसजिद के ढांचे का ढहना और प्रतिक्रिया स्वरूप बम्बई में बम काण्ड और सारे देश में साम्प्रदायिक दंगे होना, मथुरा की जन्मभूमि, काशी का विश्वनाथ मंदिर, धार की भोजशाला का विवाद, गुजरात के अक्षरधाम मंदिर पर आतंकियों का हमला, गोधरा काण्ड, वेस्ट बेकरी काण्ड, गौवध-प्रकरण आदि-आदि इतने अधिक काण्ड ऐसे हैं जिनसे देश की एकता और अखण्डता को खतरे में डाल दिया है। आज सूचना व संचार प्रौद्योगिकी इतनी सशक्त हो गयी है कि विश्व संकुचित होकर बीस इंच के एक डिब्बे में आ बैठा है (टेलीविजन)। फिर भी ये घटनाएँ बढ़ती ही जा रही हैं। भारत में दिनोंदिन नासूर की भांति बढ़ने वाला यह धार्मिक उन्माद मानवता के स्वास्थ्य के लिए चिंताजनक है। इसे समय रहते रोकना ही होगा। यह काम राजसत्ता और सूचना माध्यमों के विकसित स्वरूप द्वारा संभव ही नहीं है। यदि इनकी सामर्थ्य होती तो ये घटनाएँ देश में होती ही क्यों ?

प्राचीन संतों और कवियों की अमृत-वाणियाँ ही देश में साम्प्रदायिक सद्भाव की स्थायी स्थापना करने में सक्षम हैं। मुसलमान कवियों ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किये हैं और उनका सार्थक परिणाम भी प्राप्त हुआ है। इन प्रचारित-अप्रचारित, विज्ञापित-अविज्ञापित मुसलिम कवियों के कृतित्व व व्यक्तित्व को यदि शोध के माध्यम से जनता के सम्मुख प्रस्तुत किया जाय तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि साम्प्रदायिक कट्टरपन के विष-वृक्ष को समूल नष्ट होने में कोई देर न लगेगी। बुन्देलखण्ड में ऐसे अनेक मुसलमान कवि हुए हैं, जिन्होंने विज्ञापन से दूर रहकर साहित्य-साधना की है और उनकी ईमानदार शब्द-शक्ति का जनता पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

ऐसे कवियों के जन-कल्याणकारी काव्य को जन-जन तक पहुंचाना और उनमें धार्मिक सद्भाव, परस्पर प्रेम, सौहार्द्र और भ्रातृत्व की भावना को जागृत करना ही प्रस्तुत शोध प्रबंध का उद्देश्य है और यही औचित्य है।

बुन्देलखण्ड की 'बुन्देली' : बोली या भाषा -

जिस क्षेत्र के कवियों की काव्य-साधना पर प्रस्तुत शोध प्रबंध में विचार किया जा रहा है, यह आवश्यक है कि उस क्षेत्र की संस्कृति एवं भाषा के स्वरूप को परखा जाय। संस्कृति के संबंध में आगामी अध्याय में प्रकाश डाला जाएगा। बुन्देलखण्ड में व्यवहृत भाषायी दृष्टिकोण को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जाएगा।

बुन्देलखण्ड की भौगोलिक और राजनैतिक सीमा समय-समय पर भले ही परिवर्तित होती रही हो, परन्तु इसका आंतरिक स्वरूप प्रायः अपरिवर्तित रहा है। यही आंतरिक स्वरूप बुन्देलखण्ड की संस्कृति है और मानवीय भावों की संवाहिका - भाषा - इस संस्कृति का एक तत्त्व है। सामान्य तौर पर बुन्देलखण्ड क्षेत्र में बोली जाने वाली भाषा - 'बुन्देली' है। बुन्देली कभी सीमित क्षेत्र की 'बोली' होगी, परन्तु इसमें लिखित विपुल साहित्य को देखकर बुन्देली को 'भाषा' का अधिकार देना अधिक समीचीन होगा - ब्रज की ही भांति। ब्रज भी अपने विपुल साहित्य के कारण बोली से भाषा बनी थी।

बुन्देली का जो रूप आज है, पूर्व में नहीं था। बुन्देली के आदि कवि के रूप में विष्णुदास को विद्वानों ने मान्यता दी है। इनके ग्रंथों - रामायणी कथा और महाभारत कथा में बुन्देली का प्रारंभिक रूप प्राप्त होता है। विष्णुदास का समय सन् 1435 के आसपास का है अतः यह निश्चित है कि इस समय तक बुन्देली अपना आकार ग्रहण करने लगी थी।

बुन्देली, भाषाविदों की दृष्टि से शौरसेनी से बनी है, लेकिन कुछ और प्रभाव भी उस पर हैं। डॉ. हरदेव बाहरी के अनुसार ''प्राकृत के उत्तरवृति रूप से आधुनिक आर्य भाषाओं का उद्‌भव हुआ है। पश्चिमी हिन्दी का विकास उत्तर मध्यकालीन शौर्यसैनी प्राकृत से माना जाता है और निर्माण काल में उस पर आभीरी, टंक और पैशाची का प्रभाव है।''[9] ''डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी तो आचार्य हेमचन्द्र से सहमत होते हुए ग्राम्य अपभ्रंश्य से ही आधुनिक देशी भाषाओं का विकास मानते हैं।''[10]

''डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार- कवि बब्बर, जो कलचुरी नरेश कर्ण (1041-1072 ई.) का समकालीन था, जिसकी रचनायें प्राकृत पेंगलम् में मिलती हैं, की भाषा को बुंदेलखण्डी से प्रमाणित माना है।''[11] 17वीं-18वीं शताब्दी तक आते-आते बुन्देली की जो धारा विकसित रूप धारण करती है, वह आरम्भ में ग्वालियरी, कन्नौजी और ब्रज के साथ मिलकर परवान चढ़ती है।चन्देल नरेश महाराज गण्ड देव की बुन्देली में रचित कविता का ऐतिहासिक उल्लेख है। 1023 ई. से बुन्देली में साहित्यिक रचना के प्रमाण मिलना यह संकेत देता है कि बोली के रूप में 9 वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही बुन्देली का प्रादुर्भाव हो गया होगा। तात्पर्य यह है कि अन्य लोक भाषाओं से लोक संस्कृति की गतिशीलता के कारण बुन्देली में निरंतर कुछ न कुछ परिवर्तन होते रहे हैं। लोक भाषा इन परिवर्तित सामाजिक, राजनैतिक, और सांस्कृतिक स्वरूपों की सतत साक्षी होती है। विलियम् केरे ने 1793 ई. में भारतीय भाषा सर्वेक्षण में जिन 33 भारतीय भाषाओं की सूची प्रस्तुत की थी उसमें बुन्देलखण्डी का नमूना दिया गया है। उनके बाद जॉर्ज ग्रियर्सन ने बुन्देली के क्षेत्र और प्रभावों के आधार पर उसकी सीमायें निर्धारित की हैं। उनके अनुसार ''बुन्देली भाषा का क्षेत्र बुन्देलखण्ड के राजनैतिक क्षेत्र से मिलता जुलता नहीं है। वह चम्बल के उस पार आगरा, मैनपुरी, इटावा के दक्षिणी हिस्सों पश्चिम में पूर्वी ग्वालियर तथा दक्षिण में सागर, दमोह को छूते हुए भोपाल के पूर्वी भागों - नर्मदा के दक्षिण में नरसिंहपुर, होशंगाबाद, सिवनी, बालाघाट, छिंदवाड़ा जिलों तक फैला है। ग्रियर्सन के इस भाषा-सीमा-निर्धारण को श्री कृष्णानन्द गुप्त[12] ने स्वीकार किया है जबकि श्री रामेश्वर अग्रवाल[13] ने इसमें मुरैना, शिवपुरी, गुना, और बैतूल को सम्मिलित किया है।''

यह तथ्य बहुत महत्वपूर्ण और उल्लेखनीय है कि अपने लोक साहित्यिक और सांस्कृतिक स्वरूप के कारण बुन्देली लोक साहित्य समकालीन प्रभावों को विधिवत् ग्रहण करता और उन्हें निष्कर्ष तक ले जाता रहा है। बुन्देली के काव्य का अध्ययन करने से हमारी इस धारणा की पुष्टि हो जाती है। बुन्देली साहित्य वीरता और प्रेम का साहित्य

है। काव्य विषयक समकालीन आन्दोलनों की हमें जो रूपरेखा उपलब्ध होती है, वह ब्रज के साथ उसके स्वरूप से आरम्भ होकर भारतीय स्वतंत्रता आन्दोलन तक विस्तृत है। कालान्तर में ओरछा और पन्ना बहुत महत्वपूर्ण सत्ता केन्द्र स्वीकृत होते हैं और मध्यकालीन राजनीतिक सम्पर्क भाषा के रूप में बुन्देली को प्रतिष्ठित करते हैं। अगर हम काल विभाजन पर विचार करें तो बुन्देली की वाचिक परम्परा 1000 ईस्वी तक पहुँचती हुई डेढ़ दो सौ वर्षों के बीच में लोक भाषा में लोक गीतों की मौखिक परम्परा दिखाई देती है। 14 वीं 1857 ईस्वी तक जो बुन्देली संस्कृति और लोक कलाओं की परम्परा हमें प्राप्त होती है, वह घोर श्रृंगारपरक लोक गीतों, ऋतुपरक लोक गीतों, वीररस और युद्धपरक लोक गाथाओं को समेटकर चलती है जो 1857 के आते-आते भारत के प्रथम स्वतन्त्रता संग्राम में संघर्ष के लिए तैयार लोगों को उत्साहित करती है। यह अपनी रंगारंग छवियों के चलते न केवल हमें आकर्षित करती है बल्कि रचना के स्तर को जाति धर्म और अन्य प्रभावों को परे ढकेलती हुई एक सर्व स्वीकृत स्वरूप प्राप्त करती है। यह स्वरूप रचना में अपनी सम्पन्न भावुक छवि प्रस्तुत करता है। यही रचनागत् भावुकता मुस्लिम भक्त कवियों की सक्रियता का कारण बनती है और रहीम, रसखान तथा ताज बेगम जैसे भावुक रचनाकर्मियों की श्रृंखला को आगे बढ़ाती है।

मैं यहाँ यह निवेदन करना चाहूंगी कि लगभग सभी लोक भाषाओं में यह प्रभाव दिखाई देता है। आदिकाल की चर्चा करने के पूर्व मैं यह निवेदन करना चाहूँगी कि जब बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल हिन्दी के काल विभाजन पर आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास लिख रहे थे और वीरगाथा काल अथवा चारण काल जैसी पताकायें फहरा रहे थे। तब संचार माध्यम आज जैसे समृद्ध नहीं थे। इसलिए हिन्दी साहित्य के इतिहास के महत्वपूर्ण कार्य में कुछ न कुछ छूट गया लगता है और आगे हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. नगेन्द्र, कृष्ण बिहारी मिश्र, नन्ददुलारे वाजपेयी, भगीरथ मिश्र, रामकुमार वर्मा तथा बच्चन सिंह तक हिन्दी साहित्य के इतिहास का लेखन और पुनर्लेखन प्राप्त होता है।

आदिकाल से आधुनिक काल तक के काव्य का अध्ययन -

आदिकाल के नामकरण के सम्बंध में विद्वानों में मत वैषम्य है। उक्त काल के सम्बन्ध में सर्वाधिक विवाद रहा है। विद्वानों ने इसे वीरगाथा काल, चारण काल, सन्धिकाल तथा सिद्ध-सामन्त युग आदि अनेक नाम दिये हैं। प्रश्न यह है कि इन सबमें कौन सा नाम सर्वाधिक उपयुक्त है ? इस सन्दर्भ में, इस विषय पर विचार कर लेना आवश्यक है।

मिश्र बन्धुओं - ने अपने ''मिश्रबन्धु विनोद में हिन्दी साहित्य के इतिहास के इस काल को आदिकाल या 'रासो काल' नामकरण किया। आदिकाल की सार्थकता तो प्रतीत होती है, किन्तु ''रासोकाल'' नाम असंगत् प्रतीत होता है। मिश्रवन्धुओं ने इस काल में रासो ग्रन्थों की प्रधानता स्वीकार की है।''[14]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल - ने वीरगाथा - रचनाओं की प्रमुखता को देखते हुए इस युग को ''वीरगाथा काल'' के नाम से अमिहित किया है। उन्होंने लिखा है - ''इस संक्षिप्त सामग्री को लेकर जो थोड़ा-बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना होता है।''[15] प्राकृत की अंतिम-अपभ्रंश अवस्था से ही हिन्दी साहित्य का आविर्भाव माना जाता है। उस समय जैसे ''गाथा'' कहने से प्राकृत का बोध होता था, वैसे ही ''दोहा'' या दूहा कहने से अपभ्रंश या प्रचलित काव्यभाषा का पद्य समझा जाता था। डा. चन्द्रधर शर्मा गुलेरी तथा धीरेन्द्र वर्मा - ने इसे अपभ्रंश काल कहा है। यह नाम अपभ्रंश भाषा के नाम पर दिया गया है। अपभ्रंश अपने में एक सर्वथा स्वतन्त्र भाषा है। अत: इस नाम का औचित्य नही। अपभ्रंश या प्राकृतभाषा: हिन्दी के पद्यों का सबसे पुराना पता तांत्रिक और योगमार्गी बौद्धों की सांप्रदायिक रचनाओं के भीतर विक्रम की सातवीं शताव्दी के अंतिम चरण में लगता है। मुंज और मोज के समय (संवत् 1050) के लगभग तो ऐसी अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी का पूरा प्रचार सिद्ध साहित्य या काव्य रचनाओं में भी पाया जाता है। अत: हिन्दी साहित्य का आदिकाल संवत्

1050 से लेकर संवत् 1375 तक अर्थात् महाराज भोज के समय से लेकर हम्मीरदेव के समय के पीछे तक माना जाता है ।[15]

आदिकाल की इस दीर्घ परंपरा के बीच डेढ़ सौ वर्ष के भीतर तो रचना की किसी विशेष प्रवृत्ति का निश्चय नही होता है । धर्म, नीति, श्रृंगार, वीर सब प्रकार की रचनाएँ दोहों में मिलती हैं । इस अनिर्दिष्ट लोक प्रवृत्ति के उपरांत जब मुसलमानों की चढ़ाइयों का प्रारंभ होता है, तब से हिन्दी साहित्य की प्रवृत्ति एक विशेष रूप में बँधती हुई परिलक्षित होती है ।

दूसरी बात आदिकाल के संबंध में ध्यान देने की यह है कि, इस काल के जो साहित्यिक सामग्री प्राप्त है, उसमें कुछ तो असंदिग्ध है और कुछ संदिग्ध है । असंदिग्ध सामग्री जो कुछ प्राप्त है उसकी भाषा अपभ्रंश अर्थात् प्राकृतामास (प्राकृत की रूढ़ियों में बहुत कुछ बद्ध) हिन्दी है ।''[16] डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि - इसी ''ग्राम्य'' अपभ्रंश से ही आधुनिक देशी भाषाओं का विकास हुआ है ।

अपभ्रंश के जो नमूने हमें पद्यों में मिलते हैं, वे उस काव्यभाषा के हैं, जो अपने पुरानेपन के कारण, बोलने की भाषा से कुछ अलग, बहुत दिनों तक, आदिकाल के अंत क्या, उसके कुछ पीछे तक पोथियों में चलती रही । विक्रम की चौदहवीं शताब्दी के मध्य में पुरानी परंपरा के कवि संभवत: शारंगधर - हम्मीर की वीरता का वर्णन ऐसी भाषा में कर रहे थे -

चलिअ वीर हम्मीर पाअमर भंइणि कंपई ।
दिगमग वह अंधार धूलि सुररह आच्दाइहि ॥

दूसरी ओर मियां अमीर खुसरो दिल्ली में वैठे ऐसी बोलचाल की भाषा में पहेलियाँ और मुकरियाँ कह रहे थे - ''एक नार ने अचरज किया । साँप मार पिंजरे में दिया ।''

इसी प्रकार 15 वीं शताब्दी में एक ओर तो विद्यापति बोलचाल की मैथिली

के अतिरिक्त इस प्रकार की प्राकृताभास पुरानी काव्यभाषा भी मानते रहे -

बालचन्द विज्जावइ भाषा। दुहु नहिं लग्गइ दुज्जन हासा ।।

और दूसरी ओर कबीरदास अपनी अटपटी बानी इस बोली में सुना रहे थे -

अगिन जो लागी नीर में, कंदो जलिया झारि।
उतर दक्षिण के पंडिता रहे बिचारि बिचारि ।।

सारांश यह है कि अपभ्रंश की यह परंपरा विक्रम की 15 वीं शताब्दी के मध्य तक चलती रही।[17] विद्यापति ने दो प्रकार की भाषा व्यवहृत की है - पुरानी अपभ्रंश भाषा और बोलचाल की देशी भाषा। इन दोनों भाषाओं का भेद विद्यापति ने स्पष्ट रूप से सूचित किया है -

देसिल बअना सब जन मिट्ठा। तें तैंसन जंपओ अवहट्ठा ।।

विद्यापति ने अपभ्रंश से भिन्न, प्रचलित बोलचाल की भाषा को ''देशी भाषा'' कहा है। अतः हम भी इसी अर्थ में इस शब्द का प्रयोग कहीं कहीं आवश्यकतानुसार करेंगे। इस आदिकाल के प्रकरण में पहले हम अपभ्रंश की रचनाओं का संक्षिप्त उल्लेख करके तब देशी भाषाओं का उल्लेख करेगें।

जब से प्राकृत, बोलचाल की भाषा नहीं रह गई, तभी से अपभ्रंश साहित्य का आविर्भाव समझना चाहिए। पहले जैसे ''गाथा'' कहने से प्राकृत का बोध होता था, वैसे ही पीछे ''दोहा'' या ''दूहा'' कहने से अपभ्रंश या लोकप्रचलित काव्यभाषा का बोध होने लगा।

भरत मुनि (विक्रम की तीसरी शती) ने ''अपभ्रंश'' नाम न देकर लोकभाषा को ''देशभाषा'' ही कहा है। वररुचि के ''प्राकृत प्रकाश'' में भी अपभ्रंश का उल्लेख नहीं है। अपभ्रंश नाम पहले पहल बलभी के राजा धारसेन द्वितीय के शिलालेख में मिलता है, जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन (वि.सं. 650 के पहले) को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का कवि कहा है।

संवत् 990 में देवसेन[18] नामक एक जैन ग्रंथकार हुए हैं। उन्होंने भी ''श्रावकाचार'' नाम की एक पुस्तक दोहों में बनाई थी, जिसकी भाषा अपभ्रंश का अधिक प्रचलित रूप लिये है, जैसे -

जो जिण सासण भाषियऊ सो मइ कहियउ सारू।

जो पालइ सइ माउ करि सो सरि पावइ पारू।।

इन्हीं देवसेन ने ''दब्ब-सहाव-पयास'' (द्रव्य-स्वभाव प्रकाश) नामक एक और ग्रंथ दोहों में बनाया था, जिसका पीछे से माइल धवन ने ''गाथा'' या साहित्य की प्राकृत में रूपांतर किया। पीछे त्रिपिटकाचार्य राहुल[19] सांकृत्यायन जीभोट देश में जाकर सिद्धों की और बहुत सी रचनाएँ लाये। सिद्धों में सबसे पुराने ''सरह'' (सरोजवज्र भी नाम है) का काल डाक्टर विनयतोष भट्टाचार्य ने विक्रम संवत् 610 निश्चित किया है। उनकी रचना के कुछ नमूने नीचे दिए जाते हैं -

अंतस्साधना पर जोर और पंडितों को फटकार -

पंडिअ सअल सप्त बक्खाढाइ / देहहि रूद्ध बसंत न जाणइ।

आमणागमण ण तेन विखंडिअ/तोवि गिलज्जइ भढाइ हउँ पंडिअ।।

रहस्यावादियों की सार्वभौमिक प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानियों के सांकेतिक दूसरे अर्थ भी बताया करते थे, जैसे -

काआ तरल्वर पंच बिड़ाल

(पंच विड़ाल - बौद्ध शास्त्र में निरूपित पंच प्रतिबंध - आलस्य, हिंसा, काम, चिकित्सा औार मोह। ध्यान देने की वात यह है कि विकारो की यह पाँच संख्या निर्गुण धारा के संतों और हिंदी के सूफी कवियों ने ली है। हिन्दू शास्त्रों में विकारों की बंधी संख्या 6 है।)

गंगा जउनाँ माझे बहइ रे नाई।

(-इला पिंगला के बीच सुषुम्ना नाड़ी के मार्ग से शून्य देश की ओर यात्रा) इसी से वे अपनी बानियों की भाषा को संध्या भाषा कहते थे।)

गोरखनाथ के समय का ठीक पता नही है। राहुल सांकृत्यायन जी ने बज्रयानी सिद्धों की परंपरा के बीच उनका जो स्थान रखा है, उसके अनुसार उनका समय विक्रम की दसवीं शताब्दी आता है। उनका आधार बज्रयानी सिद्धों की एक पुस्तक ''रत्नाकर जोवम कथा'' है, जिसके अनुसार मीननाथ के पुत्र मत्स्येन्द्रनाथ कामरूप के मछवारे थे और चर्पदीपा के शिष्य होकर सिद्ध हुए थे। पर सिद्धों की अपनी सूची में सांकृत्यायन जी ने ही मत्स्येंन्द्र को जलंधर का शिष्य लिखा है, जो परंपरा से प्रसिद्ध चला आता है। संदेह यह देखकर और भी होता है कि सिद्धों की नामावली में और सब सिद्धों की जाति और देश का उल्लेख है, पर गोरक्ष और चौरंगी का कोई विवरण नहीं। अत: गोरखनाथ का समय निश्चित रूप से विक्रम की 10 वीं शताब्दी मानते नहीं बनता।[20]

महाराष्ट्र के संत ज्ञानदेव ने, जो अलाउद्दीन के समय (संवत् 1358) में थे, अपने को गोरखनाथ की शिष्य परंपरा में कहा है। उन्होंने यह परंपरा इस क्रम से बताई है - आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, गोरखनाथ, गैनीनाथ, निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर।

इतिहास से इस बात का पता लगता है कि महमूद गजनवी के भी कुछ पहले सिंध और मुलतान में भी कुछ मुसलमान बस गये थे जिनमें कुछ सूफी भी थे। बहुत से सूफियों ने भारतीय योगियों से प्राणायाम आदि की क्रियाएँ भी सीखी थीं, इसका उल्लेख मिलता है। अत: गोरखनाथ चाहे विक्रम की 10 वीं शताब्दी में हुए हों, चाहे 13 वीं में, उनका मुसलमानों से परिचित होना अच्छी तरह माना जा सकता है, क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, उन्होंने अपने पंथ का प्रचार पंजाब और राजपूताने की ओर किया।

ऊपर कहा जा चुका है कि गोरखनाथ की हठयोग साधना ईश्वरवाद को लेकर चली थी अत: उसमें मुसलमानों के लिए भी आकर्षण था। ईश्वर से मिलाने वाला योग हिंदुओं और मुसलमानों दोनों के लिए एक सामान्य साधना के रथ में आगे

रखा जा सकता है, यह बात गोरखनाथ को दिखाई पड़ी थी। उसमें मुसलमानों को अप्रिय मूर्तिपूजा और बहुदेवोपासना की आवश्यकता न थी। अतः उन्होंने दोनों के विद्वेषभाव को दूर करके साधना का एक सामान्य मार्ग निकालने की संभावना समझी थी और वे उसका संस्कार अपनी शिष्य परंपरा में छोड़ गये थे।

''नाद'' और ''बिन्दु'' के योग से जगत् की उत्पत्ति सिद्ध और हठयोगी दोनों मानते थे। तीर्थाटन के संबंध में जो भाव सिद्धों का था, वही हठयोगियों का भी रहा। ''चित शोधन प्रकरण'' में बज्रयानी सिद्ध आर्यदेव (कर्णरीपा) का वचन है -

प्रतरन्नपि गंगाया नैव श्वा शुद्धमर्हति।
तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्थानं निष्फलम्॥
धर्मो यदि भवेत् स्नानात् कैवर्त्तानांकृतार्थता।
नक्तं दिवं प्रविष्टानां मत्स्यादीनां तु का कथा॥

जनता के बीच इस प्रकार के प्रभाव क्रमशः ऐसे गीतों के रथ में निर्गुणपंथी संतों द्वारा आगे भी बराबर फैल रहे है, जैसे -

गंगा के नहाये कहो को नर तरिगे, मछरी
न तरी जाको पानी में घर है।

यहाँ पर यह बात ध्यान में रखना आवश्यक है कि सिद्धों में बहुत से मछुए, चमार, धोबी, डोम, कहार लकड़हारे, दरजी तथा बहुत से शूद्र कहे जाने वाले लोग थे। अतः जाति पांति के खंडन तो वे आप ही थे। नाथ संप्रदाय भी जब फैला, तब उसमें भी जनता की नीची और अशिक्षित श्रेणियों के वहुत से लोग आये, जो शास्त्र ज्ञान सम्पन्न न थे, जिनकी बुद्धि का विकास बहुत सामान्य कोटि का था।

देशभाषा में लिखी गोरखपंथ की पुस्तकें गद्य और पद्य दोनों में हैं और विक्रम संवत् 1400 के आसपास की रचनाएँ हैं। इनमें साम्प्रदायिक शिक्षाएँ हैं। जो पुस्तकें पाई गई हैं उनके नाम हैं :- गोरख-गणेश-गोष्ठी, महादेव-गोरख-संवाद,

गोरखनाथ जी की सत्रह कला, गोरखबोध, दत्त-गोरख-संवाद, योगेश्वरी साखी, विराट पुराण, गोरखसार, गोरखनाथ की नानी। ये सब ग्रंथ गोरख के नहीं, उनके अनुयायी शिष्यों द्वारा रचे गये हैं। गोरख के समय में जो भाषा लिखने पढ़ने में व्यवहृत होती थी, उसमें प्राकृत या अपभ्रंश शब्दों का थोड़ा बहुत मेल अवश्य रहता था।

(1) पहली बात है भाषा। सिद्धों की उद्धृत रचनाओं की भाषा देशभाषा मिश्रित अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी की काव्य भाषा है, यह तो स्पष्ट है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्यभाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताने और ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की शिष्ट भाषा थी।

(2) दूसरी बात है - साम्प्रदायिक प्रवृत्ति और उसके संस्कारों की परंपरा। ब्रजयानी सिद्धों ने निम्न श्रेणी की प्राय: शिक्षित जनता के बीच किस प्रकार के भावों के लिए जगह निकाली, यह दिखाया जा चुका है। उन्होंने बाल पूजा, जाति पूजा, तीर्थाटन इत्यादि के प्रति उपेक्षा बुद्धि का प्रचार किया। कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार 'साखी' और 'बानी' के लिए बहुत कुछ सामग्री और 'सधुक्कड़ी' भाषा भी।[21] गुजरात के सोलंकी राजा सिद्धराज जयसिंह (संवत् 1150-1199) और उनके भतीजे कुमार पाल (सं. 1199-1230) के यहाँ हेमचन्द्र का बड़ा मान था। ये अपने समय के सबसे प्रसिद्ध जैन आचार्य थे। इन्होंने एक व्याकरण ग्रंथ 'सिद्ध हेमचन्द्र शब्दानुशासन' सिद्धराज के समय में बनाया, जिसमें संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों का समावेश था। अपभ्रंश के उदाहरणों में इन्होंने पूरे दोहे या पद्य उद्धृत किये हैं, जिनमें से अधिकांश इनके समय से पहले के हैं। कुछ दोहे देखिए -

भल्ला हुआ जु मारिया बहिणि म्हारा कंतु।
लज्जेंज तु वयंसिअहु जइ भग्गा घरुएंतु।

(भला हुआ जो हमारा कंत मारा गया। हे बहिन। यदि वह भागा हुआ घर

आता तो मैं अपनी समवयस्काओं से लज्जित होती ।)

जे महु दिण्णा दिअडडा दइएँ पवसंतेण ।

ताण गणंतिए अंगुलिउँ जज्जरियाउ नहेण ।।

(जो दिन या अवधि दयित प्रिय ने प्रवास जाते हुए मुझे दिये थे, उन्हें नख से गिनते गिनते मेरी उंगलियाँ जर्जरित हो गई ।)

सोमप्रभ सूरी - ये भी एक जैन पंडित थे । इन्होंने संवत् 1291 में 'कुमारपाल प्रतिबोध' नामक एक गद्यपद्यमय संस्कृत-प्राकृत काव्य लिखा, जिसमें समय-समय पर हेमचंद्र द्वारा कुमारपाल को अनेक प्रकार के उपदेश दिये जाने की कथाएँ लिखी हैं ।[22]

जैनाचार्य मेरूतुंग - इन्होंने संवत् 1361 में 'प्रबंध चिंतामणि' नामक एक संस्कृत ग्रन्थ 'भोज प्रबंध' के ढंग का बनाया था, जिसमें बहुत से पुराने राजाओं के आख्यान् संग्रहीत किए गये थे । इन्हीं आख्यानों के अंतर्गत बीच-बीच में अपभ्रंश के पद्य भी उद्धृत हैं, जो बहुत पहले से चले आ रहे थे । कुछ दोहे तो राजा भोज के चाचा मुंज के कहे हुए हैं । मुंज के दोहे अपभ्रंश या पुरानी हिन्दी के बहुत ही पुराने नमूने कहे जा सकते हैं -[23]

झाली तुही किं न मुउ, किं न हुएउ हरपुंज ।

हिंदर दोरी बंधीयउ जिम मंकड़तिम मुंज ।।

(टूट पड़ी हुई आग से क्यों न मरा ? क्षारपुंज क्यों न हो गया ? जैसे डोरी में बँधा बंदर वैसे घूमता है भुंज ।)

विद्याधर - इस नाम के एक कवि ने कन्नौज के किसी राठौर सम्राट (शायद जयचंद) के प्रताप और पराक्रम का वर्णन किसी ग्रंथ में किया था । ग्रंथ का पता नही, पर कुछ पद्य 'प्राकृत पिंगल सूत्र' में मिलते हैं, जैसे -

मअ भज्जिअ वंगा भंगु कलिंगा तेलंगा रणमुक्ति चले ।

मरहट्ठा धिट्ठा लग्गिअ कट्ठा सोरट्ठा मअपाअ पले ।।

यदि विद्याधर को समसामयिक कवि माना जाय तो उसका समय विक्रम की 13 वीं शताब्दी में समझा जा सकता है ।

शारंगधर - इनका आयुर्वेद का ग्रंथ तो प्रसिद्ध है ही, ये अच्छे कवि सूत्रधार भी थे । इन्होने शारंगधर पद्धति के नाम से एक सुभाषित संग्रह भी बनाया है और अपना परिचय भी दिया है । हम्मीर देव संवत् 1357 में अलाउद्दीन की चढ़ाई में मारे गये थे । अत: शारंगधर के ग्रंथों का समय उक्त संवत् के कुछ पीछे अर्थात विक्रम की 14 वीं शताब्दी के अंतिम चरण में मानना चाहिए ।[24]

पअमर दरमऊ धरणि तरणि रह धुल्लिअ झंपिअ ।

कमठ पिठ्ठ टरपरिअ, मेरू मंदर सिर कंपिअ ।।

कोहे चलिअ, हम्मीर बीर डाअजुह संजुतें ।

किअउ कट्ठ हा कंद । मुच्छि के पत्ते ।।

अपभ्रंश की रचनाओं की परम्परा यहीं समाप्त होती है । यद्यपि पचास साठ वर्ष पीछे विद्यापति (संवत् 1460 में वर्तमान) में बीच बीच में देशभाषा के भी कुछ पद्य रचकर अपभ्रंश में छोटी-छोटी पुस्तकें लिखीं, पर उस समय तक अपभ्रंश का स्थान देशभाषा ले चुकी थी ।

अपभ्रंश के जो नये पुराने नमूने अब तक दिये जा चुके हैं, उनसे इस बात का ठीक अनुमान हो सकता है कि काव्यभाषा प्राकृत की रूढियों से कितनी बंधी हुई चलती रही । बोलचाल तक के तत्सम शब्दों का पूरा बहिष्कार उसमें पाया जाता है । 'उपकार', 'नगर' 'विद्या', 'वचन' ऐसे प्रचलित शब्द भी 'नअर' 'बिज्जा', 'बअण' बनाकर ही रखे जाते थे । जब ऐसे उदाहरण के साथ हम ऐसे उदाहरण भी पाते है, जिनमें विभक्तियों का ऐसा समानाधिकरण नही है, तव यह निश्चय हो जाता है कि उसका सन्निवेश पुरानी

परंपरा का पालन मात्र है। इस परंपरा पालन का निश्चय शब्दों की परीक्षा से अच्छी तरह हो जाता है।

ध्यान देने पर यह बात भी लक्षित होगी कि ज्यों ज्यों काव्य भाषा देश-भाषा की ओर अधिक प्रवृत्त होती गई त्यों त्यों तत्सम संस्कृत रखने में संकोच भी घटता गया। पहले कहा जा चुका है कि प्राकृत की रूढ़ियों से बहुत कुछ युक्त, भाषा के जो पुराने काव्य (जैसे बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो।) आजकल मिलते हैं, वे संदिग्ध हैं। इसी संदिग्ध सामग्री को लेकर थोड़ा बहुत विचार हो सकता है, उसी पर हमें संतोष करना पड़ता है।

इतना अनुमान तो किया ही जा सकता है कि प्राकृत पढ़े पंडित ही उस समय कविता नहीं करते थे। जनसाधारण की बोली में गीत, दोहे आदि प्रचलित चले आते होंगे, जिन्हें पंडित लोग गँवारू समझते रहे होंगे। ऐसी कविताएँ राज सभाओं तक भी पहुँच जाती रही होगी।

भारत के इतिहास में यह वह समय था कि मुसलमानों के हमले उत्तर-पश्चिम की ओर से लगातार होते रहते थे। इनके धक्के अधिकतर भारत के पश्चिमी प्रांत के निवासियों को सहने पड़ते थे, जहाँ हिन्दुओं के बड़े-बड़े राज्य प्रतिष्ठित थे। गुप्त साम्राज्य के धवस्त होने पर हर्षवर्धन (मृत्यु संवत् 704) के उपरांत भारत का पश्चिमी भाग ही भारतीय सभ्यता और बलवैभव का केन्द्र हो रहा था। कन्नौज, अजमेर, अन्हलवाड़ा आदि बड़ी बड़ी राजधानियाँ इधर ही प्रतिष्ठित थीं। उधर की भाषा ही शिष्ट भाषा मानी जाती थी और कवि-चारण आदि उसी भाषा में रचना करते थे। सारांश यह है कि जिस समय से हिन्दी साहित्य का अभ्युदय होता है, वह लड़ाई भिड़ाई का समय था, वीरता के गौरव का समय था। और सब बातें पड़ गई थीं। सामंर (अजमेर) का चौहान राजा दुर्लनराज द्वितीय मुसलमानों के साथ युद्ध में मारा गया था। अजमेर बसाने वाले अजयदेव ने मुसलमानों को परास्त किया था। अजयदेव के पुत्र अर्णोराज (आना) के समय में मुसलमानों की सेना फिर पुष्कर की घाटी लांघकर उस स्थान पर जा पहुँची जहाँ अब

आना सागर है। अर्णोराज ने उस सेना का संहार कर बड़ी भारी विजय प्राप्त की। वहां म्लेच्छ मुसलमानों का रक्त गिरा था इससे उस स्थान को अपवित्र मानकर वहां अर्णोराज ने एक बड़ा तालाब बनवाया था, जो 'आनासागर' कहलाया।

आना के पुत्र बीसलदेव (विग्रहराज चतुर्थ) के समय में वर्तमान किशनगढ़ राज्य तक मुसलमानों की सेना चढ़ आई जिसे परास्त कर बीसल देव आर्यावर्त्त से मुसलमानों को निकालने के लिए उत्तर की ओर बढ़ा। उसने दिल्ली और झाँसी के प्रदेश अपने राज्य में मिलाए और आर्यावर्त के एक बड़े भू-भाग से मुसलमानों को निकाल दिया। इस बात का उल्लेख दिल्ली में अशोक लेखवाले शिवालिक स्तंभ पर खुदे हुए बीसलदेव के वि.खं. 1220 के लेख से पाया जाता है। शहाबुद्दीन गौरी की पृथ्वीराज पर पहली चढ़ाई (सं. 1247) के पहले भी गौरी की सेना ने नाड़ौल पर धावा किया था, पर उसे हारकर लौटना पड़ा था।

राजा भोज की सभा में खड़े होकर राजा की दानशीलता का लंबा चौड़ा वर्णन करके लाखों रुपए पाने वाले कवियों का समय बीत चुका था। राजदरबारों में शास्त्रार्थों की वह धूम नही रह गई थी। पांडित्य के चमत्कार पर पुरस्कार का विधान भी ढीला पड़ गया था। उस समय तो जो भाट या चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रुकन्या-हरण आदि का अतिश्योक्तिपूर्ण आलाप करता या रणक्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगे भरा करता था, वही सम्मान पाता था।

वीरगाथा काल में काव्य के दोनों रूप प्राप्त होते हैं - प्रबंध काव्य और मुक्तक काव्य। फुटकल रचनाओं का विचार छोड़कर यहाँ वीरगाथात्मक प्रबंध काव्यों का ही उल्लेख किया जा रहा है। जैसे योरप में वीरगाथाओं का प्रसंग 'युद्ध और प्रेम' रहा, वैसे ही यहाँ भी वही वर्ण्य विषय था।

ये वीरगाथाएँ दो रूपों में मिलती हैं - प्रबंध काव्य के साहित्यिक रथ में और वीरगीतों (बैलाड्स) के रूप में। साहित्यिक प्रबंध के रूप में जो प्राचीन ग्रंथ उपलब्ध है, वह है- 'पृथ्वीराज रासो'। वीरगति के रूप में हमें सबसे पुराना ग्रंथ 'वीसलदेव

रासो' मिलती है, यद्यपि उसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास मिलता है।

खुमान रासो - संवत् 810 और 1000 के बीच में चित्तौड़ के रावल खुमान नाम के तीन राजा हुए हैं। कर्नल टाड ने इनको एक मानकर इनके युद्धों का विस्तार से वर्णन किया है। उनके वर्णन का सारांश यह है कि कालभोज (बारपा) के पीछे खुम्माण गद्दी पर बैठा, जिसका नाम मेवाड़ के इतिहास में प्रसिद्ध है और जिसके समय में बगदाद के खलीफा आलमामूँ ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की। कालभोज (बारपा) से लेकर तीसरे खुमान तक की वंश परंपरा इस प्रकार है- कालभोज (बारपा), खुम्माण, मप्रट, मर्तृपट्ट सिंह, खुम्माण (दूसरा), महायक खुम्माण (तीसरा)। कालभोज का समय वि.स. 611 से 810 तक है और तीसरे खुम्माण के उत्तराधिकारी मर्तृपट्ट (दूसरे) के समय के दो शिलालेख वि.सं. 999 और 1000 के मिले हैं।[25]

वीसलदेव रासो - नरपति नाल्ह कवि विग्रहराज चतुर्थ उपनाम वीसलदेव का समकालीन था। कदाचित् यह राजकवि था। इसने 'वीसलदेव रासो' नामक एक छोटा सा (100 पृष्ठों का) ग्रंथ लिखा है जो वीरगति के रूप में है। ग्रंथ का रचनाकाल इस प्रकार दिया है -

बारह सै बहोन्नरा मझारि। जैठबदी नवमी बुधवारि।
नाल्ह रसायण आरंभइ। सारदा तूठी वहाकुमारि।।[26]

यह घटनात्मक काव्य नहीं है, वर्णनात्मक है। इसमें दो ही घटनाएँ हैं - बीसलदेव का विवाह और उनका उड़ीसा जाना। इनमें से पहली बात तो कल्पना प्रसूत होती है। वीसलदेव से सौ वर्ष पहले ही धार के प्रसिद्ध परमार राजा भोज का देहांत हो चुका था। अत: उनकी कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह किसी पीछे के कवि की कल्पना ही प्रतीत होती है। उस समय मालवा में भोज नाम का कोई राजा नहीं था। वीसलदेव की एक परमार वंश की रानी थी, यह वात परंपरा से अवघ्य प्रसिद्ध चली आती थी, क्योंकि इसका उल्लेख पृथ्वीराज रासो में भी है। इसी बात को लेकर पुस्तक में भोज का नाम रखा हुआ जान पड़ता है। अथवा यह हो सकता है कि धार के परमारों

की उपाधि ही भोज रही है। उस आधार पर इन्हीं में से किसी की कन्या के साथ बीसलदेव का विवाह हुआ हो। पर 'नाल्ह' के इस वीसलदेव रासो में, जैसा कि होना चाहिए था, ना तो उक्त वीर राजा की ऐतिहासिक चढ़ाईयों का वर्णन है न उसके शौर्य पराक्रम का। श्रृंगार रस की दृष्टि से विवाह और रूठकर जाने का (प्रोषित पतिका के वर्णन के लिए) मनमाना वर्णन है। अत: इस छोटी सी पुस्तक को वीसलदेव ऐसे वीर का 'रासो' कहना खटकता है। पर जब हम देखते हैं कि यह कोई काव्य ग्रंथ नहीं है, केवल गामन के लिए इसे रचा गया था, तो बहुत कुछ समाधान हो जाता है। साहित्य की सामान्य भाषा 'हिन्दी' ही थी जो पिंगल भाषा कहलाती थी। वीसलदेव रासो में बीच-बीच में बराबर इस साहित्यिक भाषा (हिंदी) को मिलाने का प्रयत्न दिखाई पड़ता है। भाषा की प्राचीनता पर विचार करने के पहले यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि गाने की वस्तु होने के कारण इसकी भाषा में समयानुसार बहुत कुछ फेरबदल होता आया है।

चंदबरदाई (संवत् 1225-1249) में हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराज रासो हिंदी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अंतिम हिंदू सम्राट, महाराज पृथ्वीराज के सामंत और राजकवि के रूप में प्रसिद्ध हैं। इससे इनके नाम में भावुक हिंदुओं के लिए एक विशेष प्रकार का आकर्षण है। रासो के अनुसार - ये भट्ट जाति के जगात नामक गोत्र के थे। इनके पूर्वजों की भूमि पंजाब थी, जहाँ लाहौर में इनका जन्म हुआ था। इनका और महाराज पृथ्वीराज का जन्म एक ही दिन हुआ था और दोनों ने एक ही दिन यह संसार भी छोड़ा था।[27]

इस ग्रंथ के अनुसार पृथ्वीराज अजमेर के चौहान राजा सोमेश्वर के पुत्र और अर्णोराज के पौत्र थे। सोमेश्वर का विवाह दिल्ली के तुंवर (तोमर) राजा अनंगपाल की कन्या से हुआ। अनंगपाल की दो कन्याएँ थीं - सुन्दरी और कमला। सुन्दरी का विवाह कन्नौज के राजा विजयपाल के साथ हुआ और इस संयोग से जयचंद राठौर की उत्पत्ति हुई। दूसरी कन्या कमला का विवाह अजमेर के चौहान सोमेश्वर के साथ हुआ जिनके पुत्र पृथ्वीराज हुए।

संयोगिता का अनुराग पहले से ही पृथ्वीराज पर था अत: जब वह जयमाल लेकर रंगभूमि में आई तब उसने पृथ्वीराज की मूर्ति को ही माला पहना दी। इस पर जयचंद ने उसे घर से निकालकर गंगा किनारे के महल में भेज दिया। इधर पृथ्वीराज के सामंतों ने आकर यज्ञ विध्वंस किया। फिर पृथ्वीराज ने चुपचाप आकर संयोगिता से गांधर्व विवाह किया और अंत में वे उसका हरण कर ले गये।

यह तो पृथ्वीराज का मुख्य चरित्र हुआ। इसके अतिरिक्त बीच-बीच में बहुत से राजाओं के साथ पृथ्वीराज के युद्ध और अनेक राजकन्याओं के साथ विवाह की कथाएँ रासो में भरी पड़ी हैं।

चंद ने पृथ्वीराज का जन्मकाल संवत् 1115 में, दिल्ली गोद जाना - 1122 में, कन्नौज जाना - 1151 में और शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1158 में लिखा है। पर शिलालेखों और दानपत्रों में जो संवत् मिलते हैं, उनके अनुसार रासो में दिए हुए संवत् ठीक नही हैं।

इन संवतों से पृथ्वीराज का जो समय निश्चित होता है उसकी सम्यक् पुष्टि फारसी तवारीखों से भी हो जाती है। फारसी इतिहासकारों के अनुसार शहाबुद्दीन के साथ पृथ्वीराज का प्रथम युद्ध 587 हिजरी (वि.सं. 1248 ई. सन् 1191) में हुआ। अत: इन संवतों के ठीक होने में किसी प्रकार का संदेह नहीं।

महामहोपाध्याय पं. हरप्रसाद शास्त्री ने 1909 से 1913 तक राजपूताने में प्राचीन ऐतिहासिक काव्यों की खोज में तीन यात्रायें की थीं। उनका विवरण बंगाल की एशियाटिक सोसायटी ने छापा है। उस विवरण में 'पृथ्वीराजरासो' के विषय में बहुत कुछ लिखा है और कहा गया है कि कोई कोई तो चंद के पूर्व पुरुषों को मगध से आया हुआ बताते हैं पर पृथ्वीराजरासो में लिखा है कि चंद का जन्म लाहौर में हुआ था।[28]

भट्ट केदार, मधुकर कवि (संवत् 1224-1243) जिस प्रकार चंदबरदाई ने महाराज पृथ्वीराज को कीर्ति प्रदान की है, उसी प्रकार भट्टकेदार ने कन्नौज के सम्राट

जयचंद का गुण गाया है। रासो में चंद और भट्टकेदार के संवाद का एक स्थान पर उल्लेख भी है। भट्टकेदार ने 'जयचंद प्रकाश' नाम का एक महाकाव्य लिखा था, जिसमें महाराज जयचंद के प्रताप और पराक्रम का विस्तृत वर्णन था।[29]

इतिहासज्ञ इस बात को अच्छी तरह जानते हैं कि, विक्रम की तेरहवीं शताब्दी के आरंभ में उत्तर भारत के दो प्रधान साम्राज्य थे। एक तो था गहरवारों (राठौरो) का विशाल साम्राज्य जिसकी राजधानी कन्नौज थी और जिसके अंतर्गत प्राय: सारा मध्यप्रदेश, काशी से कन्नौज तक था। दूसरा चौहानों का जिसकी राजधानी दिल्ली थी और जिसके अंतर्गत दिल्ली से अजमेर तक का पश्चिमी प्रांत था। कहने की आवश्यकता नही है कि इन दोनों में गहरवारों का साम्राज्य अधिक विस्तृत, धन-धान्य-सम्पन्न और देश के प्रधान भाग पर था। बुन्देलखण्ड के चंदेल कन्नौज के पक्ष में दिल्ली के चौहान पृथ्वीराज से बराबर लड़ते रहे।

जगनिक (सं. 1230) ऐसा प्रसिद्ध है कि कालिजर के राजा परमार के यहाँ जगनिक नाम के एक भाट थे जिन्होंने महोवे के दो देश प्रसिद्ध वीरों - आल्हा और उद्दल (उदयसिंह) के वीरचरित का विस्तृत वर्णन एक वीरगीतात्यक काव्य के रथ में लिखा था। यह इतना सर्वप्रिय हुआ कि उसके वीर गीतों का प्रचार क्रमश: सारे उत्तरी भारत में विशेषत: उन सब प्रदेशों में जो कन्नौज साम्राज्य के अंतर्गत थे, - हो गया था। जगनिक के काव्य का आज कहीं पता नही है पर उसके आधार पर प्रचलित गीत हिन्दी भाषा भाषी प्रांतों के गाँव-गाँव में सुनाई पड़ते है :

> बारह बरिस लै कूकर जीऐ, औ तेरह लै जिऐं सियार।
> बरिस अठारह छत्री जीऐं, आगे जीवन को धिक्कार ।।[30]

इन गीतों के समुच्चय को सम्पूर्ण 'आल्हाखंड' कहते हैं, जिससे अनुमान होता है कि आल्हा संबंधी ये वीरगीत जगनिक के रचे उस बड़े काव्य के एक खंड के अंतर्गत थे, जो चंदेलों की वीरता के वर्णन में लिखा गया होगा। इन गीतों का संग्रह

'आल्हखंड' के नाम से छपा है। फर्रूखाबाद के तत्कालीन कलेक्टर मि. चार्ल्स इलियट ने पहले पहल इन गीतों का संग्रह करके 60-70 वर्ष पूर्व छपवाया था।

श्रीधर- (संवत् 1454) में 'रणमल छंद' नामक एक काव्य की रचना की थी, जिसमें ईडर के राठौर राजा रणमल्ल की उस विजय का वर्णन है, जो उसने पास के सूबेदार जफर खाँ पर प्राप्त की थी। एक पद्य नीचे दिया जाता है -

ढमढमइ ढमढमकार ढंकर ढोल ढोली जंगिया।

सुर करहि रण सहणाइ समुहिर सरस रसि समरंगिया ।।[31]

संतों और सूफियों ने अपनी साधना के द्वारा मध्यकाल के जन जीवन को परस्पर सहानुभूति और सहयोग का मार्ग दिखाया था। निर्गुण और सगुण के मार्ग प्रशस्त हुए। राम और कृष्ण की लालायें जन जन का अवलम्ब बनी। संत और सूफी मध्यकाल के जीवन में सहायक बने और पारस्परिक मैत्री को प्रोत्साहित करते रहे।

कृष्ण काव्य और राम काव्य भक्ति को सुदृढ़ बनाने वाले आधार है। आचार्यों ने साधना और उपासना को जीवन के साथ जोड़ा भक्ति को प्रतिष्ठित किया और कृष्ण लीला के साथ-साथ रामचरित के कवियों के भक्ति को जन-जन तक पहुंचाया।

मुसलमानों की एकीश्वर वादी धारणा को लांघ कर कई मुसलमान कवि कृष्ण की सुन्दरता पर रीझे और उसका गुणगान किया मुसलमान कवियों की रचनाऐं परस्पर मित्रता और प्रेम का सेतू बनी और हिन्दी साहित्य में उनसे एक नयी चेतना आयी अकबर, रहीम, रसखान मुबारक, महबूब, कारे खाँ, काज खाँ, दरिया खाँ नजीर अकबरावादी और जायसी ने अपने आदर्शों के प्रति निष्ठा रखते हुए भी हिन्दुओं के आदर्शों के प्रति श्रृद्धा अर्पित की इस्लामी कट्टरता का भय त्याग कर वे कृष्ण की रूप माधुरी पर आशक्त थे और करील के कुजों पर राजमहलों को न्यौछावर करने की ललक मुसलमान कवियों में थी।

तुलसी की रचनाओं में समन्वय का अदभुत रूप दिखलायी देता है। उन्होंने

धर्म को जीवन के विविध पक्षों के माध्यम से देखा इसी से तुलसीदास लोक नामक के रूप में प्रतिष्ठित है। रामचरित मानस की रचना करके उन्होंने भारतीय जीवन को सम्पूर्णत: में चिन्हित किया धर्म के सच्चे स्वरूप को समझाया, निर्गुण सगुण सैव, वैष्णव, उत्तर और दक्षिण का अदभुत समन्वय करने में उनकी प्रतिभा समर्थ थी वे जन-जन के कवि बन गये और उन्होंने किसी की अधीनता स्वीकार नही की और न बादशाह अकबर की मनसवधरी चाही उन्होंने मजूरी मसखरी बाजार असवार, मसीद साहिब गरीबनवाज आदि अनेक फारसी शब्दों के प्रयोग से परहेज नही किया यही कारण है कि उनका समन्वयवाद अद्वितीय है। तुलसी से प्रभावित होकर अनेक हिन्दू व मुसलमान कवियों ने राम की कथा को अपने काव्य का विषय बनाया और आज भी कोई-कोई राम काव्य लिख देता है।

रीतिकाल की समयावधि में इस्लाम स्थिर हो चुका था और अपनी सुख सुविधा को यथावत रखते हुए देशी राजे महाराजे दिल्ली दरबार से जुड़ चुके थे जो विरोधी दिखलायी देते थे उनकी सुख सुविधाऐं छीन ली जाती थी इसलिए सुविधा को भी राजाओं ने सुख न छिन जाय इस आशंका से दिल्ली के बादशाहों की अधीनता स्वीकार कर ली थी। भक्तिकाल में दरबार का सुख ठीक नहीं माना जाता था इसीलिए बादशाह अकबर ने जब कुभंवदास को फतेहपुर सीकरी बुलाया था तो उन्होंने इनकार करते हुए लिखा था -

''सन्तन का सीकरी सो काम'' इसी प्रकार तुलसीदास को जब अकबर ने मनसबदारी देनी चाही तो उन्होंने भी इन्कार करते हुए लिखा था ''हम चाकर रघुवीर के पटो लिखो दरबार। तुलसी अब का होयगे नर के मनसबदार।'' किन्तु रीतिकाल के आते-आते यह दृष्टिकोण बदल गया था और राजा महाराजाओं के समान ही कवि भी सुख और सुविधा भोगी हो गये थे इसलिए इस युग में कविता में श्रृंगार रस की प्रधानता रही और कवियों की यह चेष्टा रही कि राजा महाराजा नबाब, बादशाह आदि जो भी सुख सुविधा देने योग्य थे। उनकी प्रशंसा में और उनकी श्रृंगार भावना को संतुष्ठ करने में

अपनी पूरी कवित्व शक्ति लगा दे इस युग में कुछ मुसलमान कवियों ने भी हिन्दी में रचनाऐं की किन्तु वे बुन्देलखण्ड में बिरले हुऐ।

आधुनिक काल -

नई शिक्षा के प्रभाव से लोगों की विचार धारा बदल चली थी उनके मन में देशहित, समाजहित आदि की नई उमंगें उत्पन्न हो रही थीं। काल की गति के साथ-साथ उनके भाव और विचार तो बहुत आगे बढ़ गये थे; पर साहित्य अभी भी पीछे ही था।

भाषा का स्वरूप स्थिर हो जाने पर जब साहित्य की रचना कुछ परिणाम में हो लेती है तभी शैलियों का भेद, लेखकों की व्यक्तिगत् विशेषताएँ आदि लक्षित होती है। भारतेंदु के प्रभाव से उनके अल्प जीवनकाल के बीच ही लेखकों का एक खासा मंडल तैयार हो गया जिसके भीतर पं. प्रतापनारायण मिश्र, उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी, ठा. जगमोहन सिंह, पं. बालकृष्ण भट्ट मुख्य रूप से गिने जा सकते हैं।

पं. प्रतापनारायण मिश्र की प्रकृति विनोदशील थी अत: उनकी भाषा बहुत ही स्वच्छंद गति से बोलचाल की चपलता और भावभंगी लिए चलती है। हास्य विनोद की उमंग में वह कभी कभी मर्यादा का अतिक्रमण करती पूरवी कहावतों और मुहावरों की बौछार भी छोड़ती चलती है। उपाध्याय बदरीनारायण चौधरी (प्रेमधन) के लेखों में गद्य काव्य के पुराने ढंग की झलक, रंगीन इमारत की चमक दमक बहुत कुछ मिलती है।[32]

पं. बालकृष्ण भट्ट की भाषा अधिकतर वैसी ही होती थी जैसी खरी-खरी सुनाने में काम में लाई जाती है। जिन लेखों में उनकी चिड़चिड़ाहट झलकती है, वे विशेष मनोरंजक है।[33]

ठा. जगमोहन की शैली शब्दशोधन और अनुप्रास की प्रवृत्ति के कारण

चौधरी बदरीनारायण की शैली से मिलती जुलती है; पर उसमें लंबे वाक्यों की जटिलता नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त उनकी भाषा में जीवन की मधुर भारतीय रंगस्थलियों की मार्मिक ढंग से हृदय में जमाने वाले प्यारे शब्दों का चयन अपनी अलग-अलग विशेषता रखता है।[34]

बाबू कार्तिक प्रसाद खत्री ने हिन्दी समाचार पत्रों के प्रचार के लिए बहुत उद्योग किया था, उन्होंने संवत् 1928 में 'हिन्दी दीप्ती प्रकाश' नाम का संवाद पत्र और 'प्रेम विलासिनी' नाम की एक पत्रिका निकाली थी। उस समय हिंदी संवाद पत्र पढ़ने वाले थे ही नहीं। पाठक उत्पन्न करने के लिए बाबू कार्तिक प्रसाद ने बहुत दौड़ धूप की थी। लोगों के घर जाकर वे पत्र सुना आते थे। इतना सब करने पर भी उनका पत्र थोड़ा चलकर बंद हो गया। संवत् 1934 तक कोई अच्छा और स्थायी साप्ताहिक पत्र नहीं निकला था।[35]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र - इनका जन्म काशी के एक सम्पन्न वैश्यकुल में भाद्र शुक्ल 5, संवत् 1907 को और मृत्यु 35 वर्ष की अवस्था में माघ कृष्ण 6 संवत् 1941 को हुई।

इस 'हरिचंद्री' हिन्दी के आविर्भाव के साथ ही नए नए लेखक भी तैयार होने लगे। 'चंद्रिका' में भारतेन्दु आप तो लिखते ही थे बहुत से और लेखक भी उन्होंने उत्साह देकर तैयार कर लिए थे। स्वर्गीय पंडित बदरीनारायण, बाबू हरिश्चंद्र के संपादन कौशल की बड़ी प्रशंसा किया करते थे। बड़ी तेजी के साथ वे चंद्रिका के लिए लेख और नोट लिखते थे और मैटर को बड़े ढंग से सजाते थे।

हरिश्चन्द्र के जीवन काल में ही लेखकों और कवियों का एक खासा मंडल चारों ओर तैयार हो गया। उपाध्याय पं. बदरीनारायण चौधरी, पंडित प्रतापनारायण मिश्र, बाबू तोताराम, ठाकुर जगमोहन सिंह, लाला श्रीनिवास दास, पंडित बालकृष्ण भट्ट इत्यादि कई प्रौढ़ और प्रतिभाशाली लेखकों ने हिन्दी साहित्य के इस नूतन विकास

में योग दिया था। इसका सबसे श्रेष्ठ उदाहरण 'नीलदेवी' के वक्तव्य में मिलता है। देखिए -

''आज बड़ा दिन है। क्रिस्तान लोगों को इससे बढ़कर कोई आनंद का दिन नहीं है। किन्तु मुझको आज उलटा दुख है। इसका कारण मनुष्य स्वभावासुलभ ईर्षा मात्र है। मैं कोई सिद्ध नहीं, कि रागद्वेष से विहीन हूँ।........''

प्रतापनारायण मिश्र - इनके पिता उन्नाव से आकर कानपुर में बस गये थे, जहाँ प्रतापनारायण जी का जन्म सं. 1913 और मृ.सं. 1951 में हुई। ये इतने मनमौजी थे कि आधुनिक सभ्यता और शिष्टता की कम परवाह करते थे। कभी लावनीबाजों में जाकर शामिल हो जाते थे, कभी मेलों-तमाशों में बंद इक्के पर बैठ जाते दिखाई पड़ते थे।

प्रतापनारायण मिश्र यद्यपि लेखनकला में भारतेंदु को ही आदर्श मानते थे, पर उनकी शैली में भारतेन्दु की शैली से बहुत कुछ भिन्नता भी लक्षित होती है। प्रताप नारायण जी में विनोदप्रियता विशेष थी, इससे उनकी वाणी में व्यंग्यपूर्ण वक्रता की मात्रा प्रायः अधिक रहती है। यद्यपि उनकी प्रवृत्ति हास्य विनोद की ओर ही अधिक रहती थी, पर जब भी कुछ गंभीर विषयों पर वे लिखते थे, तब संयत और साधु भाषा का व्यवहार करते थे। दोनों प्रकार की भाषा के नमूने नीचे दिए जाते हैं -

समझदार की मौत - ''सच है 'सब तें भले है मूढ़, जिन्हे न व्यापै जगतमति'। मजे से पराई जमा गपक बैठना, खुशामदियों से गप मारना, जो कोई तिथि त्यौहार आ पड़ा तो गंगा में बदन धो आना, गंगा पुत्र को चार पैसे देकर सेंतमेत में धरममूरत, धरमऔतार का खिताब पाना, संसार परमार्थ दोनों तो बन गये, अब काहै की है-है और काहे की खै-खै ?''

बालकृष्ण भट्ट जी का जन्म प्रयाग में सं. 1901 में और परलोकवास संवत् 1971 में हुआ। ये प्रयाग के 'कायस्थ पाठशाला' में संस्कृत के अध्यापक थे। उन्होंने

संवत् 1933 में अपना 'हिन्दी प्रदीप' पत्र गद्य साहित्य का ढर्रा निकालने के लिए ही निकाला था। सामाजिक, साहित्यिक, राजनीतिक, नैतिक सब प्रकार के छोटे-छोटे गद्य प्रबंध ये अपने पत्र में तीस वर्ष तक निकालते रहे। मिश्र जी के समान भट्टजी भी स्थान स्थान पर कहावतों का प्रयोग करते थे, पर उनका झुकाव मुहावरों की ओर कुछ अधिक रहा है।

भारतेन्दु के समय में साहित्य सृजन कार्य तो धूमधाम से चला, पर साहित्य के सम्यक प्रचार में कई प्रकार की बाधाएँ थीं। अदालतों की भाषा बहुत पहले से उर्दू चली आ रही थी, इससे अधिकतर छात्रों को अंगरेजी के साथ अकेले उर्दू की ही शिक्षा दी जाती थी। शिक्षा का उद्देश्य अधिकतर सरकारी नौकरियों के योग्य बनाना ही समझा जाता था। उन्होंने इस संबंध में कई पैम्पलेट भी लिखे। हिंदी प्रचार के लिए बलिया में बड़ी भारी सभा हुई थी, जिसमें भारतेन्दु का बड़ा मार्मिक व्याख्यान हुआ था। वे जहाँ जाते अपना यह मूल मंत्र अवश्य सुनाते थे -

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।
बिनु निज भाषा ज्ञान के, मिटत न हिय को सूल॥

इसी प्रकार पंडित प्रतापनारायण मिश्र भी 'हिंदी', हिंदू, हिन्दुस्तानी का राग अलापते थे। कई स्थानों पर हिंदी प्रचार के लिये सभाऐं स्थापित हुई। बाबू तोताराम द्वारा स्थापित अलीगढ़ की भाषा संवर्द्धिनी सभा महत्वपूर्ण है। ऐसी ही एक सभा सन् 1884 में 'हिंदी उद्धारिणी प्रतिनिधि मध्य सभा' के नाम से प्रयाग में प्रतिष्ठित हुई थी।

नागरी प्रचारिणी सभा अपनी स्थापना के कुछ ही दिनों पीछे नागरी के उद्धार के उद्योग में लग गई। 1952 में जब इस प्रदेश के छोटे लाट सर ऐंथनी (पीछे लार्ड) मैकडानल काशी में आए तब सभा ने एक आवेदन पत्र उनको दिया और सरकारी दफ्तरों से नागरी को दूर रखने से जनता के जो कठिनाइयाँ हो रही थी और शिक्षा के सम्यक् प्रचार में जो बाधाएँ पड़ रही थीं, उन्हें सामने रखा।

उक्त मेमोरेण्डम की सफलता के लिए कितना उद्योग प्रांत भार में किया गया था, यह बहुत लोगों को स्मरण होगा। सभा की ओर से न जाने कितने सज्जन सब नगरों में जनता के हस्ताक्षर लेने के लिए भेजे गए, जिन्होंने दिन को दिन और रात को रात नहीं समझा। इस आंदोलन के प्रधान नायक देशपूज्य श्रीमान् पंडित मदनमोहन मालवीय जी थे।

प्रथम उत्थान के भीतर बहुत बड़ी शिकायत यह रहा करती थी कि अंग्रेजी की ऊँची शिक्षा प्राप्त बड़े-बड़े डिग्रीधारी लोग हिंदी साहित्य के नूतन निर्माण में योग नहीं देते थे और अपनी मातृभाषा से उदासीन रहते थे। द्वितीय उत्थान में यह शिकायत बहुत कम उच्च शिक्षा प्राप्त लोग धीरे-धीरे आने लगे - पर अधिकतर यह कहते हुए कि 'मुझे तो हिंदी आती नहीं'। इधर से जवाब मिलता था 'तो क्या हुआ ? आ न जायगी ? कुछ काम तो शुरू कीजिए'। अत: बहुत से लोगों ने हिंदी आने के पहले ही काम शुरू कर दिया। उनकी भाषा में जो दोष रहते थे, वे उनकी खातिर से दरगुजर कर दिए जाते थे। जब वे कुछ काम कर चुकते थे - दो चार चीजें लिख चुकते थे तब पूरे लेखक हो जाते थे। फिर उन्हें हिंदी आने न आने की परवाह क्यों होने लगी ?

इस कालखंड के बीच हिंदी लेखकों की तारीफ में प्राय: यह कहा सुना जाता रहा कि ये संस्कृत बहुत अच्छी जानते हैं, ये अरबी, फारसी के पूरे विद्वान हैं, ये अंग्रेजी के अच्छे पंडित है। यह कहने की आवश्यकता नहीं समझी जाती थी कि ये हिन्दी बहुत अच्छी जानते हैं।

हिन्दी के पाठकों का अब वैसा अकाल नहीं था - विशेषत: उपन्यास पढ़ने वालों का। बँगला उपन्यासों के अनुवाद धड़ाधड़ निकलने लगे थे। बहुत से लोग हिंदी लिखना सीखने के लिए केवल संस्कृत शब्दों की जानकारी ही आवश्यक समझते थे, जो बँगला की पुस्तकों से प्राप्त हो जाती थी।

यह पहले कहा जा चुका है कि भारतेंदु जी और उनके सहयोगी लेखकों की दृष्टि व्याकरण के नियमों पर अच्छी तरह जमी नहीं थी। वे 'इच्छा किया' 'आशा किया'

ऐसे प्रयोग भी कर जाते थे और वाक्य-विन्यास की सफाई पर भी उतना ध्यान नहीं रखते थे। पर जो कुछ हुआ, वही बहुत हुआ। इसके लिए हमारा हिंदी साहित्य पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी का सदा ऋणी रहेगा। व्याकरण की शुद्धता और भाषा की सफाई के प्रवर्तक द्विवेदी जी ही थे। समालोचना का आरंभ यद्यपि भारतेन्दु के जीवनकाल में ही कुछ न कुछ हो गया था, पर उसका कुछ अधिक वैभव इस द्वितीय उत्थान में ही दिखाई पड़ा। श्रीयुत पंडित महावीर प्रसाद द्विवेदी ने पहले पहल विस्तृत आलोचना का रास्ता निकाला। फिर मिश्र बंधुओं और पंडित पद्मसिंह शर्मा ने अपने ढंग पर कुछ पुराने कवियों के संबंध में विचार प्रकट किए।

संस्कृत के नाटकों के अनुवाद के लिये रायबहादुर लाला सीताराम बी.ए. सदा आदर के साथ स्मरण किए जायेंगे। भारतेन्दु की मृत्यु से दो वर्ष पहले ही उन्होंने संस्कृत काव्यों के अनुवाद में स्वयं को लगाया और सं. 1940 में मेघदूत का अनुवाद घनाक्षरी शब्दों में प्रकाशित किया। यद्यपि पद्य भाग के अनुवाद में लाला साहब को वैसी सफलता नही मिली पर उनकी हिंदी बहुत सीधी सादी, सरल और आडंवर शून्य है। संस्कृत का भाव उसमें इस ढंग से लाया गया है कि कहीं संस्कृतपन या जटिलता नही आने पाई है।[36]

भारतेंदु के समय में वे काशी के क्वींस कालेज के सेकेंड मास्टर थे। पीछे डिप्टी कलेक्टर हुए और अंत में शांतिपूर्वक प्रयाग में आ रहे जहाँ 2 जनवरी, 1937 को उनका साकेतवास हुआ।

काशी निवासी पं. किशोरीलाल गोस्वामी ने प्रथम उत्थान के अंत में दो नाटक लिखे थे – 'चौपट चेपट' और 'मयंक मंजरी'। इनमें से प्रथम तो एक प्रहसन था जिसमें चरित्रहीन और छलकपट से भरी स्त्रियों तथा लुच्चों, लफंगों आदि के वीभत्स और अश्लील चित्र अंकित किए गये थे। दूसरा पाँच अंकों का नाटक था, जो श्रृंगाररस की दृष्टि से सं. 1948 में लिखा गया था।

पं. ज्वालाप्रसाद मिश्र ने संस्कृत नाटकों के अनुवाद के अतिरिक्त 'सीता

वनवास' नाम का एक नाटक भी लिखा था, जिसमें भवभूति के 'उत्तररामचरित' की झलक थी। उनके भाई पंडित बलदेव प्रसाद मिश्र ने तीन अच्छे रूपक लिखे थे। इन मौलिक रूपकों की सूची देखने से यह लक्षित हो जाता है कि नाटक की कथावस्तु के लिये लोगों का ध्यान अधिकतर ऐतिहासिक और पौराणिक प्रसंगों की ओर ही गया है। अन्य भाषाओं से हिन्दी में अनुवाद भी खूब हुए और मौलिक उपन्यास भी कुछ दिनों तक धड़ाधड़ निकले - किस प्रकार के, यह आगे प्रकट किया जाएगा।[37]

सं. 1951 तक बाबू राकृष्ण वर्मा उर्दू और अंग्रेजी के भी कुछ अनुवाद कर चुके थे, जैसे 'ठग वृत्तांतमाला' (1946)। 'चित्तौर चातकी' का बंगभाषा से अनुवाद उन्होंने सं. 1952 में किया।

इस उत्थान के भीतर बंकिमचंद, रमेशचन्द्र, हराणचंद्र रक्षित, चंडीचरण सेन, शरत् बाबू, चारूचंद इत्यादि बंगभाषा के प्राय: सब प्रसिद्ध उपन्यासकारों की बहुत सी पुस्तकों के अनुवाद तो हो ही गए रवीन्द्र बाबू के भी 'आँख की किरकिरी' आदि कई उपन्यास हिंदी रूप में दिखाई पड़े जिनके प्रभाव से इस उत्थान के अंत में आविर्भूत होने वाले हिंदी के मौलिक उपन्यासकारों का आदर्श बहुत कुछ ऊँचा हुआ।

पहले मौलिक उपन्यास लेखक, जिनके उपन्यासों की सर्वसाधारण में धूम हुई, काशी के बाबू देवकीनंदन खत्री थे। द्वितीय उत्थान काल के पहले ही नरेंद्रमोहिनी, कुसुमकुमारी, वीरेन्द्रवीर आदि कई उपन्यास लिख चुके थे। उक्त काल के आरंभ में तो 'चन्द्रकांता' और 'चन्द्रकांता संतति' नामक इनके ऐयारी के उपन्यासों की चर्चा चारों ओर इतनी फैली कि जो लोग हिंदी की किताबें नही पढ़ते थे वे भी इन नामों से परिचित हो गये।

बाबू देवकीनंदन के प्रभाव से 'तिलिस्म और ऐयारी' के उपन्यासों की हिंदी में बहुत दिनों तक भरमार रही और शायद अभी तक यह शौक बिल्कुल ठंडा नही हुआ। बाबू देवकीनंदन के तिलिस्मी रास्ते पर चलने वालों में बाबू हरिकृष्ण जौहर विशेष

उल्लेख है । जिस प्रकार गीत गाना और सुनना मनुष्य के स्वभाव के अंतर्गत है उसी प्रकार कथा कहानी कहना और सुनना भी । कहानियों का चलन सभ्य और असभ्य सब जातियों में चला आ रहा है । 'वृहत्कथा, बैतालपचीसी, सिंहासन बत्तीसी' इत्यादि घटनाचक्र में रमानेवाली कथाओं की पुरानी पोथियाँ है । कादंबरी, माघवानल - कामकंदला, सीत बसंत इत्यादि वृत्त वैचित्र्यपूर्ण होते हुए भी कथा के मार्मिक स्थलों में रमानेवाले भावप्रधान आख्यान् है ।

आधुनिक ढंग के उपन्यासों और कहानियों के स्वरूप का विकास इसी भेद के आधार पर क्रमश: हुआ है । इस स्वरूप के विकास के लिए कुछ बातें नाटकों की ली गई है । जैसे, कथोपकथन घटनाओं का विन्यास वैचित्र्य, वाहना और आभ्यंतर परिस्थिति का चित्रण तथा उसके अनुरूप भावव्यंजना । इतिवृत्त का प्रभाव तो उसका मूल रूप था ही, वह तो बना ही रहेगा । हिंदी के सर्वश्रेष्ठ उपन्यासकार प्रेमचंद की छोटी कहानियाँ भी सं. 1973 से ही निकलने लगीं । इस प्रकार द्वितीय उत्थान काल के अंतिम भाग में ही आधुनिक कहानियों का आरंभ हम पाते है जिनका पूर्ण विकास तृतीय उत्थान में हुआ ।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार यदि गद्य कवियों या लेखकों की कसौटी है तो निबंध गद्य की कसौटी है । भाषा की पूर्ण शक्ति का विकास निबंधों में ही सबसे अधिक संभव होता है । इसीलिए गद्य शैली के विवेचक उदाहरणों के लिये अधिकतर निबंध ही चुना करते है । निबंध या गद्य विधान कई प्रकार के हो सकते है - विचारात्मक, भावात्मक, वर्णनात्मक । प्रवीण लेखक प्रसंग के अनुसार इन विधानों का बड़ा सुन्दर मेल भी करता है । समालोचना का उद्देश्य हमारे यहाँ गुणदोष विवेचन ही समझा जाता रहा है । संस्कृत साहित्य में समालोचना का पुराना ढंग यह है कि जब कोई आचार्य या साहित्व मीमांसक कोई नया लक्षण ग्रंथ लिखता था तब जिन काव्य रचनाओं को वह उत्कृष्ट समझता था उन्हें रस, अलंकार, आदि के उदाहरणों के रूप में उद्दत करता था और जिन्हें पुष्ट समझता था । उन्हें दोषों के उदाहरणों में देता ।

कहने की आवश्यकता नहीं है कि हिंदी साहित्य में समालोचना पहले पहल

केवल गुण-दोष दर्शन के रथ में प्रकट हुई। लेखों के रूप में इसका सूत्रपात बाबू हरिश्चंद्र के समय में ही हुआ। लेख के रूप में पुस्तकों की विस्तृत समालोचना उपाध्याय पं. बदरीनारायण चौधरी ने अपनी 'आनंद-कादंबरी' में शुरू की।

तृतीय उत्थान में हम वर्तमान काल में पहुंचते है जो अभी चल रहा है। इसमें आकर हिन्दी गद्य साहित्य के भिन्न भिन्न क्षेत्रों के भीतर नए रास्ते खुले जिनमें से कई एक पर विलायती गलियों के नाम की तख्तियाँ भी लगीं। हमारे गद्य साहित्य का यह रूप अभी हमारे सामने है। इसके भीतर रहने के कारण इसके संबंध में हम या हमारे सहयोगी जो कुछ कहेगें वह इस काल का अपने संबंध में अपना निर्णय होगा। सच पूछिए तो वर्तमान काल, जो अभी चल रहा है, हमसे इतना दूर पीछे नही छूटा है कि इतिहास के भीतर आ सके।

सबसे पहले ध्यान लेखकों और ग्रंथकारों की दिन-दिन बढ़ती संख्या पर जाता है। इन बीस इक्कीस वर्षों के बीच हिन्दी साहित्य का मैदान काम करने वालों से पूरा पूरा भर गया, जिससे उनके कई अंगों की बहुत अच्छी पूर्ति हुई, पर साथ ही बहुत सी फालतू चीजें भी इधर उधर बिखरीं। जैसे भाषा का मूल अभ्यास और उस पर अच्छा अधिकार रखने वाले, प्राचीन और नवीन साहित्य के स्वरूप को ठीक ठीक परखने वाले अनेक लेखकों द्वारा हमारा साहित्य पुष्ट और प्रौढ़ हो चला, वैसे ही केवल पाश्चात्य साहित्य के किसी कोने से आँख खोलने वाले और योरप की हर एक नई पुरानी बात को 'आधुनिकता' कहकर चिल्लाने वाले लोगों के द्वारा बहुत कुछ अनधिकार चर्चा बहुत सी अनाड़ीपन की बातें भी फैल चली। इनके कारण हमारा सच्चा साहित्य रुका तो नही, पर व्यर्थ की भीड़भाड़ के बीच ओट में अवश्य पड़ता रहा। क्या नाटक, क्या उपन्यास, क्या निबंध, क्या समालोचना, क्या काव्यस्वरूप-मीमांसा, सबके क्षेत्रों के भीतर कुछ विलायती मंत्रों का उच्चारण सुनाई पड़ता आ रहा है। इसमें से कुछ तो ऐसे हैं जो अपने जन्म स्थान में अब नही सुनाई पड़ते। हँसी तब आती है जब कुछ ऐसे व्यक्ति भी 'मध्य युग की प्रवृत्ति', 'क्लासिकल', 'रोमांटिक' इत्यादि शब्दों से विभूषित अपनी

आलोचना द्वारा 'नए युग की वाणी' का संचार समझाने खड़े होते हैं, जो इन शब्दों का अर्थ जानना तो दूर रहा, अंग्रेजी भी नही जानते ।

एक ओर स्वर्गीय जयशंकर प्रसाद अपनी सूक्ष्म सृजन दृष्टि से अपने नाटकों में प्राचीन ऐतिहासिक वृत्ति लेकर काल विशेष के भीतर की सामाजिक स्थितियों का चित्रण करते हैं दूसरी ओर कुछ लोग ऐसे नाटकों के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाते हुए वर्नदशा आदि का नाम लेते हैं और कहते हैं कि आधुनिक युग 'समस्या नाटकों' का है। हमारा यह तात्पर्य नही है कि योरप के साहित्य की चर्चा हमारे यहाँ न हो। यदि हमें वर्तमान जगत् के बीच से अपना रास्ता निकालना है तो वहाँ के अनेक 'वादों और प्रवृत्तियों तथा उन्हें उत्पन्न करने वाली परिस्थितियों का पूरा परिचय होना ही चाहिए।'

यद्यपि और देशों के समान यहाँ भी उपन्यासों और कहानियों के आगे नाटकों का प्रणयन बहुत कम हो गया है, फिर भी हमारा नाट्य साहित्य बहुत कुछ आगे है। नाटकों के बाहरी रूपरंग भी कई प्रकार के हुए हैं और अवयवों के विन्यास और आकार प्रकार में भी वैचित्र्य आया है। ढाँचों में जो विशेषता योरप के वर्तमान नाटकों में प्रकट हुई है, वह हिंदी के भी कई नाटकों में इधर दिखाई पड़ने लगी है, जैसे अंक के आरंभ और बीच में भी समय, स्थान तथा पात्रों के रूप रंग और वेषभूषा का बहुत सूक्ष्म ब्यौरे के साथ लंबा वर्णन।

विश्वविद्यालयों के उच्च शिक्षाक्रम के भीतर हिंदी साहित्य का समावेश हो जाने के कारण उत्कृष्ट कोटि के निबंधों की ऐसे निबंधों की जिनकी असाधारण शैली या गहन विचारधारा पाठकों को मानसिक श्रम साध्य नूतन उपलब्धि के रूप में जान पड़े - जितनी ही अधिक आवश्यकता है उतने ही कम वे हमारे सामने आ रहे है। जिस प्रकार एक बंधे घेरे से निकलकर अब छायावादी कहे जाने वाले कवि धीरे धीरे जगत और जीवन के अनंत क्षेत्र में इधर उधर दृष्टि फैलाते देखे जा रहे हैं, इसका आभास दिया जा चुका है अब तक उनकी कल्पना थोड़ी सी जगह के भीतर कलापूर्ण और मनोरंजक नृत्य सा कर रही थीं वह जगत और जीवन के जटिल स्वरूप से घबराने वालों का जी बहलाने

का काम करती रही है । अब उसे अखिल जीवन के नाना पक्षों की मार्मिकता का साक्षात्कार करते हुए करीने के साथ रास्ता चलना पड़ेगा । इसके लिए उसे अपनी चपलता और भावभंगिमा का प्रदर्शन, क्रीड़ा कौतुक की प्रवृत्ति कुछ संयत करनी पड़ेगी ।

प्रसाद जी में ऐसी मधुमयी प्रतिभा और ऐसी जागरुक भावुकता अवश्य थी कि उन्होंने इस पद्धति का अपने ढंग पर बहुत ही मनोरम विकास किया । संस्कृत की कोमल कांत पदावली का जैसा सुन्दर चयन वेगभाषा के काव्यों में हुआ है अन्य देशभाषाओं के साहित्य में नही दिखाई पड़ता । जीवन के प्रेम विलासमय मधुर पक्ष की ओर स्वाभाविक प्रवृत्ति होने के कारण वे उस 'प्रियतम' के संयोग-वियोग वाली रहस्य भावना में - जिसे स्वाभाविक रहस्य भावना से अलग समझना चाहिए - रमते प्राय: पाए जाते हैं । प्रेमचर्या के शारीरिक व्यापारों और चेष्टाओं (अश्रु, स्वेद, चुवन, परिरक्षण, लज्जा की दौड़ी हुई लाली इत्यादि) रंग, रेलियों और अठखेलियों, वेदना की कसक और टीस इत्यादि की ओर इनकी दृष्टि विशेष जमती थी ।

जिस समन्वय का पक्ष कवि ने अंत में सामने रखा है उसका निर्वाह रहस्यवाद की प्रवृत्ति के कारण काव्य के भीतर नही होने पाया है । पहले कवि ने कवि को बुद्धि या ज्ञान की प्रवृत्ति के रूप में दिखाया, फिर अंत में कर्म और ज्ञान के बिंदुओं को अलग-अलग रखा ।

बात यह है कि इस प्रकार के भाव वर्तमान की विषम स्थिति से क्षुब्ध, कर्म में तत्पर मन के भाव है । ये कर्मकाल के भीतर जगे रहते है । कर्म में रत मनुष्य के मन में सफलता की आशा, अनुमति भविष्य के प्रति प्रबल अभिलाषा, बाधक वस्तुओं के प्रति रोष आदि का संचार होता है । ये व्यावहारिक है, अर्थसाधना की प्रक्रिया से संबंध रहते है और कर्मक्षेत्र में उपयोगी माने जाते है । पंत जी ने वर्तमान को जगत का कर्मकाल मानकर उसके अनुकूल भावों का स्वरूप सामने रखा है ।

उपसंहार -

विभिन्न देशी-विदेशी विचारधाराओं एवं आन्दोलनों ने हमारे साहित्य को व्यापक रूप में किस प्रकार प्रभावित किया है इसका दिग्दर्शन हम कर चुके है। इन प्रभावों के फलस्वरूप हिन्दी साहित्य में आने वाली प्रमुख प्रवृत्तियाँ ये हैं (1) देश-भक्ति एवं राष्ट्रीयता की भावना (2) बौद्धिकता का समावेश (3) ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति (4) समाज सुधार की भावना (5) नारी उत्थान (6) दलित एवं शोषित वर्ग के प्रति सहानुभूति (7) यथार्थ के चित्रण के प्रति आग्रह (8) काव्य और समाज में निकट सम्बंध स्थापित करने की प्रवृत्ति (9) वैयक्तिकता की प्रवृत्ति (10) भौतिकवादी विचारधारा के प्रति मोह (11) श्रृंगार वर्णन में स्थूलता की प्रवृत्ति (12) लोक सेवा की प्रवृत्ति (13) नवीन द्वंद नवीन उपमान आदि के प्रयोग के प्रति आग्रह।

आधुनिक काल की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें श्रमिक और दलित वर्ग के खून-पसीने को वाणी का वरदान प्राप्त हुआ है।[38]

हिन्दी के प्रारंभिक युगों में बुन्देलखण्ड में हिन्दी का कोई मुसलमान कवि नहीं :

हिन्दू-मुसलमान के आधारों पर रचनाओं या साहित्य का विभाजन करना उचित नहीं है। रचनाओं का इस प्रकार का विभाजन मिलता भी नहीं है। विभाजन का यह आधार तो अंगरेजों ने भारत में अपनी सत्ता को स्थायी बनाये रखने के लिए षडयंत्र के रूप में किया था। इसी समय से ही हर वस्तु को हिन्दू और मुसलमान रूपी दो चश्मों से देखा ज़ाने लगा। एक और महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि हिन्दी के खड़ी बोली रूप का विकास भारतेन्दु-काल से हुआ। इसके पूर्व ब्रज और अवधी में रचनाएं प्राप्त होती हैं। खड़ी बोली हिन्दी का प्रारम्भिक स्वरूप अमीर खुसरो की रचनाओं में प्राप्त होता है, लेकिन तब यह स्वरूप बोली का था।

बुन्देलखण्ड का स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। भक्ति आंदोलन में अनेक मुसलमान कवियों ने हिन्दी में रचना कर उसे समृद्ध किया, पर यह बात मध्ययुग की है। जिस काल में बुन्देलखण्ड जेजाकभुक्ति, निषद और चेदि जैसे नामों से जाना जाता था, उस समय मुसलमानों का प्रवेश ही संभवतः उपर्युक्त नामधारी क्षेत्रों में नहीं हुआ था, इसीलिए आरंभिक युगों में इस प्रदेश में किसी मुसलमान के हिन्दी कवि होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिस जेजाकभुक्ति का उल्लेख किया गया हे, वह नाम चंदेलकालीन बुन्देलखण्ड का है। बुन्देलखण्ड आज की भांति एक संगठित इकाई की भांति नहीं था, परन्तु चन्देलों ने महोबा-कालिंजर को अपना केन्द्र बनाकर वर्तमान बुन्देलखण्ड के समूचे भू-भाग पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। चंदेलों के शासनकाल में प्रथम बार भौगोलिक व राजनैतिक दृष्टि से बुन्देलखण्ड एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में प्रतिष्ठित होता दिखायी दिया।

बुन्देलखण्ड में हिन्दी का कोई कवि आरंभिक युग में भाषाई कारणों से भी परिलक्षित नहीं होता है। विद्वद्जनों की भाषा संस्कृत थी। राजभाषा के रूप में भी संस्कृत प्रतिष्ठित थी। राजकाज में एवम् शिलालेखों में देवभाषा प्रयुक्त होती थी। जन साधारण इस 'शिष्ट' भाषा से दूर बहुत था। प्राकृत अपभ्रंश से होती हुई हिन्दी जब तैयार हो रही थी, उस समय भी कोई मुसलमान कवि इस भू-भाग पर नहीं था।

मध्यप्रदेश के नाम से विख्यात ग्वालियर और इसके आसपास का भू-भाग भी बुन्देलखण्ड में सम्मिलित था। यद्यपि ग्वालियर को बुन्देलखण्ड का हिस्सा माने जाने के संबंध में विद्वानों में दो मत है। एक वर्ग इसे बुन्देलखण्ड का अंग मानता है, तो दूसरा इंकार करता है। रीतिकालीन कवि बिहारी ने तो ग्वालियर को स्पष्टतः बुन्देलखण्ड में माना है -

जनमु ग्वालियर जानिऐ खण्ड बुन्देले बाल।
तरुनाई आई सुगर, बसि मथुरा ससुराल॥

परन्तु इस दोहे के – 'खण्ड बुन्देले बाल' से अनेक विद्वानों ने यह अर्थ ग्रहीत किया है कि बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था, परन्तु उनका बचपन बुन्देलखण्ड में बीता ।

ग्वालियर बुन्देलखण्ड का अंग हो या इसकी सीमा बुन्देलखण्ड को स्पर्श करती हो, परन्तु बुन्देली के आदि कवि विष्णुदास यहीं के थे । ग्वालियर ऐतिहासिक तथा सामरिक महत्व का केन्द्र और नगर रहा है । प्रारम्भिक काल में यहां तोमरों का राज्य रहा है । इनके शासनकाल में ग्वालियर पर मुसलमानों के आक्रमण होते रहे हैं । नगर और नगर के आसपास का क्षेत्र मुसलिम संस्कृति से प्रभावित होता रहा है, परन्तु ग्वालियर में भी इस काल में कोई मुसलमान हिन्दी कवि नहीं हुआ । यहां जो हिन्दी के मुसलमान कवि हुए भी हैं, वे सब प्रायः मध्यकाल के हैं । इन्होंने चाहे संगीत सम्बन्धी काव्य रचना की हो, भक्ति सम्बन्धी साहित्य सृजित किया हो अथवा कोई अन्य ।

तुलसी ने जायसी के पद्मावत के शिल्प के आधार पर रामचरितमानस की रचना की । कुतुबन, मंझन, शेख नबी और उसमान जैसे सूफी संत कवियों की रचनाएँ भी भक्ति-आंदोलन के कवियों का आधार बनीं । प्रेममार्गी भक्तिधारा के इन कवियों की भावभूमि तो भारतीय थी, परन्तु इन्होंने इसलाम के धार्मिक पक्ष में रचनात्मक लेखन कार्य किया ।

कृष्णभक्ति का इतिहास यद्यपि बहुत पुराना है, परन्तु सूरदास ने इस भक्ति का जो लोकरंजक रूप अपने साहित्य में प्रस्तुत किया, उसने अनेक सहृदय मुसलमान कवियों को आकर्षित किया । सूर-साहित्य से प्रसूत कृष्ण ब्रज और बुन्देलखण्ड में छा गये और इन्होंने बुन्देलखण्ड के कारे कवि जैसे अनेक मुसलमानों को आप्लावित किया ।

सन्दर्भ सूची

(1) हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां - डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 29.

(2) हिन्दी साहित्य : उद्भव और विकास : डॉ. शिवकुमार शर्मा, पृ. 164.

(3) ऐतिहासिक निबंध : रामकिशोर पाण्डेय, पृ. 411 (प्रकाशक: प्रकाश बुक डिपो, बड़ा बाजार, बरेली, उ.प्र. संस्करण, 1981)

(4) ऐतिहासिक निबंध : रामकिशोर पाण्डेय, पृ. 418.

(5) वही, पृ. 420-421.

(6) वही, पृ. 413-417.

(7) पद्मावत : मलिक मोहम्मद जायसी :

(8) हिन्दी साहित्य : युग और प्रवृत्तियां : डॉ. शिवकुमार शर्मा : पृ. 185

(9) हिन्दी का उद्भव विकास और रूप, डॉ. हरदेव बाहरी, 1970 ई., पृ. 37.

(10) हिन्दी का साहित्य, हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 17.

(11) हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ. रामकुमार वर्मा, पृ. 136.

(12) बुन्देलखण्डी भाषा और साहित्य, कृष्णानंद गुप्त, पृ. 4-5.

(13) डॉ. रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, बुन्देली का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ. 4.

(14) मिश्र बन्धु हिन्दी साहित्य का इतिहास : पृ. 127.

(15) हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 4-5

(16) वही, पृ. 4-5

(17) वही, पृ. 4-5

(18) वही, पृ. 4-5

(19) वही, पृ. 4-5

(20) वही, पृ. 4-5

(21) वही, पृ. 265

(22) वही, पृ. 265

(23) वही, पृ. 265

(24) वही, पृ. 265

(25) वही, पृ. 265

(26) वही, पृ. 265

(27) आधुनिक काल में उपन्यास, पृ. 265

(28) वही, पृ. 293

(29) वही, पृ. 293

(30) वही, पृ. 293

(31) वही, पृ. 293

(32) वही, पृ. 293

(33) हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल : पृ. 384

(34) वही, पृ. 384

(35) वही, पृ. 384

(36) वही, पृ. 384

(37) वही, पृ. 384

(38) वही, पृ. 384
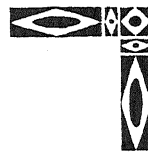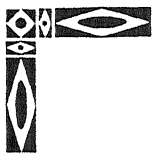
द्वितीय अध्याय

बुन्देलखण्ड की विविध पृष्ठभूमियाँ

अंचल का योगदान

''उर्वरा भव्य धरा है यहाँ की,
छिपे पड़े रत्न यहाँ अलबेले,
मुण्ड चढ़े यहीं चण्डिका पै,
उठ रुण्ड लड़े है असि ले ले ।
खण्ड बुन्देल की कीर्ति अखण्ड,
बन गये वीर प्रचण्ड बुन्देले,
झेल के संकट खेल के जान पै,
खेल यही तलवार से खेले ।।''

स्व. रसिकेन्द्र

बुन्देलखण्ड : परिचय एवं पृष्ठभूमि -

''भारत के मध्य भाग में नर्मदा के उत्तर और यमुना नदी के दक्षिण में विन्ध्याचल की श्रेणियों में समाया हुआ और यमुना की सहायक नदियों के जल से सिंचित सौंदर्यालंकृत प्रदेश बुन्देलखण्ड है।''[1]

मुंशी अजमेरी ''बुन्देलखण्ड'' के सम्बंध में लिखते हैं -

''यमुना उत्तर और नर्मदा दक्षिण अंचल,
पूर्व ओर है टोंस पश्चिममांचल में चम्बल,
उन पर केन धसान बेतवा सिंध वही है,
विकट विन्ध्य की शैल श्रेणियाँ फैल रही है,
विविध सृश्यावली अटल अटल आनंदभूमि है।
प्रकृतिच्छटा बुन्देलखण्ड स्वच्छन्द भूमि है।''[2]

''बुन्देलखण्ड'' नाम से प्रसिद्ध इस प्रदेश का अतीत अत्यंत गौरवमय रहा है। ''गिरिराज विन्ध्य के अंचल में सुशोभित इस दिव्य बुन्देलभूमि को प्राकृतिक सौंदर्य के वरदान के साथ ही इतिहास के अनादि स्त्रोत से भारत के सांस्कृतिक वैभव का यशस्वी केन्द्र होने का गौरव भी प्राप्त है। चन्देलों का वैभव और पराभव, आन पर प्राणों का बलिदान करने वाले बुन्देलों की आहुतियाँ, गौड़ों के प्रमुख संदेश इस बात के साक्षी हैं कि भारत के हृदय तल पर सुशोभित यह प्रदेश भारत का सच्चा हृदय है।[3] बुन्देलखण्ड नाम इस प्रदेश से संबंधित विभिन्न पौराणिक उल्लेख अनुपम प्रकृतिच्छटा, शौर्य वीरता संपन्न इतिहास, गौरवशाली अतीत, सांस्कृतिक समृद्धि, लिखित व

अलिखित साहित्य की सुविस्तृत परम्परा, प्रागैतिहासिक पुरावशेष आदि उसे विशिष्टता प्रदान करते है।''

डॉ. बलभद्र तिवारी लिखते हैं - ''इस भू-भाग का वैदिककाल से लेकर आधुनिक काल तक मानवीय विकास, संस्कृति, सभ्यता और धर्म आदि के विकास में जो योगदान रहा, वह निश्चय ही अत्यंत महत्वपूर्ण है।''[4]

बुन्देलखण्ड का राजनैतिक इतिहास परिवर्तनों का इतिहास है। यहाँ अनेक राजवंशों का उत्थान और पतन हुआ, शासक और शासन प्रणालियों में परिवर्तन हुआ। परिणामतः इसकी सीमायें कभी एक सी नहीं रहीं। पौराणिक काल में बुन्देलखण्ड का इतिहास राम के ज्येष्ठ पुत्र लव से प्रारंभ होता है। ''यह भू-भाग कभी एक विशाल साम्राज्य का अंग बनकर आर्यों द्वारा शासित होता रहा, कभी नार्गो द्वारा, कभी चंदियों द्वारा, कभी गुप्तों द्वारा, कभी चन्देलों द्वारा, कभी प्रतिहारों द्वारा, कभी बुन्देलों द्वारा और कभी विभिन्न मुस्लिम शासकों द्वारा शासित होता रहा और प्रत्येक शासनकाल में इसकी सीमायें परिवर्तित होती रही हैं।''[5]

नामकरण -

यद्यपि बुन्देलखण्ड नामक यह भू-भाग पृथ्वी के प्राचीनतम भू-पृष्ठों में से है। यह भू-भाग प्रागैतिहासिक काल से ही विद्यमान है। पूर्व में यह चेदि, दशार्ण, पुलिन्द, जेजाक, मुक्ति, जुमौति, जुझारखंड, विन्धयेखण्ड, विन्ध्येलखण्ड, विन्ध्यप्रदेश आदि विभिन्न नामों से प्रसिद्ध रहा है। ''बुन्देलखण्ड'' नाम अधिक पुराना नहीं है। डॉ. कृष्णलाल हंस के अनुसार- ''बुन्देलखण्ड में बसने के कारण वहाँ का क्षत्रिय वर्ग विशेष ''बुन्देला'' नहीं कहलाया, इसके विपरीत बुन्देलों की निवास भूमि होने के कारण यह भू-भाग बुन्देलखण्ड कहलाया।[6] बुन्देलखण्ड के नामकरण के संबंध में अनेक मान्यतायें हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि वर्तमान नाम ''वुन्देलखण्ड'' बुन्देलों से संबंधित है।

तद्रविषयक विविध मान्यताएँ -

कुछ विद्वानों का मानना है कि विन्ध्य पर्वत मालाओं से आवेष्ठित प्रदेश ही विन्ध्यप्रदेश कहलाया। डॉ. बलभद्र तिवारी के अनुसार - विन्ध्य पर्वत की श्रेणियों से आवेष्टित होने के कारण इसे विन्ध्यमूर्ति, विन्ध्यनिलय, विन्ध्य पार्श्व आदि संज्ञाएं मिली हैं।[7] डॉ. रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल लिखते हैं - ''वघेलखण्ड के सादृश्य पर विन्ध्येलखंड नाम पड़ा जो कि कालान्तर में बुन्देलखण्ड बन गया। ''विन्ध्य'' शब्द का अपभ्रष्ट रूप ही बुन्देला है।[8]

इसी संबंध में जनश्रुति है कि - ''गहरवार क्षत्रिय कुलोत्पन्न महाराज हेमकरन माध्यों द्वारा अपना काशी का राज्य छिन जाने पर इस भू-भाग में आये और उन्होंने देवी को अपना सिर समर्पित करने के लिए जैसे ही अपनी तलवार उठाई, देवी ने उनका हाथ पकड़ लिया, किन्तु उनके मस्तक पर तलवार की खरोंच लग ही गई और रक्त की कुछ बूंदे भूमि पर देवी के सामने गिर पड़ी। अपने रक्त की बूंदे देवी को समर्पित करने वाले महाराज हेमकरन की सन्तान बुन्देले कहलाये और कुछ समय के पश्चात् इसकी निवासभूमि बुन्देलखण्ड के नाम से संबोधित होने लगी।''[9]

ऐसा भी माना जाता है कि ''पंचम के गजाधर पण्डित की सलाह पर विंध्यवासिनी के समक्ष नरवलि दी। इस पर प्रसन्न होकर देवी ने उसे विजयी होने का वरदान दिया। उस समय पंचम के अधीन प्रदेश और विंध्यवासिनी देवी का मन्दिर विन्ध्यश्रेणियों के बीच में ही था, अतएव सम्भवत: कृतज्ञता ही पंचम के नाम के आगे ''विंध्येला'' जोड़ लिया हो जो कालान्तर में ''बुन्देला'' हो गया।[10] इस संबंध में और भी अनेक मत है लेकिन डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला की मान्यता इस संबंध में अधिक उपयुक्त जान पड़ती है। वे लिखते है -

''इस वात की प्रबल संभावना है कि पंचम का राज्य विन्ध्य पर्वत मालाओं के आसपास होने के कारण वह ''विन्ध्येता'' नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसलिए आगे

उसके उत्तराधिकारी अपने नाम के आगे ''विंध्येला'' जोड़ने लगे जो धीरे-धीरे कालान्तर में विंध्येला से बुन्देला हो गया।''[11] और बुन्देलों द्वारा शासित प्रदेश अथवा बुन्देलों की निवासभूमि को ''बुन्देलखण्ड'' के नाम से ही जाना जाने लगा।

डॉ. कृष्णलाल हंस लिखते है - ''इस भू-भाग को विन्ध्याचल के अंचल में स्थित होने के कारण बुन्देलखण्ड। विन्ध्येलखण्ड कहा जाता हो अथवा विन्ध्य के अंचल में आकर बसने वाले गहरवार क्षत्रिय बुन्देले कहलाये और उनकी निवास भूमि होने के कारण इसे बुन्देलखण्ड कहा गया हो, पर यह नाम चार सौ वर्षों से अधिक प्राचीन नही हो सकता।[12] बुन्देलों ने कई शताब्दियों तक इस भू-भाग पर शासन किया है। डॉ. श्रीवास्तव स्नेही के अनुसार - ''बुन्देलों का राज्य 12 वीं शताब्दी से प्रारंभ हो 18 वीं शताब्दी तक विश्रृंखलित रूप से चलता रहा और स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व तक छोटे-मोटे जागीरदार बने हुए इस क्षेत्र पर शासन करते रहे हैं, अत: बुन्देलों के साथ बुन्देलखण्ड का नाम जुड़ना समुचित जान पड़ता है।''[13]

बुन्देलखंड का पूर्व इतिहास -

बुन्देलखंड नामक इस भू-भाग ने अनेक राज्यों के उत्थान और पतन को देखा है। ''सुदूर अतीत में बुन्देलखंड का संबंध रामायणकालीन सूर्यवंशी रामचन्द्र के ज्येष्ठ पुत्र लव के वंश से जुड़ता है।[14] रामायण काल के पूर्व से बौद्धयुग तक मध्यप्रदेश विभिन्न सोलह जनपदों में विभाजित था। ये जनपद - काशी, कोसल, अंग, मगध, वज्जि, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पांचाल, मत्स्य, शूरसेन, असस्क, अवन्ति, गांधार, कन्नौज थे।[15] बुन्देलखण्ड का संबंध इसमें से चेदि और शूरसेन जनपदों से माना जाता है। डॉ. बलभद्र तिवारी का कहना है -''चेदि बुन्देलखंड का पुराना रूप है, इसे पुराणकालीन बुन्देलखण्ड की संज्ञा दी जा सकती है।[16] इस संबंध में उन्होंने अनेक पौराणिक संदर्भ भी प्रस्तुत किये है।

बुन्देलखण्ड नामक इस भू-भाग के लिए ''दशार्ण'' नाम भी पुराणों व

प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। ''दशार्ण'' शब्द के विविध अर्थ देखने को मिलते है। 'नदी विशेष के अर्थ में यह इस भू-भाग ''बुन्देलखण्ड'' में प्रवाहित होने वाली नदी ''धसान'' का पूर्व नाम ''दशार्ण'' जान पड़ता है। देश विदेश के अर्थ में यह वह देश है, जिसमें दस नदियाँ प्रवाहित होती है। बुन्देलखण्ड निश्चित ही दस नदियों का देश है, जिला जालौन के जम्मनपुर ग्राम के समीप चम्बल, पहूज, काली सिंध और कुंवारी नामक नदियों का संगम यमुना से होता है। इस स्थान को पंचनद भी कहा जाता है। शेष पाँच नदियाँ वेत्रवती। बेतवा। मन्दाकिनी, केन, तमसा और धसान है।''[17] वस्तुतः दशार्ण नाम भी उपयुक्त जान पड़ता है।

डॉ. तिवारी ने ''दशार्ण'' को ''आकर देश'' भी कहा है जिसकी राजधानी विदिशा थी। ''ऐसा प्रतीत होता है कि चेदि और दशार्ण बुन्देलखण्ड के उत्तरी और दक्षिणी भाग है।''[18] ''दशार्ण'' पूर्व का बुन्देलखण्ड है अथवा बुन्देलखण्ड का एक भाग, इसके संबंध में विभिन्न मत प्रचलित है। वस्तुतः पौराणिक संदर्भों के आधार पर ''दशार्ण'' का अस्तित्व निर्विवाद है। उपरोक्त नामों के अतिरिक्त ''जेजाकमुक्ति'' भी बुन्देलखण्ड नाम इस भू-भाग का घोतक रहा है।

''इनसाइक्लोपीडिया - ''ब्रिटानिका'' में बुंदेलखण्ड नामक इस भू-भाग के लिए जेजाकमुक्ति नाम का उल्लेख मिलता है।[19] चेदि वंश में जयशक्ति अथवा जेज्जाक नामक प्रबल प्रतापी राजा हुये है, इस राजा के नाम पर ही यह यमुना से नर्मदा तक का माग ''जीजक'' अथवा जेजक भूमि कहलाता है।''[20] वी.डी. महाराज के अनुसार जेजाक मुक्ति बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम था। यह कन्नौज के प्रतिहार साम्राज्य का अंग था।''[21] बुन्देलखण्ड नामक यह भू-भाग वहुत समय तक जेजाकमुक्ति, जेजाहुति अथवा जुझोति नाम से भी प्रसिद्ध रहा है। इस संबंध में भी विभिन्न अभिलेख व संदर्भ प्राप्त होते हैं। इनके अतिरिक्त भी यह भू-भाग अनेक नामों से प्रसिद्ध रहा है।

बुन्देलखण्ड की दक्षिणी सीमा रेवा ''नर्मदा के द्वारा बनती है इसलिए इसे रेवा का उत्तर प्रदेश'' भी माना जाता है। बुन्देलखण्ड में पुलिन्द जाति और शवरों का

अनेक समय तक निवास रहा है इसलिए कतिपय विद्वान इसे ''पुलिन्द-प्रदेश'' अथवा ''शबर-क्षेत्र'' भी घोषित करते हैं।''[22]

बुन्देलखंड का भौगोलिक सीमांकन -

बुन्देलखंड की भौगोलिक सीमाओं के संबंध में भी पृथक-पृथक मत प्रचलित है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार बुन्देले राजपूतों की निवासभूमि अथवा उनके द्वारा शासित प्रदेश ही बुन्देलखंड है। बुन्देलखण्ड की सीमाओं के संदर्भ में प्रचलित किंवदन्तियाँ दृष्टव्य हैं -

''इत चम्बल उत नर्मदा इत जमुना उतटोंस।
छत्रसाल सों लरन की रही न काहु होंस ॥''[23]

इस दोहे में बुन्देलखण्ड की प्राकृतिक सीमायें अंकित है। इसके अनुसार यमुना, नर्मदा, चम्बल तथा टोंस नदियों से आवेष्ठित भाग छत्रसाल के राज्यान्तर्गत आता था। अधिकांश विद्वानों ने वुन्देलखण्ड की इन्हीं प्राकृतिक सीमाओं को स्वीकार किया है।

श्री जयचन्द्र विद्यालंकार लिखते हैं - बुन्देलखण्ड में बेतवा। वेत्रवती / धसान / दशार्ण / और केन, शुक्तिमती के कोठे, नर्मदा की उपरली घाटी और पचमढ़ी से अमरकंटक तक ऋप्रक्ष पर्वत का हिस्सा सम्मिलित है। उसकी पूर्वी सीमा टौंस / तमसा / नदी है। इस प्रकार बेतवा और केन काठों तथा नर्मदा के उपरले कोठे वाला प्रदेश बुन्देलखण्ड है।[24] स्व. दीवान प्रतिपाल सिंह ने बुन्देलखण्ड में सम्मिलित राज्यों एवं जिलों के संबंध में लिखा है - ''ग्वालियर राज्य के भिण्ड, ग्वालियर, गिर्द, नरवर, ईसागढ़ और भेलसा / वर्तमान विदिशा। के जिले अथवा भाग और इसी प्रकार भूपाल राज्य के उत्तरीय और पूर्वीय निजामतों के भाग तथा मध्यप्रदेश के सागर, दमोह, जबलपुर जिले अथवा उनके भाग रींवा की पश्चिमी तहसीलों के भाग और संयुक्त प्रान्त के काशी के निकट से मिर्जापुर, इलाहाबाद, बाँदा, हमीरपुर, जालौन तथा झाँसी जिले

अथवा उनके भाग बुन्देलखण्ड के ही अंश है ।[25] बी.ए. स्मिथ ने बुन्देलखण्ड की सीमाओं के संबंध में लिखा है - ''जिस क्षेत्र में चन्देल शासकों ने राज्य किया, वह बुन्देलखण्ड है । यह क्षेत्र गंगा-यमुना के दक्षिण में नर्मदा नदी तक फैला हुआ है । आधुनिक सागर और बेलारी जिले भी सम्मिलित हैं ।''[26]

डॉ. जार्ज ग्रियर्सन लिखते है - बुन्देलखण्ड वह भू-भाग है, जो उत्तर में यमुना, उत्तर-पश्चिम में चम्बल, दक्षिण में मध्यप्रदेश के जबलपुर और सागर संभाग तथा दक्षिण और पूर्व में रीवा अथवा वघेलखण्ड के मध्य में स्थित है और जिसके दक्षिण पूर्व में मिर्जापुर की पहाड़ियाँ है ।''[27]

उपरोक्त संदर्भों के आधार पर वर्तमान ''बुन्देलखण्ड नाम का कोई पृथक प्रदेश नही है पूर्वकाल में ही राजकीय इकाई के रूप में कभी उसका जुदा अस्तित्व रहा है ।''[28] फिर भी बुन्देलखण्ड अपनी अनेक विशिष्टताओं के कारण भारत में अपनी पृथक सत्ता रखता है । बुन्देलखण्ड कहे जाने वाले इस भू-भाग का क्षेत्रफल लगभग 70-80 हजार वर्गमील है तथा इसके अंतर्गत झाँसी, जालौन, हमीरपुर, वादाँ, ग्वालियर, भिण्ड, मुरैना, गुना, शिवपुरी, सिहोर, रायसेन, विदिशा, होशंगावाद, जबलपुर, सागर, दमोह, नरसिंहपुर, टीकमगढ़, दतिया, छतरपुर तथा पन्ना आदि जिले सम्मिलित है ।

बुन्देलखंड का राजनीतिक इतिहास -

बुन्देलखंड का क्रमबद्ध इतिहास मौर्य साम्राज्य के साथ आरंभ होता है । मौर्यवंश में चन्द्रगुप्त मौर्य, विन्दुसार और अशोक का नाम उल्लेखनीय है । मौर्य साम्राज्य के चार विभाग थे, प्रत्येक विभाग की राजधानी में शासक होता था । बुन्देलखण्ड उज्जैन के एक शासक के अधीन था । अशोक के शासनकाल में धर्म प्राचारार्थ लिखाये गये शिलालेख अब भी एरन में मिलते है ।''[29] श्री उमाशंकर शुक्ल के अनुसार जब समुद्रगुप्त दिग्विजय को निकाला तो वह सागर जिले से होता हुआ दक्षिण को गया था । हटा तहसील में 24 सोने के गुप्तवंशीय सिक्के और ऐरन में ''स्वभोग नगर'' इस

बात के प्रमाण है।[30] अशोक के पश्चात् मौर्य शासक अपने साम्राज्य की रक्षा न कर सके। पुराणों से ज्ञात होता है कि मौर्यवंश का अंतिम राजा वृहद्रथ अपने सेनापति पुष्यमित्र / पुष्पमित्र। द्वारा मारा गया और शुंगवंश की स्थापना हुई।[31] डॉ. बलभद्र तिवारी ने शुंगवंश का संबंध बुन्देलखण्ड से स्थापित करते हुए लिखा है - शुंगवंश भार्गवच्यवन के वंशधर शुनक के पुत्र शौनक से उद्‌मत है, ये दक्षिण बुन्देलखण्ड से समन्धित रहे है। शुंग लोग 36 वर्ष ही राज्य कर पाये।''[32] शुंगवंश के पश्चात बुन्देलखण्ड पर नागों शकों आदि विभिन्न शासकों का शासन रहा। डॉ. बलभद्र तिवारी के अनुसार- ''भारतीय तथा बुन्देलखण्ड के इतिहास में मौर्य के उपरांत वाक्राटकों और तत्कालीन गुप्तों का महत्वपूर्ण योगदान है।''[33] डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी लिखते है - ''बाकाटकों का राजमुल गुप्तों के समकालीन सबसे शक्तिमान राजवंशों में से एक था। उनके अभिलेखों तथा पुराणों से सिद्ध है कि अपने उत्कर्ष के काल में उनका प्रभुत्व सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड, मध्यप्रदेश, बरार, आसमुद्र उत्तरी दक्खन के ऊपर था। इसके अतिरिक्त दुर्बल पड़ोसी राज्यों के ऊपर भी उनका अधिपत्य प्रतिष्ठित था।''[34] सन् 345 ई. के पश्चात् वाकाटक वंश गुप्तों के प्रभाव में आया। पाँचवी शताब्दी के मध्य तक वाकाटक गुप्तों के आश्रित रहे।[35]

गुप्तों के शासन काल में बुन्देलखण्ड की सीमाओं में विस्तार हुआ। स्कन्द गुप्त के शासनकाल में ही हूणों के आक्रमण प्रारंभ हो गये थे। हूणों का भी कुछ समय तक इस प्रदेश पर शासन रहा। हूणों के पश्चात् यशोवर्धन और हर्षवर्धन का शासन आता है। ''हर्ष के काल में बुन्देलखण्ड ही नही उसके द्वारा समस्त शासित भू-भाग की विशेष उन्नति हुई। चीनी यात्री ह्वेनसांग इसी के समय में भारत आया था। उसने अपनी यात्रा में जुझौति / बुन्देलखण्ड / महेश्वर और उज्जैन की समृद्धि का अच्छा वर्णन किया है।''[36] हर्ष के पश्चात् उसका साम्राज्य भी छिन्न-भिन्न हो गया और समस्त उत्तरभारत छोटे-छोटे राज्यों में बंट गया। हर्ष के पश्चात् बुन्देलखण्ड में कलचुरियों और चन्देलों का भी आधिपत्य रहा। ''हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद चन्देलों के समय में बुन्देलखण्ड

की लाक्षणीय उन्नति हुई। चन्देल शासन के तीन सोपान है - हर्ष के धंग का उदीयमान शासनकाल, धंग से विजयपाल तक समृद्धिपूर्ण शासनकाल तथा विजयपाल से पृथ्वी वर्मा तक पतनोन्मुख काल। चन्देलों का स्वर्णकाल धंग के समय से माना जाता है।''[37] चन्देलों ने विस्तृत / भाग पर अपना अधिकार किया। ''चन्देलों के अधीन रहने वाला भाग धसान नदी के पूर्व और विन्ध्याचल पर्वत के उत्तर-पश्चिम में था उत्तर में यह यमुना नदी और दक्षिण में केन नदी तक फैला हुआ था।''[38] चन्देल वंश का शासन काल नवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है। इस वंश के संस्थापक नानुकदेव थे। इन्हीं नानुक या नन्नुक का पौत्र जेजा अथवा जयशक्ति था जिसके नाम पर चन्देलों के राज्य का नाम जेजाकभुक्ति पड़ा।''[39] इस वंश में अनेक प्रतापी शासक हुए जिन्होंने बुन्देलखण्ड की प्रगति और विस्तार किया। चन्देलों के समकालीन राजनीतिक क्षितिज पर अपना महत्व स्थापित करने वाला कलचुरि वंश भी उल्लेखनीय है। ''कल्चुरि-वंश-पुराणों'' के अनुसार कल्चुरि हैहयवंशी कार्तवीर्य अर्जुन के वंशज है। ''इसके संस्थापक महाराज कोक्कल्ल ने जबलपुर के पास त्रिपुरी को अपनी राजधानी बनाया, अतएव यह वंश ''त्रिपुरी के कल्चुरि'' नाम से भी विख्यात है।''[40]

डॉ. विवेकदत्त झा लिखते हैं - ''हूणों के आक्रमण के दौरान अनेक राजनीतिक-सांस्कृतिक केन्द्र नष्ट हो गये। बुन्देलखण्ड में राजनीति अस्थिरता का सूत्रपात हुआ। छोटी-छोटी रियासतों में विभक्ता बुन्देलखण्ड को जिन वाह्य शक्तियों ने पददलित किया उनमें सम्राट हर्ष, राष्ट्रकूट, दंतिदुर्ग आर गोविंद तृतीय के नाम उल्लेखनीय है। अंततः त्रिपुरी के कल्चुरि नरेशों ने बुन्देलखण्ड को राजनीतिक स्थिरता प्रदान की। उन्होंने सांस्कृतिक पुनरुत्थान के संदर्भ में उल्लेखनीय कार्य किया।''[41] लगभग तीन सौ वर्षों तक कल्चुरियों का शासन दक्षिणी बुन्देलखण्ड पर रहा, तत्पश्चात् चन्देलों की बढ़ती हुई शक्ति से इनका प्रभाव होता गया।'' 12 वीं शती में चन्देलों और गाहड़वालों की बढ़ती हुई शक्ति के सामने कल्चुरि वंश के अन्तिम राजा नरसिंह (1155 ई.) जयसिंह और विजयसिंह (1180) न टिक पाये। 1200 ई. में देवगिरि के

राजा ने इस वंश का शासन अपने अधीन कर लिया।''[42] लेकिन कल्चुरि शासकों का उत्तराधिकारी त्रैलोक्यमल्ल 1251 ई. तक त्रिपुरी का अधिपति रहा है, इस संबंध में कुछ विशिष्ट साक्ष्यों की ओर डॉ. विवेकदत्त झा ने संकेत किया है ये लिखते हैं - ''झूलपुर ताम्रपत्र द्वारा प्रदत्त सूचनाओं के आधार पर इतिहास में परिवर्तन आवश्यक हो गया है। विजयसिंह देव का उत्तराधिकारी त्रैलोक्यमल्ल 1251 तक त्रिपुरी का अधिपति रहा, यह सब निर्विवाद है।''[43]

वस्तुतः बुंदेलखण्ड के इतिहास में कल्चुरि और चन्देलों दोनों ही वंशों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। ''सभ्यता और संस्कृति का इतिहास यह दर्शाता है कि कलचुरियों ने साधना, धर्म और चित्ताधारा के क्षेत्र में अभूतपूर्व परम्परायें स्थापित की थीं जिन्हें बाद में चन्देलों ने और आगे बढ़ाया।''[44]

13 वीं शताब्दी के अंत तक कलचुरि और चन्देल दोनों ही प्रभावहीन व शक्तिहीन हो चले।

बुन्देलों का उद्‌भव एवं विकास -

चन्देलों के पश्चात् बुन्देलखण्ड का राजनैतिक इतिहास मुगल सत्ता के उदय और बुन्देलों के उत्कर्ष का इतिहास है। ''विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में काशी के गहरवार वंश की एक शाखा का प्रादुर्भाव हुआ इसने पहले पालन के मुहीनी ग्राम को अपना निवास स्थान बनाया। वहाँ से उन्होंने इतिहास प्रसिद्ध गढ़कुंडार नामक किले पर अपना अधिकार जमाया। इस तरह उन्होंने ओरछा राज्य की नींव डाली। यह वंश बुंदेला कहलाया। इस वंश की विविध शाखाओं का अधिकार बुंदेलखण्ड के अधिकांश भाग पर अंत तक बना रहा।''[45] बुन्देलावंश के आदि संस्थापक हेमकरन माने जाते हैं, जो 1100 ई.वि. के पूर्व हुए। इसी वंश की नवीं या दसवीं पीढ़ी में महाराज रुद्रप्रताप हुए। ''बाबर की मृत्यु (दि. 26, 1530) के लगभग एक वर्ष पश्चात् बुन्देला राजा रुद्रप्रताप ने अप्रैल (1531) ई. में बुन्देलों की प्रसिद्ध राजधानी ओरछा की नींव डाली थी।''[46]

महाराजा रुद्रप्रताप के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र भारतीय चंद (सन् 1539) ने शासन संभाला। इनका शासनकाल 1539 से 1554 ई. तक रहा।[47] इस शासन काल में भारतीचंद को विभिन्न मुगल शासकों से युद्ध करना पड़ा, किन्तु अपने भाइयों की मदद से अपनी स्थिति को सुदृढ़ बनाये रखा। भारतीचन्द को अपने राज्य की सीमाओं के विस्तार के लिए उत्तर भारत के मुगल शासकों की प्रतिकूल परिस्थितियों का लाभ भी मिला।

सन् 1554 में भारतीचन्द की मृत्यु के पश्चात् उनके अनुज ''मधुकर शाह'' ने शासन की बागडोर अपने हाथों में ली और कुछ समय पश्चात् 1556 में हुमायु की मृत्यु के पश्चात् अकबर ने शासन संभाला।[48]

मुगल शासकों की राज्य विस्तार की आकांक्षायें बड़ी प्रबल थीं। बुन्देलखण्ड पर भी उनके आक्रमण होते रहते थे। मधुकर शाह स्वतंत्रता प्रेमी शासक थे। अन्य बुन्देला शासकों की तरह वे मुगलों की अधीनता स्वीकार करना नहीं चाहते थे। परिणामत: अनेक बार उन्हें मुगल सेना ने मधुकर शाह पर आक्रमण किया।[49]

सन् 1577 में अकबर ने सादिक खाँ के नेतृत्व में मुगल सेना ओरछा भेजी।[50] इसी युद्ध में मधुकर शाह के पुत्र होरिलदेव वीरगति को प्राप्त हुआ। सन् 1578 ई. में मधुकर शाह को अकबर की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी।[51] लेकिन शीघ्र ही उनकी मुगल विरोधी कार्यवाहियाँ प्रारंभ हो गई। परिणामस्वरूप - शहाबुद्दीन, आसकरन् शाहजादा मुराद के नेतृत्व में हुए आक्रमणों का सामना, मधुकरशाह को करना पड़ा। सन् 1951 में मालवा के सूबेदार शाहजादा मुराद के आक्रमण के समय मधुकर शाह ने चंबल के घने जंगलों का आश्रय लिया। सन् 1592 ई. के आसपास उनकी मृत्यु हो गई।[52] मधुकर शाह के, हारेलदेव, नरसिंहदेव, रतनसेन, प्रतापराव, वीरसिंहदेव, हरिसिंहदेव क्रमश: आठ पुत्र थे।[53] इनमें से वीरसिंहदेव को मधुकरशाह ने 1592 ई. में दतिया से लगभग छ: मील दूर उत्तर पश्चिम में बड़ौती नाम स्थान की जागीर दी।''[54] वीरसिंह देव की महत्वाकांक्षाओं एवं मुगल शासकों विरोधी कार्यवाहियों के कारण भाई रामशाह व सम्राट अकबर से सदा विरोध रहा लेकिन शाहजादा सलीम का खुला संरक्षण उन्हें मिला।

शाहजादा सलीम जब जहाँगीर के नाम से सिंहासनारूढ़ हुआ, तत्पश्चात् वीरसिंहदेव ने अनेक मुगल अभियानों में वीरतापूर्वक अपना सार्थक सहयोग दिया। अंत तक वीरसिंहदेव-जहाँगीर के संबंध मधुर बने रहे और उनकी मृत्यु जून-जुलाई 1627 ई. में जहाँगीर की मृत्यु अक्टूबर 1627 के तीन चार माह पूर्व हो गई।''[55] वीरसिंहदेव के पश्चात् उनके ज्येष्ठ पुत्र जुझारसिंह को ओरछा की गद्दी मिली। ये ग्यारह भाई थे। समस्त राज्य जागीरों के रूप में भाईयों के बीच बंट गया।

बुन्देल राजवंश में महाराज चम्पतराय का नाम भी महत्वपूर्ण है। डॉ. तिवारी के शब्दों में ''औरंगजेब की सहायता दारा विरुद्ध करने पर इन्हें ओरछा से जमुना तक का प्रदेश जागीर में दिया गया। भले ही ये दिल्ली दरबार के उमराव बन गये पर सदैव बुंदेलखण्ड को स्वाधीन कराने में व्यस्त रहे। इसी क्रम में ये औरंगजेब से भिड़ गये। बुन्देलों ने चम्पतराय का साथ नहीं दिया, फलतः बुन्देलखण्ड को साही सेना द्वारा रौंदे जाने पर उन्होंने सन् 1664 में आत्महत्या कर ली।''[56] महाराज चम्पतराय के पश्चात् उनके पुत्र छत्रसाल ने इस राज्य पर शासन किया। ''चम्पतराय के उपरान्त महाराजा छत्रसाल की बुन्देलखण्ड की स्वतंत्र सत्ता की हिमायत अविस्मरणीय है।''[57] छत्रसाल ने मुगलों की अधीनता को स्वीकार नहीं किया। औरंगजेब ने छत्रसाल को दबाने की अनेक चेष्टाएँ की किंतु सभी चेष्टाएँ व्यर्थ साबित हुईं।

सन् 1707 ई. में औरंगजेब की मृत्यु हो गई और बहादुर शाह शासक बना। छत्रसाल के शासनकाल में ही मराठों का प्रभाव बुन्देलखण्ड पर पड़ने लगा था। सन् 1731 में छत्रसाल की मृत्यु के पश्चात् उनका राज्य हिरदेशशाह जगतराय और बाजीराव में बंट गया। पेशवा को छत्रसाल ने धर्मपुत्र माना था। पेशवा को बुन्देलखण्ड के काल्पी, हटा, हृदयनगर, जालौन, गुलसराय, झाँसी, गुना, गढ़ाकोटा और सागर के प्रदेश तथा अन्य छोटी-छोटी जागीरें मिलीं। इस तरह बुन्देलखण्ड में मराठा शक्ति का उदय हुआ।

मराठा शासकों में बाजीराव पेशवा के पश्चात् बालाजीराव पेशवा (नाना

साहब) गोविंद राव पंत का प्रभाव रहा। अहमदशाह अब्दाली और मराठों के बीच हुए युद्ध में गोविन्दराव पन्त की मृत्यु हो गई। उनके पश्चात् बालाजी गोविंद और गंगाधर गोविन्द ने बुन्देलखण्ड का शासन संभाला किन्तु उन्हें सफलता न मिली। मराठा शक्ति का भी क्रमशः ह्रास होने लगा।

इसी बीच अंग्रेजों ने मुगल सत्ता के अपकर्ष, मराठों और बुन्देलों की कमजोर स्थिति को देखते हुए संवत् 1835 में ''कालपी'' पर अपना अधिकार कर लिया। संवत् 1839 में कालपी पर पुनः मराठों का अधिकार हो गया। गौड़ शासक भी अपना अस्तित्व बनाये हुए थे। बालाजी गोविंद ने रघुनाथराव (अप्पा साहब) को सागर में नियुक्त किया। गौड़ शासकों ने अपने हारे हुए प्रदेशों को पुनः जीता।''[58]

इन युद्धों में मोरोपन्त और रघुनाथराव की वीरता उल्लेखनीय थी।

मोरोपंत की मृत्यु (संवत् 1884) के पश्चात् उनके पुत्र विश्वासराव सागर सूवे का कार्य देखने लगे। इसी समय होल्करों ने सागर पर अपना अधिकार कर लिया। रघुनाराथराव ने नागपुर के भोसलों की सहायता से होल्करों को पराजित किया। ''रघुनाथराव के समय में ही संवत् 1842 में पृथ्वीसिंह के वंशज मर्दन सिंह शाहगढ़ और गढ़ाकोटा के राजा बने।''[59] इन्होंने मराठों को दो बार हराया। पेशवा के वंशज हिम्मत बहादुर और अली बहादुर के नाम भी उल्लेखनीय है। ''हिम्मत बहादुर की सहायता से ही अंग्रेजों के शासन में आ गया।''[60]

अंग्रेजों ने वर्षों इस भू-भाग पर अपना अधिकार कायम रखा। संवत् 1905 में लार्ड डलहौजी ब्रिटिश राज्य के गवर्नर बने।[61] इसी समय अंग्रेजों ने अपनी कूटनीतिक चालों व शक्ति से क्रमशः पंजाब, सतारा को अपने राज्य में मिला लिया। रानी लक्ष्मीबाई सागर के कमिश्नर की ओर से झाँसी का राज्य प्रबन्ध देखती थी।

बुन्देलखण्ड का 1857 का सैनिक विद्रोह भारत के स्वातंत्र्य आन्दोलन में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ''अंग्रेज सरकार'' के विरुद्ध सेना में खबर फैल गई

कि वह गाय और सुअर की चर्बी लगे कारतूस चलवाती है, इसी से सेना में विद्रोह फैल गया। पहले बरहामपुर की सेना ने विद्रोह किया, फिर मेरठ की सेना ने, इसके बाद दिल्ली, मुर्शिदाबाद, लखनऊ, इलाहाबाद, काशी, कानपुर, झाँसी में विद्रोह हुआ।[62] रानी लक्ष्मीबाई ने अंग्रेजों का जमकर मुकाबला किया। झाँसी से रानी कालपी पहुँची, वहाँ वखतबली मर्दनसिंह की मदद से पुनः अंग्रेजों से टक्कर ले रहे थे। काल्पी से रानी ग्वालियर पहुँची ग्वालियर से सिंधियाँ को हराकर रानी ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। सर ह्यूरोज ने ग्वालियर पर भी आक्रमण कर दिया - ''तात्या और रानी ने भीषण युद्ध किया। इसी युद्ध में रानी की मृत्यु हो गई। तात्या को बंदी बनाया गया और बाद में फाँसी दी गई। राजविद्रोह शान्त हो जाने पर बुंदेलखण्ड के सारे प्रदेश अंग्रेजी राज्य में आ गये।''[63] वास्तव में 1857 का विद्रोह पिछली शताब्दी के राजनैतिक, आर्थिक और धार्मिक कुकृत्यों की ही प्रक्रिया था जिसमें ईष्ट इण्डिया कम्पनी के सारे कारनामे प्रतिच्छादित है।''[64]

सन् 1857 की क्रांति के पश्चात् प्रथम विश्वयुद्ध के समय स्वतंत्रता संग्राम में बुन्देलखण्ड पुनः सक्रिय हुआ था। झाँसी के परमानन्द जी, कर्तार सिंह, विष्णु गणेश पिंगले, दतिया के दीवान नाहर सिंह, खनियाधाना के श्रीमान खलक सिंह जूदेव, सागर के वासुदेवराव सूबेदार आदि व्यक्तियों ने अंग्रेजी शासकों को एक बार फिर कंपित कर दिया।[65] वस्तुतः बुन्देलखण्ड ने भारत के राजनैतिक इतिहास में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निर्वाह किया है। ''स्वतन्त्रता की जिस भावना का सूत्रपात वीरसिंह देव ने किया था, मधुकरशाह और चम्पतराय ने उसे आगे बढ़ाया, छत्रसाल ने उसमें शक्तिपूरक और स्फूर्ति बनाकर मर्दनसिंह, बख्तवली के द्वारा वह अनेक शहीदों को प्राप्त हुई। रानी लक्ष्मीबाई, तात्या टोपे आदि के उत्सर्ग उसे अमर बना गये। कालान्तर में वही बीसवीं शती के प्रारम्भिक दशकों में जन आन्दोलन का आधार बन गई।''[66]

बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि -

बुन्देलखण्ड, भारतीय परम्परा में अपने गौरवपूर्ण इतिहास, प्रकृतिच्छटा, सामाजिक स्वरूप और बहुवर्णी संस्कृति के स्वरूप के कारण, महत्वपूर्ण स्थान रखता है। ''मंदाकिनी, मेकल सुतारू दक्षिण गंगा, रेवा इत्यादि नामों से विभूषिता पतित पावन नर्मदा के तटवर्ती प्रदेश में स्थित वैभवशाली नगरी का उल्लेख मध्यकालीन साहित्य में चेदि डेश और डाहल मंडल की राजधानी के रूप में हुआ है। भरत जन के नाम पर पुकारे गये डेश भारत के लगभग मध्य में स्थित बुन्देलखण्ड ही विभिन्न कालों में चेदि-डेश, डाहल और जैजाक भुक्ति अथवा जुझावत कहलाता था।''[67] इस तरह बुन्देलखण्ड कें पास, ऐतिहासिक गौरव और अतीत के समृद्धशाली संदर्भों की विशाल परम्परा है जो इसकी सांस्कृतिक विविधता का मूल कारण भी है।

बुन्देलखण्डी इतिहास में हमें बुन्देलखण्डी जनजीवन की छाप स्पष्ट दिखती है। बुंदेलखण्ड का रहन-सहन, वेशभूषा, अलंकरण, रीति रिवाज, विभिन्न संस्कार, भाषा, साहित्य, कलायें, जीवनदर्शन आदि उसके सांस्कृतिक स्वरूप की विशिष्टताओं के परिचायक हैं। बुन्देलखण्ड में सर्वत्र सांस्कृतिक और सामाजिक एकता द्दष्टव्य है। सांस्कृतिक द्दष्टि से भी यह उसी शिखर पर पहुँचा हुआ है। जिस पर कि आर्यावर्त माना जाता है। मध्यप्रदेश यद्यपि गोंडवाना उपाधि पाकर असभ्य और बर्बर कहा जाता है, तथापि उत्तर मध्यप्रदेश भारतीय इतिहास की समस्त सामान्य धाराओं, उपधाराओं, राज्य प्रणालियों उत्कर्षों और अपकर्षों का साक्षीदार और योगदाता रहा है। वैदिक युग से लेकर बौद्धकालीन, जैनकालीन, शैवकालीन और मुस्लिमकालीन सभी प्रवृत्तियों का यहीं की संस्कृति में समावेश हुआ है।[68] डॉ. लता राजपूत के अनुसार - ''बुन्देली संस्कृति में आर्य और आर्येतर संस्कृति को अलग करना संभव नहीं है, क्योंकि बुंदेलखण्ड की सामाजिक परम्परा का निर्माण आर्य और अनार्य सभी प्रकार की जातियों से हुआ है।''[69] विभिन्न प्रभावों के बाद भी बुन्देली समाज व संस्कृति अपनी सभ्यता और स्वाधीनता की रक्षा में सतत् चेष्टारत् रही है।

बुन्देली जन ने विभिन्न धार्मिक साधनाओं कलात्मक प्रयत्नों, दार्शनिक अनुभूतियों, तार्किक कल्पनाशील और व्यापक जीवन दृष्टि से जिस सांस्कृतिक स्वरूप को निर्मित किया वह विशिष्ट है। यह भू-भाग जैन, बौद्ध, शैव, शाक्त, मुस्लिम आदि विभिन्न धर्मों एवं संस्कृतियों के संपर्क में रहा है। लेकिन इसके बाद भी उसकी निजता सदैव कायम रही। धार्मिक सहिष्णुता, बहुदेववाद, समन्वयशीलता, दार्शनिकता, कलात्मकता, वैज्ञानिकता एवं समस्त जीवन का सार बुन्देलखण्डी संस्कृति में निहित है।

बुन्देलखण्ड का सांस्कृतिक इतिहास अनुपम है। रामायण में वर्णित, वाल्मीकि, अत्रि, शस्त्रभंग, सुवीक्षण तथा अगस्त्य आदि क्षत्रियों के आश्रम तथा प्रयाण से चित्रकूट तक के सभी ग्राम, नगर इसी प्रदेश के अंतर्गत थे।[70] और ''महाभारत काल में वर्णित गुरू संदीपनी मुनि का आश्रय और नरनाह शिशुपाल की राजधानी। बूढ़ी चन्देरी से लेकर तेउर रत्नपुर तक। एवं काल्पी भी प्राचीन काल में चेदि प्रदेश के अंतर्गत थे।''[71]

बुन्देलखण्ड धर्मपरायण प्रदेश है तथा बुन्देली संस्कृति धर्मपरायण संस्कृति है। बुन्देली जन ने धर्म के ताने बाने से अपनी संस्कृति को निर्मित किया है, उसका समस्त जनजीवन धार्मिकम भावनाओं से ओतप्रोत है। वैष्णव, शैव, सूर्योपासना, जैन धर्म आदि के क्रमिक विकास व प्रसार के ऐतिहासिक साक्ष्य इस क्षेत्र में बराबर मिलते हैं। बुन्देलखण्ड में पारस्परिक सद्भावना, समन्वयात्मकता तथा धार्मिक सहिष्णुता का वातावरण सदैव बना रहा।

यहाँ विभिन्न धर्मों व संप्रदायों के मन्दिरों, मूर्तियों का अस्तित्व बुन्देली संस्तुति में धार्मिकता के समन्वयात्मक तथ्यों को उद्घाटित करते हैं। ''बुन्देलखण्ड अपने गौरवशाली विलक्षण पुरातत्व के लिए प्रसिद्ध है, यहाँ धार्मिक मान्यताएँ, समन्वय के प्रयासों और वास्तुकला में समय-समय पर हुए परिवर्तनों के साथ अनेक सुन्दर शिल्पशोध हमारी गौरव गरिमा के गीत गाते आज भी उपलब्ध हैं।''[72] कला के नाम पर

यश के लिए खजुराहो के पुराने मंदिरों में से कोई एक मन्दिर ही पर्याप्त है। उन्हें देखकर प्राचीन समय के कला प्रेम, धन, बुद्धि और साहस आदि का पता चलता है।[73] देव और मानव प्रतिमाओं द्वारा बुन्देलखण्ड के धार्मिक स्वरूप और विश्वासों की जानकारी प्राप्त होती है। आभूषण पहनावा, अस्त्र-शस्त्र, नृत्य-संगीत संबंधी ज्ञान, आर्थिक समृद्धि, वास्तुमूर्ति शिल्प की बहुमुखी प्रगति तथा राजनैतिक स्थिरता का भी ज्ञान होता है। बुन्देलखण्ड ने अनेक राज्यों के उत्थान और पतन को देखा है। मौर्य बाकाटक, गुप्त, कलचुरि, चन्देल, बुन्देला आदि राजवंशों ने बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक स्वरूप को प्रकट करने में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है।

यहाँ लिखित और अलिखित साहित्य की सुविस्तृत परम्परा भी विद्यमान है। तुलसी, केशव, बिहारी, रहीम, पद्माकर जैसे हिन्दी साहित्य में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले साहित्यकार इसी भू-भाग की देन है तो बुन्देली लोकगीतों, लोककथाओं, लोकगाथाओं, मुहावरों, लोकाक्तियों आदि का विशाल भंडार भी यहाँ है।

इस भू-भाग की प्रागैतिहासकालीन संस्कृति के पुरावशेष भी प्राप्त होते हैं। डॉ. कृष्णलाल हंस लिखते हैं- ''गिजवा की पहाड़ी की एक गुफा तथा सिलहरा (शिलागृह) की गुफाओं में उत्कीर्ण गैरिक भित्तिचित्र प्रागैतिहासिक काल के ही निर्माण जान पड़ते हैं।''[74] डॉ. बलभद्र तिवारी लिखते हैं - मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की सभ्यता बहुत पहले इस भू-भाग पर नर्मदा और चम्बल की प्राचीन सभ्यताएँ प्रचलित थीं जिनका समय, प्राप्त प्राचीनतम् पत्थरों के औजारों के आधार पर लगभग पाँच लाख ई.पू. माना गया है।[75] मिर्जापुर की गुफाओं में प्राप्त भित्तिचित्र, बरौदा गाँव (सागर) के निकट प्राप्त गुहाचित्र, आबचन्द (सागर) में प्राप्त चित्र नरयावली में प्राप्त गुहाचित्र बुन्देलखण्ड के प्राचीन समाज और संस्कृति का स्वरूप निर्धारित करते हैं।

बुन्देली लोक-संस्कृति -

बुन्देलखण्ड की संस्कृति में लोकधर्मिता सर्वत्र विद्यमान है और यही लोकधर्मिता संस्कृति को शाश्वत्ता प्रदान करती है। बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि अत्यंत समृद्ध है किंतु उसके समानान्तर अवाध रूप से लोक संस्कृति की जो धारा प्रवाहित है, वह उसे विशिष्टता प्रदान करती है। बुंदेली लोक संस्कृति का सहज स्वाभाविक रूप बुंदेली लोक साहित्य में प्रस्फुटित हुआ है।

डॉ. बलभद्र तिवारी लिखते हैं- ''सुदूर अतीत में दृष्टिपात किया जाय तो बुन्देलखण्ड विभिन्न सांस्कृतिक समायोजना से संयुक्त प्रदेश है। पौराणिक काल से लेकर 10वीं शताब्दी तक के जनजीवन के संबंध में अंत: साक्ष्य से ही अधिक सहायता मिलती है। बहिर्साक्ष्य के तत्वों में पुरातत्व, वास्तुकला, चित्रकला के माध्यम से बहुत कुछ अनुमानित किया गया है। पर, वास्तविक जीवनधारा का साक्षात्कार लोक साहित्य के माध्यम से ही होता है।''[76] श्री वृन्दावनलाल वर्मा के शब्दों में- ''बुन्देलखण्ड के पहाड़, नदी, नाले, झील, सरोवर, जंगल और पक्षी यहाँ के जन को जो उल्लास और गुदगुदी, कोंच और खरोंच देते रहते हैं, इसका प्रतिबिम्ब लोकगीतों में झलक-झलक पड़ता है। जन-जन के भीतर श्रद्धा है, शक्ति है, संघर्षशीलता है और अपनी बात अपने ढंग पर कहने की प्रतिभा।''[77] वास्तव में बुन्देलखण्ड का सरल, अकृत्रिम जनजीवन समग्रता के साथ बुन्देली लोक साहित्य में व्यक्त हुआ है। लोक साहित्य लोक संस्कृति से घनिष्ठ संबंध रखता है।

शौर्य एवं वीरता, स्वाभिमान एवं दृढ़ संकल्पता, पारिवारिक जीवन मूल्यों की सरल सहज अभिव्यक्ति, समसामयिक प्रभाव, लोक साहित्य समन्वयशीलता एवं धार्मिक सहिष्णुता अथवा बहुदेववाद बुन्देली लोक संस्कृति के प्रमुख उपादान हैं, ''लोक जीवन में प्रत्येक जलधारा 'गंगा मैया' का रूप ले लेती है। आँगन-आँगन में 'तुलसीघर' और गाँव-गाँव में 'हरदौल का चबूतरा' बुन्देली संस्कृति की पहचान है।''[78] बुन्देली लोक संस्कृति की अपनी मौलिक विशेषताएँ हैं, जो उसे अनुपमता प्रदान करती है।

बुन्देली लोक संस्कृति में विभिन्न धर्मों, मतमतान्तरों, पर्वों, त्यौहारों, रीति-रिवाजों का सुन्दर समन्वय मिलता है ।

इस विस्तृत भू-भाग की संस्कृति में अद्‌भुत साम्य है । ''व्रत उत्सव, तीज त्यौहार, रस्म-रिवाज सभी जगह एक से मनाये जाते हैं। जो कजलियाँ महोबा, चंदेरी में बोई जाती हैं, वही सागर में, मंडला में भी। कजली की लड़ाइयाँ, ददरी, फागें, दिवारों, भगतें, भजन और वैवाहिक गीत सभी जगह एक से ही सुनने को मिलते हैं।''[79] ''शिल्पकला, स्थापत्य कला, चित्रकला, संगीतकला आदि प्रत्येक दृष्टि से यह भू-भाग समृद्ध रहा है। श्री धीरेन्द्र वर्मा लिखते हैं गत् 2500 वर्षों के साम्राज्यों, राजवंशों और विदेशी आक्रमणकारियों की उथल-पुथल में यद्यपि अन्य वृहत जनपदों की भाँति इस प्रदेश का स्वतंत्र राजनीतिक अस्तित्व आज नहीं रह गया है, किन्तु इसका व्यक्तित्व प्रादेशिक बोली, संस्कृति तथा सामाजिक संगठन के रूप में आज भी वर्तमान है।''[80]

बुन्देली लोक संस्कृति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। बुन्देली जन-जीवन के समस्त व्यापार एवं क्रियाकलाप, भाषा एवं साहित्य, लोक साहित्य सभी का अन्तर्भाव बुन्देली लोक संस्कृति में हुआ है। बुन्देली लोक साहित्य तो बुंदेली लोक-संस्कृति का दर्पण है। बुन्देली समाज पारिवारिक आदर्श, विषमतायें, नारी मनोभावनायें, सरसता, रसिकता, संस्कार, व्रत, त्यौहार, आशोत्त्वास और जीवन के संघर्षों से जूझता बुन्देली ''जन'' अपने सरल निश्छल रूप में बुन्देली लोकगीतों, लोककथाओं एवं लोक साहित्य के अन्य रूपों में व्यापकता के साथ उपलब्ध है।

बुन्देलखण्ड की साहित्यिक पृष्ठभूमि -

डॉ. कृष्णलाल हंस लिखते हैं - ''बुन्देलखण्ड में एक ऐसी कवि परम्परा 16 वीं शती से ही रही है, जिसके कवियों का हिन्दी के काव्य-साहित्य के विकास और समृद्धि में महत्वपूर्ण योगदान रहा है।''[81] बुन्देलखण्ड की साहित्यिक समृद्धि के संबंध में निम्न काव्य पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

"स्वर्ग में सादर पा रहा आज भी, भावुक मानसों का अभिनंदन,
दर्शन देते रहे जिसको तन धार प्रसन्न हो मारुतिनंदन।
पावन प्रेम का पाठ पढ़ा दिया, प्राण प्रिया ने किया पद-बंदन,
प्राप्त हुई तुलसी की रसायन, रामकथा का यहीं घिस चन्दन।"[82]

श्री गौरीशंकर द्विवेदी के शब्दों में – "आदिकवि वाल्मीकि, कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास, वीर मित्रोदय ग्रंथ के प्रणेता मित्र मिश्र, तुलसी, केशव, बिहारी लाल और पद्माकर जैसे संस्कृति और हिन्दी साहित्य संसार के श्रेष्ठतम् कवियों को प्रसूत करने का सौभाग्य बुन्देलखण्ड की ही भूमि को प्राप्त है।"[83]

हिन्दी साहित्य इन महाकवियों के महत्वपूर्ण प्रदेश से भली-भाँति परिचित है। भारतवर्ष में बुन्देलखण्ड का महत्वपूर्ण स्थान है। "ऐतिहासिक तत्वान्वेषियों ने बुन्देलखण्ड को भारतवर्ष का महत्वपूर्ण भू-भाग माना है। गिरिराज हिमालय को जब वे भारतवर्ष का मुकुट मानते हैं तब वीर और कवि प्रसविनी इस बुन्देल भूमि को वे सुदृढ़ उन्नत, विशाल वक्षस्थल तथा सबमें नवस्फूर्ति भरने वाला हृदय मानते हैं।"[84]

बुन्देलखण्ड की साहित्यिक गतिविधियाँ भक्तिकाल में तुलसीदास जी से प्रारंभ होकर रीतिकाल एवं आधुनिक काल में अनवरत् जारी रहीं। प्रत्येक युग में बुंदेलखण्ड ने हिन्दी साहित्य जगत को अनुपम कृतियों व कृतिकारों से समृद्ध किया है। बुन्देलखण्ड के आधुनिकयुगीन साहित्यकारों की एक सुविस्तृत परम्परा है, जिनमें कविवर मैथिलीशरण गुप्त, सियारामशरण गुप्त, वृन्दावनलाल वर्मा, मुंशी अजमेरी, गौरीशंकर द्विवेदी, कृष्णानंद जी, ऐनसाई, तानसेन, कारेवेग, गुणसागर सत्यार्थी, श्री इकराम सागरी आदि के नाम उल्लेखनीय है। बुन्देलखंडान्तर्गत, आधुनिकयुगीन साहित्यकारों की विस्तृत परम्परा मिलती है। इन साहित्यकारों में 'सैयद अमीर अली' 'मीर', तानसेन, मुंशी अजमेरी, ऐनंसाई, कारेवेग, फकीर, महबूब वावू गोरे 'मंजुसुशील' एवं पं. शिव सहाय चतुर्वेदी से तो हिन्दी साहित्य जगत् कम या अधिक मात्रा में परिचित है ही इनके अतिरिक्त मुंशी खैराती खाँ 'खान' श्री फदाली लाल सोनी 'नूतन कविराय' श्री

कन्हैयालाल जी 'लालविनीत', पं. बुद्धिलाल सी 'श्रावक' आदि ने हिन्दी साहित्य को समृद्ध किया तथा अपने प्रदेश के गौरव को बढ़ाया है। श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' के शब्दों में -

''तुलसीदास ज्ञान-गुण-सागर,
व्यास, गोप, बलभद्र जवाहर,
केशवदास कवीन्द्र कलाहार,
भाषा प्रथमाचार्य
हुए थे, इसी भूमि में आर्य।''
= = =
'प्रेम' ... व्यास ... रसिकेन्द्र ... गुणाकर,
'लालपिनीत' 'मीर' से कविवर,
काव्यकला-कमनीय दिवाकर
अमर कर गये नाम
प्रान्त यह है गुणियों का धाम्।[85]

बुन्देलखण्ड को जहाँ शिष्ट साहित्य की विशाल संपदा प्राप्त है तो लोक साहित्य का अनुपम वैभव भी यहाँ देखने को मिलता है। ''बुन्देलखण्ड का सामूहिक व्यक्तित्व यहाँ के लोक साहित्य में अधिक प्रतिबिम्बित होता है। यहाँ के जंगलों, पहाड़ों, नदियों और सरोवरों के शताब्दियों से उस रक्त को पैदा करने में सहायता दी है, जो बुन्देलखण्ड की धमनियों में आज भी वह रहा है। वह है, यहाँ का परम्परागत मौखिक साहित्य, यहाँ का वागमय, जिसकी रक्षा के लिए केवल साहित्यसेवी ही नहीं बल्कि भाषा तत्वज्ञ भी अपना सहयोग दे सकते हैं। यह बुन्देलखण्ड की आत्मा को हमारे सामने ले आता है।''[86]

''लोक साहित्य के रूप में बुन्देलखण्ड में, लोकगीतों, लोककथाओं, लोकोक्तियों, मुहावरों, वुझावलों की अपार सम्पत्ति प्राप्त है। बुंदेलखण्डी भाषा वहुत

ही श्रुतिमधुर और सरस है। बोली की मिठास के लिए लोग ब्रजभाषा की बहुत सराहना करते हैं, परन्तु बुंदेलखण्डी शब्दों में जो विनम्रता, लोच तथा सुकुमारता है उसके सामने ब्रजभाषा का लालित्य फीका पड़ जाता है।''[87] इस दृष्टि से बुन्देलखण्डी लोकसाहित्य भी भारतवर्ष में अपनी महत्ता रखता है।

बुन्देलखण्ड की धार्मिक पृष्ठभूमि -

बुन्देलखण्डीय जनपद पर आर्य और अनार्य, प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव है। धार्मिक समन्वय एवं सांप्रदायिक सद्‌भाव बुन्देलखण्डी जन की विशेषताएँ हैं।

यहाँ शैव, शाक्त, वैष्णव, जैन, मुस्लिम आदि विभिन्न धर्मों को मानने वाले लोग बसते हैं। यहाँ प्रत्येक मत मतान्तरों को मानने वालें के मंदिरों व धर्मस्थलों की प्रचुरता है जो इस भू-भाग की धर्म प्रवण संस्कृति के भी द्योतक हैं। लोकजीवन तो सर्वत्र धर्ममय है। लोकजीवन में गौरी पूजन, शक्तिपूजन, व्रत, उपवास, देवी पूजा, तुलसी पूजा आदि बुन्देली जनजीवन के आवश्यक अंग हैं। बुन्देली साहित्य और लोक साहित्य में भी धर्म की प्रबल व्यंजना मिलती है। ''यही कारण है कि धर्म का निर्वाह करने वाले चरित्र नायक कालान्तर में देवों में प्रतिष्ठापित हो गये हैं।''[88] श्री शिवसहाय जी के शब्दों में - ''बुन्देलखण्ड में अनेक देवी देवताओं की पूजा की जाती है। इनमें से कई हिन्दू धर्म के और कई अनार्य जातियों के होते हैं। वीरत्व अथवा अन्य विशेषता के कारण भी कुछ लोग देवकोटि में पूजे जाने लगे हैं। कुछ देवता कुछ खास जातियों के ही होते हैं और कुछ सार्वजनिक होते हैं।''[89] रामकृष्ण, शिव, विष्णु, जैनों के आराध्य भगवानों के मंदिर समस्त बुन्देलखण्ड में प्रचुर मात्रा में स्थापित हैं। इनके अलावा बुन्देली जन की श्रद्धा प्राप्त करने वाले ग्रामीण देवी-देवताओं के छोटे-छोटे मंदिर, चबूतरे, मढ़िया आदि भी समस्त बुन्देलखण्ड में देखने को मिलते हैं।

कुछ ग्रामीण देवता हैं - हनुमान जी, महादेव, खेरमाता, हरदौल, दूल्हादेव,

भिड़ोहिया, घटोइया, नागदेव, ठाँटिया बाबा, बरमदेव, नरबाबा रकसा, गुरैया बाबा, मरई देवी, गौड़ बाबा आदि ।[90] इनके अतिरिक्त - पार्वती, गौरी, महाकाली, हरसिद्धि आदि माताओं के प्रति भी जनमानस गहरी श्रद्धा रखता है। सती एवं अन्य स्थानीय देवी देवताओं की पूजा भी बुंदेली जनमानस में प्रचलित है ।

यहाँ कुछ ऐसे त्यौहार भी मनाये जाते हैं जो देश के अन्य भागों में नहीं मनाये जाते, जैसे - मुनरियाँ, झूला, महालक्ष्मी, जवारे, तीजा, इच्छानौमी, झंडारोपना आदि । होली, दीवाली, दशहरा, रक्षाबंधन, कृष्ण जन्माष्टमी, नवदुर्गा, गणेशपूजन आदि त्यौहारों को बुन्देलखण्ड में उत्साह के साथ मनाया जाता है। वस्तुतः बुन्देलखण्ड की धार्मिक पृष्ठभूमि समन्वयक है ।

प्राचीन और मध्यकाल में बुन्देलखण्ड -

बुन्देलखण्ड जनपद चंदेलकाल (प्राचीनकाल) में जेजाकमुक्ति या जेजामुक्ति कहलाता था। जो चंदेल नरेश महाराज यशोवर्मन (लगभग 930 ई.) तक स्वतन्त्र, शक्ति और संस्कृति का प्रमुख केन्द्र था। परन्तु उसका प्रभाव-विस्तार लगभग समस्त उत्तर भारत गंगा के बेसिन से लेकर कश्मीर में सिन्धु नदी के उद्गम तक के क्षेत्र पर था।[91] यशोवर्मन (930-50 ई.) इतना शक्तिशाली था कि कौशल, सिंहल तथा कुंतल उसके निर्देश का पालन करते थे एवं गौड़ खस, कश्मीर, मिथिला, मालवा, चेदि, कुरू, गुर्जर आदि।[92] मुसलमान आक्रमणकारियों से जहाँ भी उनका युद्ध हुआ, वहाँ मुसलमानों को चंदेलों का लोहा मानना पड़ा और वे उनकी गरिमा को डिगा नहीं सके। इतिहासकार केशवचन्द्र मिश्र ने लिखा है कि ''गण्डदेव की राष्ट्रभावना इतनी प्रखर थी कि कन्नौज के सम्राट ने तुर्क आक्रमणकारी महमूद के समक्ष आत्मसमर्पण करके देश के सम्मान को धक्का पहुँचाया, तब उसे दण्डित करने के लिए उसने अपने आत्मज विद्याधर विशाल संघ सेना के साथ भेजा।''[93] प्राचीनकाल में वैष्णव और शैव दोनों को राजाश्रय प्रदान किया था। पराक्रमी यशोवर्मन धर्मात्मा था, उसने खजुराहो में बैकुण्ठ मंदिर का निर्माण करवाया था। खजुराहो, महाबा तथा अन्य स्थानों में विष्णु मंदिर ।

धर्म के नवोत्थान से बुन्देलखण्ड में ललित कलाओं की उन्नति चरम सीमा तक पहुँच गयी थी। वास्तुकला और मूर्तिकला के नमूने और उनकी विशिष्ट अभिव्यंजन पद्धति ने ललित कलाओं के इतिहास में एक नवीन दिशा का उन्मेष किया था। खजुराहो की मूर्तियों में जहाँ जीवन और प्रकृति के विविध रूपों का अंकन हुआ है, वहाँ उनका अंगविन्यास, गठन, भंगिमा एवं अलंकरण शिल्प के नये उपकरण प्रस्तुत करते हैं। इन मूर्तियों के बाद एक साधु की आत्मानंद में लीनता अंकित है, जो विकास की स्थिति का संकेत करती है। प्राचीनकाल में बुन्देलखण्ड जनपद की राजनीति, सामाजिक, धार्मिक, सांस्कृतिक एवं कलात्मक परिस्थितियों का चित्र स्पष्ट हो जाता है। जिससे यह कथन स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने (चन्देलों) राजपूत राज्य में स्वर्णयुग का आविर्भाव हुआ।[94] बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति भारत और विश्व के अनेक जनपदों की लोक संस्कृतियों से भी प्राचीन है। नर्मदा घाटी के भू-स्तरों से पता चला है कि नर्मदा घाटी की सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता से बहुत पहले की है। नर्मदा घाटी में प्राप्त जीवाश्म और प्रस्तर उद्योग भेड़ाघाट (जबलपुर) में प्राप्त पुरापाषाण युग के प्रस्तरास्त्र और सागर की दक्षिणी पेटी में मिल प्रागैतिहासिक सामग्री से बहुत प्राचीन संस्कृति की जानकारी मिलती है। ऐतिहासिक खोजों से पता चलता है कि प्राचीन लोक संस्कृति ऐतिहासिक खोजों से पता चलता है कि प्राचीन लोक संस्कृति पुलिंद, निषाद, राबर, रामठ, दांगी और आर्येतर संस्कृतियों से प्रभावित थी। रामायण काल में आर्य ऋषियों की आश्रमी संस्कृति फूली-फली। महाभारत काल में भी वन्य संस्कृति बनी रही, पर चेदि का राजा शिशुपाल और नरवर राज्य के राजा नल, दोनों काफी विख्यात थे। लोक संस्कृति, लोकदर्शन की आत्मा है, जो उसे चेतना की संजीवनी देकर हमेशा जीवित रखती है -

मानुस देही जा दुरलभ है, आहै समै न बारंबार।
पात टूटकें ज्यों तरवर को, कभउँ लौट न लागै डार ।।

शरीर और मृत्यु का यह लोकचिन्तन तत्कालीन लोक की जागरुकता का प्रमाण है। मानव का शरीर एक दुर्लभ वस्तु है, क्योंकि बार-वार नही मिलता। विदेशी

आक्रमणकारियों के खिलाफ शौर्य और एकता की प्रेरणा देना इस युग के लोकदर्शन का आंतरिक लक्ष्य था तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप लोक ने शंकर, भैरव, चण्डिका आदि संहारकारी देवी-देवता के धर्म को चुना। शिव के साथ विष्णु, गणेश, सूर्य मुरारि और अनेक छोटे देवों की पूजा भी होती है। घरों में मूर्तियां रखी जाती थी और उनकी पूजा-विधि-विधान से होने लगी थी।[95] व्रत और त्यौहार मान्य हो गये थे और उनके कारण पुरोहित का महत्व बढ़ गया था।''[96] जनपदीय सांस्कृतिक इतिहास में चंदेलों का युग समन्वय, एकता और उत्कर्ष रहा है। इसके अतिरिक्त एक और परममूल्य था - मोक्ष की प्राप्ति या आनंद। इस संसार को नश्वर और इसी कारण मिथ्या मानते हुए धन-सम्पत्ति, रस-भोग, तन-मन, सभी परममूल्य में बाधक बताये गये है। चंदेल काल बुन्देलखण्ड का स्वर्ण युग रहा है। इसी समय उसकी राजनीतिक इकाई का जन्म हुआ

मानुस देही जा दुरलभ है आहै समैं न बारम्बार।
मरद बनाये मर जैबे को, खटिया परकें मरै बलाय ।।

इन दोनों के विपरीत आत्महत्या करना पाप माना जाता था। वेश-जाति के प्रति लोगों का विश्वास था कि ''यदि कोई देश है तो उनका जाति है तो उनकी, यदि शासक है तो उनके। लोक का यह आत्म विश्वास उस समय बहुत जरूरी था। जादू-टोने, भूत-प्रेत और तंत्र-मंत्र संबंधी विश्वास इस काल में हर वर्ग में थे।''[97] मंत्रों के बल से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती है। आंखों में अंजन लगाने से धन दिखाई देता है। प्राचीन बुन्देलखण्ड में कई प्रकार के लोकाचार प्रचलित थे। आत्महत्या को पाप और सती होने को पुण्य की तरह समझा जाता था। लौकिक रीतियों में विवाह संस्कार संबंधी रीतियों का अंकन वत्सराज 'रूपकषटकम' में हुआ है।

चंदेलकालीन लोकरंजम के साक्ष्य तत्कालीन मंदिरों, शिलालेखों और ग्रंथों में मिलते हैं। इस युग में उत्सव और यात्राएँ, दोनों होते थे। इतिहासकार अलवेरूनी ने कई उत्सव दिवसों का उल्लेख किया है। 'आल्हा' की लोकगाथा तत्कालीन रूपक और इतिहास इस तथ्य की पुष्टि करते हैं कि चंदेलकाल में नारी का अपहरण किया जाता

था, जिसकी प्रतिक्रिया पुरुष वर्ग से नहीं वरन् सम्पूर्ण नारी वर्ग से हुई है। स्कंदपुराण में जगन्नाथ जी की रथयात्रा का विशद वर्णन मिलता है। स्पष्ट है कि पौराणिक काल में यात्रा-महोत्सव का प्रारम्भ हो गया था। लोकोत्सवों में गीत, नृत्य, काव्य गोष्ठी और नाटकों का अभिनय होता था और उनके कारण ही लोकोत्सवी अनुभूति गहरी हो जाती थी। उत्सवों को स्त्रियाँ गवाक्षों से देखती थीं। इतिहासकार अलवेरूनी लिखता है कि कुछ भी खाने के पहले वे मद्य पीते हैं, तब खाने के लिए बैठते हैं। सामान्य क्षत्रिय और सामंत मद्यपान करते थे। प्राचीन बुन्देलखण्ड में स्त्रियाँ अंगियाँ, चोली और फतुही जैसे वस्त्र ऊर्ध्वभाग में धारण करती थीं। भेड़ाघाट की संगिनी योगिनी चोली जैसी और ऋक्षिणी अंगिय जैसी पहने है। प्राचीन बुन्देलखण्ड में लोकचित्र का वर्गीकरण लोक संस्कारों, विषय, माध्यम और आधारभूमि के आधार पर किया जा सकता है, पर यहाँ हम आधारभूमि के अनुसार वर्गीकरण कर रहे हैं।

(क) भूमिचित्र - भूमि या धरती पर बनाये जाने वाले लोकचित्र।
(ख) भित्तिचित्र - दीवार पर बनाये जाने वाले लोकचित्र।
(ग) पटचित्र - कागज, कपड़ा, पत्ता आदि पर बनाये जाने ...
(घ) देहचित्र - मेंहदी, महावर और गोदने से बने लोकचित्र।

आदिकालीन चंदेली संस्कृति अपनी शक्ति और प्रभावक्षमता के कारण बुन्देलखण्डी संस्कृति की केन्द्र बन गयी थी और उसे मध्य युग के गौड़, तोमर, खंगार और बुंदेले राज्यों ने पोषित किया था। चंदेलों का राज्य भले ही 13 वीं सदी के पूर्वार्द्ध तक रहा हो, लेकिन उनकी संस्कृति का प्रभाव 14 वीं सदी के अंत तक बना रहा। मध्ययुगीन बुन्देलखण्ड की गाथा आक्रमणों, युद्धों और संधियों के अक्षरों से लिखी गई है। वैसे इस जनपद में चन्देल नरेश गण्ड के राज्यकाल (1003-25 ई.) से ही आक्रमणों की श्रृंखला प्रारम्भ हो जाती है। तोमरों का शासन ग्वालियर में केन्द्रित रहा, जबकि दिल्ली सल्तनत आस-पास सिमट गयी थी। गोड़ों का राज्य भी मध्ययुग की राजनीतिक शक्ति रहा है। गोड़ों के कई राजा गद्दी पर बैठे, पर उनमें से प्रभुत्व था, प्रेमनारायण, जो

प्रेमशाह के नाम से चर्चित हुआ। उसके समय ओरछा नरेश जुझार सिंह बुन्देलों ने गोड़ों द्वारा गायों के जोते जाने का बहाना लेकर गोंडवाना पर चढ़ाई कर दी। बाद में वह गोड़ो हारा मारा गया। जुझार सिंह के बाद मुगल बादशाह शाहजहाँ ने चंदेरी के देवी सिंह को ओरछा की गद्दी पर बैठाया, लेकिन दो वर्ष तक विरोध झेलने के बाद चंदेरी चले गये। छत्रसाल ने बुन्देलखण्ड को एक राजनीति के रूप में विकसित कर दिया था, परन्तु उनके बाद राज्य तीन हिस्सों में बंट गया। मध्ययुगीन इतिहास से स्पष्ट है कि 15 वीं से 19 वीं सदी तक इस अंचल की राजनीतिक स्थिति संघर्ष प्रधान रही है। तोमर नरेशों ने बुन्देलखण्ड को एकसूत्रता में बाँधने की सफलता नहीं पायी, पर वे बुन्देली संस्कृति की रक्षा करने और लोकभाषा को जीवित रखने में अग्रणी रहे।

मध्ययुगीन बुन्देलखण्ड में सांस्कृतिक, युद्धमूलक, शासन व्यवस्था, राजनीतिक स्थिति और लोक साहित्य आदि जिसमें मध्य युग के परिनिष्ठित बुन्देली साहित्य के रचनाकार में राजनीति के प्रति सचेतना दिखलाई है। ऐतिहासिक संवंधों के विषय उसके नायकों की वीरता की प्रशस्ति तो थी, लेकिन उससे जुड़ी राजसी संस्कृति के वर्णन और देशप्रेम के संकेत यह सिद्ध करते हैं कि मध्ययुग का कवि राजनीतिक स्थितियों के प्रति पूर्णतया जागरूक था। सामाजिक परिस्थितियों के अन्तर्गत, जनपदीय समाज की समझ, जातियाँ, उपजातियाँ, विवाह-संस्था, स्त्रियों का स्थान, भोजन-पेय, वस्त्रावरण, क्रीड़ा-विनोद, लोकाचार और लोकनीति, लोक विश्वास, सामाजिक स्थिति और लोक साहित्य आदि। मध्ययुगीन समाज के विवरण अक्सर पुराणों, विदेशी इतिहासकारों के ग्रंथ, विदेशी यात्रियों के वर्णनों से भरे रहते हैं। जिनसे पूरे समाज का संश्लिष्ट चित्र तो अंकित हो जाता है। यह बुन्देलखण्ड जनपद उनमें से ही एक है जिनकी सामाजिक परिस्थितियाँ भिन्न रही हैं। मध्ययुग में स्त्रियों को उतना सम्मान प्राप्त नही था, जितना कि प्राचीनकाल में। मुसलमानों के आक्रमण के कारण नारी की स्वतन्त्रता पर अंकुश लग गया था, क्योंकि उसे पिता, पति और पति न रहने पर पुत्र के नियंत्रण में रहना पड़ता था।[98]

मध्ययुग में पुरुषों के वस्त्र धोती या परदनी, कुर्त्ता (अलका) बन्डा (कोट) पगड़ी और साफा थे। मध्ययुगीन लोकगीतों में आभूषणों के सुन्दर वर्णन मिलते है। बुन्देलखण्ड के काव्य में पैजना के झमाके तो माधुर्य के ठसकीले निनाद है जो लोकों में सनाका खींच देने में समर्थ है।

मध्ययुगीन बुन्देलखण्ड में विनोद के अनेक साधन वर्तमान थे। निवासियों विशेषतया राजाओं और क्षत्रियों का विशेष विनोद भृगया या आखेट है। मध्ययुगीन धार्मिक परिस्थितियों के अन्तर्गत धर्म का सनातनी स्वरूप और प्रवर्तन, विशिष्ट धर्म और सम्प्रदाय, लोकधर्म, धार्मिक स्थिति और लोक साहित्य आदि मध्ययुग में शैव, शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों का सामान्य रूप ही प्रचलित था तोमरकाल में नाथ-सम्प्रदाय के गुरूओं की परम्परा मिलती है।

असल में सबसे पहले राम-कृष्ण-परक लोकगीतों का जन्म हुआ, फिर उन्हीं से प्रेरणा पाकर परिनिष्ठित राम-कृष्ण काव्य रचा गया। मध्ययुग में लोककला, लोक साहित्य आदि मध्ययुग में ग्वालियर संगीत का प्रमुख केन्द्र था। चंदेरी के गायक वैजूबावरा ने लोक संगीत के माध्यम से ही मार्गों के विरुद्ध देसी संगीत की प्रतिष्ठा की थी। इस काल में लोकनृत्यों को काफी सम्मान प्राप्त था। रायप्रवीण को इन्हीं लोकनृत्यों में कुशलता के कारण दरबार और अखाड़े के लिए चुना गया था।

मध्ययुग के स्थापत्य (बुन्देलखण्डी) में जिस प्रकार विशालता और भव्यता के दर्शन होते है। लोककलाओं की एकता स्वयं सिद्ध है। उदाहरण के लिए जो नौरता की लोक कला और लोकगीत अर्थात लोक साहित्य है, वही उसके लोक संगीत, लोकचित्रों, लोकमूर्तियों और लोकनृत्यों में है।

वस्तुत: इस ऐतिहासिक संघर्ष को समझने के लिए उस समय की उन सभी परिस्थितियों को गहराई से देखने की जरूरत है, जिन्होंने भाषा को नागफाँस की तरह जकड़ लिया था। प्रत्येक सौ कोस पर भारतीय बोलियाँ बदल जाती है किन्तु चार हजार फलांग के क्षेत्र में फारसी भाषा वही है। इतनी महान भाषा हमारी बोलचाल का माध्यम है।

मध्ययुग में तात्विक विश्लेषण में लोकदर्शन, लोकधर्म, लोकमूल्य, लोक विश्वास, लोकाचार, लोकरंजन, लोकोत्सव तथा लोककलाएँ, लोकचित्रा, लोक मूर्तिकला आदि मध्ययुगीन लोकसंगीत में देसी संगीत, भक्ति संगीत, अखाड़ा संगीत, राई संगीत, राई लोक गायकी, गारी गायकी, स्वाँग लोकगायकी, दादरा, फाग, पुरानी सखयाऊ, ठढप की फांगे आदि ।

सैर - कर कूच जैतपुर से बगौरा में मेले ।

चौगान पकर गये खेल अच्छो खेले ।

बगसीस मई ज्वानन् खाँ पगड़ी सेले ।

सब राजा दगा दै गये नृप लड़े अकेले ।।

सैर गायकी बुन्देलखण्ड की मध्ययुगीन धरोहर है । सैर की फडो में दो प्रतियोगी दल प्रश्नोत्तर शैली द्वारा तोड़ करते थे । इस कारण दोनों दलों में आशुकवि बैठा करते थे, जो तत्काल रचना करते हुए उत्तर देने में कुशल थे ।

हर बोले थे रचनाधर्मी लोक गायकी की नयी पौध, जो जन-जागरण के लिए कटिबद्ध होकर उगी थी । गाँव-गाँव और नगर-नगर फैले दल, गली-गली और हार-द्धार लोकधुन में बंधी वीरतापरक गाथा या कथा सुनाते थे । न कोई दस्तक और न कोई सवाल, सिर्फ क्रान्ति को जगाने का अनुष्ठान ।

मंत्र फुरै न जाहिर होय, कित्तउ जतन करै जो कोय ।

अंगरेजन ने दओ प्रस्ताव, संधि करन खाँ पड़ो दबाव, कै हर हर वम्म ।

पारस्परिक लोकगीत किसी संस्कार, ऐतिहासिक घटना अथवा पात्र और किसी लोकोपयोगी धर्म या कर्म से जुड़े रहते हैं, जिसके कारण प्रचलन में वने रहते है ।

झाँसी की रानी के ग्वालियर में शहीद होने पर लोककवि ने लाल फाग रच डाली थी । ऐसा गीत देखे -

कट गयी झाँसी बारी रानी ।

झाँसी बारी रानी, कट गयी, झाँसी बारी रानी लाल ।

चौंतरफा से आफत आ गयी, झाँसी भई बिरानी । कट ।

घर घर पिड़न लगे अंगरेजा, लूटत है रजधानी । कट ।

काटत हाँत पाँव रजपूतन, सुनत न कोऊ बानी । कट ।

इस जनपद की कोई प्रमुख शैली गायन शैली नही बची है, जिससे झाँसी की रानी या स्वतंत्रता - संग्राम का वर्णन न हो ।

मध्यकाल में बुन्देलखण्ड की 'अखाड़ा' नामक संस्था देशी कलाओं के विकास में लगी रही । इस जनपद में लोकनृत्य के लिए 'नाच' शब्द का प्रयोग होता रहा है । छिताई चरित या छिताई कथा -

नित नवरंग अखारे होई । नट नाटक आबइ सब कोई । //210//

मध्यकाल लोककाव्य का स्वर्णयुग है । इस कालखण्ड अर्थात् 1400 ई. से 1857 ई. तक लगभग साढ़े चार सौ वर्षों में इतनी रचनाएँ रची गयीं और लोक प्रचलित हुई कि अनुमान लगाना कठिन है ।

मध्यकाल के जितने लोकगीत और लोकगाथाएँ प्राप्त है, उनका वर्गीकरण निम्न रूप में किया जा सकता है -

भक्ति परक लोक काव्य (रामपरक, कृष्णपरक, रामकृष्णेतर परक, निरगुनिया, पौराणिक लोककाव्य)

पूर्व मध्यकालीन लोककाव्य की प्रवृत्तियाँ (सांस्कृतिक लोकभक्ति लोक जीवन का आलेखन, लोकभावों में सौन्दर्य और शक्ति का मेल, गार्हस्थिक सामाजिकता, समसामयिक संस्कृति का चित्रण काव्य भंगिमाओं पर आधारित शिल्प श्रृंगारपरक लोक काव्य (कृष्णपरक श्रृंगारिक, रूप-सौन्दर्यपरक संयोगपरक, वियोगपरक, उडदीपनपरक, श्रृंगारपरक आदि) वीररसपरक एवं ऐतिहासिक लोककाव्य

(वीररसपरक, मुक्तक गीत एवं गाथाएँ. इतिहासपरक गीत एवं गाथाएँ) आदर्श व्यक्ति, परिवार, समाज और राज्य के लिए मर्यादा, त्याग, संयम, शील, कर्म, शक्ति और धर्म का जो स्वरूप जरूरी था, वह सब मानस ने कथा में घोलकर इस तरह बाँटा कि जन-जन में बहुत गहरे बैठ गया। इस जनपद के हर वर्ग ने लाभ उठाया। लोक ने संघर्ष और संयम के संस्कार रामोपासना के लिये और एक बार सारी लोकसंस्कृति राममय हो गयी। लोककवि ललकार उठा -

कोट नबै परवत नबै सिरनबत नबाये,
माथौ जनकजू कौ तब नवै जब साजन आये।

पहली पंक्ति में मध्ययुगीन राजनीति की झलक है। बड़े-बड़े किले, पर्वत और सिर शक्ति सम्पन्न के सामने झुक जाते है, लेकिन लड़की के पिता का माथा तभी झुकता है, तब उसके समधी आते है। पिता का स्वाभिमान कितना ऊँचा है, पर यह आंतरिक ऊर्जा तभी आ सकी जब वह सीता का पिता जनक बना।

मध्ययुग में चम्पतराय (1587-1661 ई.) और छत्रसाल (1649-1731ई.) बुन्देला का बुन्देलखण्ड की स्वतन्त्रता के लिए संघर्ष 1640 ई. से 1700 ई. तक लगभग 60 वर्ष निरंतर जारी रहना राष्ट्रीय चेतना के जागरण की अनोखी मिसाल है। अंग्रेजों से सनदें पाकर बुन्देलखण्ड की रियासतें अपने वैभव विलास में डूबने लगी थी, क्योंकि उनकी रक्षा का भार अंग्रेजों पर था। मध्ययुगीन गीतों के राम, सीता और लक्ष्मण पति, पत्नि और देवर है। उनके मिथक मध्ययुग के मानवीय रिश्तों को व्यक्त करने में पूरी तरह समर्थ है।

पूर्व मध्ययुग और उत्तर मध्ययुग की परिस्थितियों में अधिक अंतर नही था, परंतु विजातीय संस्कृति के हमले निरंतर जारी थे। अकबर ने हिन्दू और मुसलमानों के बीच सद्भाव स्थापित करने का प्रयास किया था, पर लोक पर उसका प्रभाव नही था।

इन परिस्थितियों में एक नयी संस्कृति का प्रादुर्भाव हुआ, जिसमें प्रतिक्रिया

के रूप में नये सांस्कृतिक मूल्यों का विकास हुआ। यही कारण है कि रूढिबद्ध रीतिपरक श्रृंगार के विरुद्ध लोककाव्य ने लोक सहज श्रृंगार को प्रतिष्ठित किया है। भक्तिपरक फागे, निरगुनिया लावनियाँ और ख्याल, पारिवारिक सामाजिक और लोकोत्सवी फागगीत एवं लोकगीत तो प्रचलन में थे ही, वीर रस परक एवं देशप्रेम परक गीत भी अपनी भूमिका का निर्वाह करते है।

रियासतों के विलयन से दरवारीपन की प्रवृत्ति कम तो हुई है, पर पूरी तरह नही गयी रियासती क्षेत्रों में उतना जोर नही था, जितना गैर रियासती क्षेत्रों में रहा। असल में, रियासत का आंतरिक शासन भारतीय नरेश के हाथों में था, पर नकेल अंग्रेजों के हाथों में। इस कारण इन रियासतों में संघर्षधर्मी चेतना उतनी असरदार नही थी। दूसरे रियासतें राज्य छिन जाने के भय से द्विविधा में रही। इस कारण रियासतों में राष्ट्रीयतापरक लोककाव्य को दुंदकी कुछ बिलम्ब से बजी।

बुन्देलखण्ड का वर्तमान

सांस्कृतिक संक्रमण के वर्तमान युग में परिवर्तन की कई दिशाएँ खुल रही है। एक ओर पश्चिमी विज्ञान और बौद्धिकता के प्रभाव से आयी नयी जीवन-दृष्टि और पद्धति के अनुकरण से पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिससे हमारी अस्मिता तक को खतरा हो गया है। दूसरे, हम त्याग-बलिदान के उद्देश्य से भटककर उपभोगवादी हो गये है। तीसरे, भौतिकतावादी मूल्यों के बढ़ाव में हम व्यक्ति केन्द्रित होकर लोकहित से कट गये है। चौथे, राजनीति के समाज में हावी होने से राजनीतिक लाभ के लिए हम संस्कृति के राजनीतिकरण में उलझे हुए है। इस प्रकार एक ओर अपसंस्कृति का हमला है, तो दूसरी ओर आधुनिक कहलाने के लिए पश्चिमीकरण की प्रकृति का प्रभाव है।

समाजहित संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य है, किन्तु उसके स्थान में व्यक्तिहित को अपनाकर समाज से विमुखता की स्थिति अपसंस्कृति की प्रमुख विशेषता है। परिवार की मर्यादा की लक्ष्मण रेखा लाँघकर सतीत्व की प्रतीक नारी का भोगोन्मुखी

रावण के दिन दहाड़े, घूमना, फिरना, भोग-विलास पर आधारित संवेदना द्वारा निर्धारित जीवन का दृष्टिकोण, शारीरिक सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए नारी के अंगों की शीलहीन क्रीड़ा और शराब से लेकर भंयकर पीड़ादायी मद्य के ग्रहण से निर्लज्ज मुद्राएं सब समाज के लिए घातक है ।

इतिहास के उदाहरणों का संकेत किसकी तरफ है ? स्पष्ट है कि दो विदेशी संस्कृतियों के प्रबल आक्रमण हुए पर लोक संस्कृति ने ही सुरक्षा की । सबसे जोरदार हमला हुआ था सूफियों का जिसके कारण दलित और पिछड़ी जातियों के लोगों का धर्म बदला और फिर संस्कृति बदली । सूफियों ने उन्हें अपना लिया । इस परिवर्तन के सामने खड़ी हो गयी लोकसंस्कृति, जिसने अपने कछुआ-दर्शन से बिना किसी आन्दोलन, नारेबाजी और हिंसा के संस्कृति की अस्मिता बचा ली ।

लोकसंस्कृति का संघर्ष अहिंसक और मौन संघर्ष है, जो लोक की आंतरिक शक्ति के बल पर लड़ा जाता है । अपसंस्कृति के समूह विभाजित है और उनमें चार-छः की इकाई ही होती है, जबकि लोक एक गाँव नगर अथवा जनपद का होता है । दूसरी विशेषता यह है कि लोक में व्यक्तिकेन्द्रिकता की शक्ति का कोई अर्थ नही है । अगर गहराई से देखा जाय तो एक युवा या युवती एकान्त में शराब पी सकते है, नारी पर बलात्कार कर सकते है और अपसंस्कृति द्वारा 'सुख' की प्राप्ति कर सकते है, लेकिन उस गाँव या नगर की समाज के सामने वे कोई भी पाप नही कर सकते ।

वैज्ञानी बोद्धिकता का आशय उस बौद्धिकता से है, जो विज्ञान की कोख से जन्मी है और जिसमें विज्ञान जैसी संवेदनशीलता है, रागात्मकता का पूर्ण अभाव है और रसहीन जटिलता है । इस प्रकार की बौद्धिकता में बुद्धि का पूरा उपयोग होता है, लेकिन हृदय बुद्धि को भेंटता नही । दूसरे शब्दों में, यह बौद्धिकता भावशून्य होती है । उसमें कोई संवेदना नही रहती । आधुनिक व्यक्ति भी संवेदन शून्य हो गया है । पड़ोस के परिवार में किसी की मृत्यु हो जाने पर वह दुखी नही होता और सहानुभूति जताने बगल के घर में नही जाता । बाजार के चौराहे पर कोई दुश्मन किसी व्यक्ति को दिनदहाड़े

गोली मारकर हत्या कर देता है, पर हत्यारे के विरोध में कोई गवाही देने को तैयार नही होता ।

वर्तमान समाज में अर्थ का महत्व इतना बढ़ गया है कि चाहे सुरक्षा का प्रश्न हो, चाहे संस्क्रति का, बिना अर्थ के कुछ भी सम्भव नही है । आर्थिक क्रियाएँ जीवन का केन्द्र बनती जा रही है । अर्थ ने धनी और निर्धन, दो वर्गों में समाज को बाँट दिया है और दोनों के बीच पलता आर्थिक वैषम्य गरीबी, बेरोजगारी, शोषण आदि का जिम्मेदार है ।

आशय यह है कि जीवन में कोई ऐसा क्षेत्र और विचार नही है जो अर्थवाद से प्रभावित न हो । इसी समस्या के कारण आर्थिक शोषण ऐसा असाध्य रोग है जिसका उपचार सम्भव नही रहा । उसी से अंकुरित हुई है सभी तरह की समस्याएँ, जो मानव को आखेट करती रहती है । बुद्धि की तुलना में धन का कोई महत्व नही है । एक पौराणिक कथा में महाराज रघु द्वारा दान के लिए सत् संकल्प करने पर उनके कोषागार में स्वर्ण की इतनी वर्षा होती है कि उनके गुरू भी सारा स्वर्ण लेने को तैयार नही होते और रघु अपने कोषागार में नही रखना चाहते है । यह झगड़ा भी विचित्र है । इस कथा में दो वातें स्पष्ट है । एक यह है कि सत्संकल्प से समृद्धि (धन) का अभाव नही रहता और दूसरी यह है कि मनुष्य को उतना ही धन लेना चाहिए, जितना उसे आवश्यक हो । वर्तमान बुन्देलखण्ड के गावों में ही नही नगर में भी बुन्देलखण्ड का पूरा वर्ग बन गया है । गाँवों में युवा जानबूझकर बेकार घूमते है । असल में, जमींदार वर्ग और धनी कृषक वर्ग के लड़के शहर में पढ़कर शिक्षित हो जाते हैं और नगर के युवाओं का अनुकरण करते हुए गाँव के व्यवसाय अपनाना अपनी प्रतिष्ठा के खिलाफ समझते है । इसीलिए गाँव के वड़े बूढ़े कहा करते है कि 'तनक पढ़े सें हर से गये', ज्यादा पढ़ से घर सें गये (कम पढ़े-लिखे हल नही चलाते और ज्यादा पढ़कर घर-गाँव छोड़ देते हैं) वरना गाँव में इतना काम है कि बेरोजगार होने का प्रश्न ही नही । उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों और विहार में मैंने अवकाश के समय प्राध्यापकों तक को खेतों में पानी देते देखा है, पर शिक्षित युवा कामचोर हो गया है ।

नये हरवारे की सुगर दुलइया, सींकन कजरा देय।

हर के मारे भोंदू सो गये, वाकौ कजरा लहरियाँ लेय।

पहला उदाहरण खेत जोतते समय गाया जाता है। श्रम का परिहार करने के लिए किसान सैरा गाते हैं। आज भी ऐसे वर्ग के लोग मिलते है और अपने को अधिक संस्कृत समझते है। व्यक्तिवादी दृष्टि, व्यवहार और संस्कार उन्हें पूरा पश्चिमी बना लेते है। पश्चिमी संस्कृति में ढला व्यक्ति भारतीय की पहिचान खोने लगते है और वह मिश्रित लक्षणों के कारण न पश्चिम का हो पाता है और न पूर्व का। पश्चिमीकरण की प्रक्रिया ने भारत ने अंग्रेजों और अग्रेंजियत का अनुयायी ऐसा वर्ग उत्पन्न किया था, जो हाड़-माँस से भारतीय था और भावना एवं विचार से पश्चिमी। उसे हम यदि बीच का दलाल कहें, तो अनुचित न होगा। चाहे व्यापार विभाग हो, चाहे रक्षा और चाहे अन्य, यह दलाल-वर्ग सब क्षेत्रों में मौजूद था।

प्रश्न उठता है कि पश्चिमीकरण के प्रदूषण से क्या लोकसंस्कृति मुक्ति दिलाने में सक्षम है। जातिवाद, साम्प्रदायिकता, सामाजिक विघटन, भौतिकता, आर्थिक शोषण, सामंतवाद, क्षेत्रवाद, साम्राज्यवाद आदि में लोक संस्कृति की उपयोगिता बताई गयी है।

यह उपभोक्ता संस्कृति अनुकरण की सीढ़ियाँ चढ़ते हुए महानगर से नगरों तक और नगरों से कस्बों तक तथा गाँवों तक पहुँच गयी है। गाँव का वातावरण इतना तटस्थ है कि चाहे जो फेंक दो उसकी जमीन पर उसकी जमीन पर सब कुछ उग आयेगा नीम की दातून करने वाले गाँव अव टूथपेस्टों के विज्ञापन से प्रेरणा लेते है, इसी स्थिति को देखकर विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की पारखी आँकड़े इस आकर्षण ढंग से रिझा रही है कि भारतीय उपभोक्ता बरबस मोहित हो जाता है।

लोक संस्कृति से कितने लोग लगाव रखते है और लोक संस्कृति के प्रति उनकी निष्ठा कितनी है। महानगरों, नगरों और कस्बों के निवासियों को छोड़कर यदि छोटे कस्बों और गाँवों की जनसंख्या 75-80 प्रतिशत है, तो स्त्रियाँ (क्वाँरी कन्याएँ एवं

विवाहित) 37-40 प्रतिशत के बीच होगी। बुन्देलखण्ड में तो सभी स्त्रियों का लोकसंस्कृति के प्रति लगाव निश्चित है।

लगाव और आसक्ति में अन्तर है लगाव का आधार विषय के प्रति रुचि होती है, जबकि आसक्ति में लगाव की चरम सीमा होती है। लोकसंस्कृति के प्रति आसक्ति नही हो पाती। जहाँ तक निष्ठा का प्रश्न है, उसकी गहराई नापी नही जा सकती। निरपेक्ष होकर निर्णय लिया जाय, तो कम ही लोग निष्ठावान् मिलेंगे।

आधुनिक काल में दो प्रकार के लोकचित्र मिलते है - एक तो व्रत और त्यौहारों में स्त्रियों द्वारा लिये गये लोकचित्र तथा दूसरे व्यावसायिक होने के कारण वैयक्तिक कलात्मकता से विशिष्ट होने का दावा कर सकते है।

आधुनिक काल की मृण्मूर्तियों के इतिहास में छतरपुर का योगदान विशिष्ट रूप में महत्वपूर्ण रहा है। इन लोकमृण्मूर्तियों की पहली विशेषता यह है कि वे परम्परित होते हुए भी मौलिक है और दूसरी यह है कि उनमें लोक कल्पना का प्रयोग अधिक हुआ है।

विवाहपरक कथागीत एवं लोकगाथा -

मुझे तीन विवाहपरक कथागीत मिले है। पहला गीत भातगीत है, जिसमें भात देने में विलम्ब का मनोविज्ञान निहित है। भाई के पास भात का न्यौता आने पर पत्नि के सहमत न होने पर भी भाई गाड़ी में लाद भात की सामग्री ले जाता है। सामग्री अधिक होने से वोझ के कारण बैल बार-बार बैठ जाते है, जिससे बिलम्ब हो जाता है। फलस्वरूप एक तरफ भाई की बैचेनी है, तो दूसरी तरफ बहिन की।

सिक्का तो दीने वीरा डेढ़ सौ, पियरी सी मुहरे पचास।
सावन भादों झर परै जैसें, मोरे बीरा झर करे मँड़वे के बीच ।।

दूसरे कथागीत में सास ने अपने दामाद को विष देकर मार डाला है, जिससे उसकी पुत्री दृढ़ है कि वह कभी माता के यहाँ न आयेगी -

मैया जियत न आहो तोरी पाहुनी,

बिष दैके मारे, जहर दैकें मारे, पंछी पाहुने ।

यह सुनकर माता उसे बूँदी का राज्य और बारी का परगना देने की इच्छा प्रकट करती है, लेकिन उसकी पुत्री उसे ठुकराकर कहती है -

मैया मोरी बर जाय गढ़ बूँदी राज,

बर जाय बारी को परगनो ।

विष दैंके मारे, जहर दैंके मारे पंछी पाहुनें ।।

तीसरा गीत भी एक त्रासदी बनकर रह गया है। उसमें 12 वर्ष से परदेश में रहने वाला पति अपनी पत्नि को मायके में तो विवश करता ही है, उसके आने का कोई विश्वास नही करता। फलस्वरूप उसके (पति के) आने पर पत्नि की भौंजाईयाँ ठीक से स्वागत नही करती, जिसे ताड़कर उसका पति उसे डोली में वैठाकर ले चलता है। मार्ग में बरगद के नीचे रुकने पर पत्नि को साँप डँस लेता है। भाग्य के खेल ने उसे मिलन सुख नही भोगने दिया। सारा गीत वर्णनात्मक है।

इस युग के कृष्णपरक गीतों में गोपियों और राधा पुरत्व - मन में बैठी नारी तथा कृष्ण नारी-मन में बैठे पुरत्व के प्रतीक हैं। दोनों एक दूसरे के पूरक होकर गाँव के स्वच्छंद प्रेम-व्यापार के साकार पात्र बन जाते, यदि उन्हें राधा-कृष्ण का नाम न दिया जाता।

इस कालखण्ड में हरदौल और पारीछत दो व्यक्तित्व वलिदानी रहे है। हरदौल लाला विदेशी साजिश के शिकार हुए, क्योंकि वे मुगल सरदार हिदायत खाँ के कट्टर विरोधी थे। उन्हें भाई के शक और भौजी के पतिव्रत्य के कारण विषाक्त भोजन लेना पड़ा। भौजी के पातिवृत्य धर्म की रक्षा के लिए हरदौल के बलिदान और भांजी के

विवाह में भात देने के चमत्कार के कारण लोकदेव बन गये थे ।

एक तथ्य की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करना जरूरी समझती हूँ कि बुन्देलखण्ड की लोकसंस्कृति वैदिक संस्कृति से भी अधिक पुरानी है । वैदिक काल में यहाँ आर्य संस्कृति का प्रवेश नही हुआ था, क्योंकि उत्तर वैदिक साहित्य में ही नर्मदा नदी का नाम मिलता है बुन्देलखण्ड के प्राचीन निवासी पुलिन्द, किरात, शबर (सौंर), विन्ध्यमौलेय आदि अनार्य जातियाँ थी और उनमें लोकगीतों और लोक कथाओं का प्रचलन था । यह बात अलग है कि उनकी भाषा बुन्देली नही थी । उनकी लोककथाएँ वृक्ष, पशु-पक्षी, पर्वत और आश्विक संस्कृति से जुड़ी थीं । उनमें दैवी या शक्ति के प्रति अटूट विश्वास था ।

आधुनिक काल में लोककथा का ह्रास हुआ है, पर मनोरंजनपरक लोक कथाएँ कहना-सुनना गाँवों की अथाइयों में होता रहता है । 'अक्ल बड़ी या भैंस' नामक कथा में घर में आग लग जाने पर मालिक के कान में धीरे से कहना, ठाकुर के शरीर से सर्दी के कारण भाप निकलने पर गोबर, दही, मट्ठा डालना मनोरंजन का कारण है । इसी तरह 'ठनठनराय' की कथा में अपने अनुभव व्यक्त करने पर भी रंजन होता है -

लकरी बेंचत लाखन देखे, घास खोदतन घनघनराम ।
अमर हते जे मरतन देखे, तुमइँ भले मोरे ठनठनराम ।।

आधुनिक काल में अपसंस्कृति के विरोध के लिए नीतिपरक लोककथाओं का प्रचलन उपयोगी सिद्ध हुआ है, क्योंकि नीति की शिक्षा ही संस्कृति की रक्षा कर सकती है । ओरछा के स्व: भगवान सिंह गोंड़ ने 'अस्थाई की वातें' शीर्षक से लोककथा की शैली में चार भाग प्रकाशित किये थे, जिनमें आज की परिस्थिति के अनुकूल बुन्देली ग्रामीण संस्कृति के चित्र उभरे हैं और नीतिपरक सीखे भी है ।

आधुनिक लोककथा है 'गरीब की हाय' जिसमें एक गरीब बुढ़िया की हाय एक वीर को प्राणहीन कर देती है । वह वीर था गंगाधर, जो तालाब का पानी मुँह लगाते

ही सुढ़क लेता था और वटवृक्ष अपने आंलिगन से उखाड़ फेंकता था। एक बार कुछ लोग नदी के इस पार से पत्थर फेंकने का खेल, खेल रहे थे। गंगाधर ने एक चट्टान उखाड़ी और उसे दूसरी तरफ फेंक दिया। चट्टान एक बुढ़िया की झोपड़ी पर गिरी। झोपड़ी एक गरीब बुढ़िया की थी। उसने झोपड़ी नष्ट होते देखी और लम्बी साँस ली। हंसता हुआ गंगाधर कटे वृक्ष की तरह गिर पड़ा और उसके प्राण-पखेरू उड़ गये। इससे यह सीख मिलती है कि गरीब को नही सताना चाहिये। आजादी के बाद देश की आर्थिक स्थिति सुधारने के लिए बड़े कारखाने लगाकर पहला प्रयत्न हुआ, जिससे औद्योगीकरण का समारम्भ और एक नये पूँजीवाद का जन्म हुआ, जबकि महात्मा गाँधी खादी जैसे लघु उद्योग धन्धों के द्वारा जहाँ हर गाँव को आत्मनिर्भर बनाना जरूरी मानते थे, वहाँ हर व्यक्ति को रोजगार देना उचित समझते थे। इसीलिए उन्होंने स्वतंत्रता के पूर्व खादी के द्वारा स्वदेशी पर बल दिया था और विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का आन्दोलन खड़ा किया था। वे उत्पादक शिक्षा पर भी जोर दे रहे थे। दूसरी तरफ जवाहर लाल नेहरू (प्रधानमंत्री) इतने विशाल देश और इतनी अधिक जनसंख्या के लिए बड़े कारखाने आवश्यक मानते थे। इसी वजह से औद्योगीकरण हुआ, वर्ग बने और वर्गसंघर्ष भी शुरू हुआ। उसी कोख से साम्यवादी विचारधारा जन्मी, जिसने जीवन की कटु वास्तविकताओं की ओर मोड़ा।

सांस्कृतिक संक्रमण के वर्तमान युग में परिवर्तन की कई दिशाएँ खुल रही है। एक ओर पश्चिमी विज्ञान और बौद्धिकता के प्रभाव से आयी नयी जीवन दृष्टि और पद्धति के अनुकरण से पश्चिमीकरण की प्रवृत्ति बढ़ रही है, जिससे हमारी अस्मिता तक को खतरा हो गया है। दूसरे हम त्याग-बलिदान के उद्देश्य से भटककर उपभोगवादी हो गये है। तीसरे भौतिकवादी मूल्यों के बढ़ाव में हम व्यक्ति केन्द्रित होकर लोकहित से कट गये है। चौथे, राजनीति के समाज में हावी होने से राजनीतिक लाभ के लिए हम संस्कृति के राजनीतिकरण में उलझे हुए है। इस प्रकार एक ओर अपसंस्कृति का हमला है, तो दूसरी ओर आधुनिक कहलाने के लिये पश्चिमीकरण की प्रकृति का प्रभाव है।

समाजहित संस्कृति का प्रमुख उद्देश्य है, किन्तु उसके स्थान में व्यक्तिहित को अपनाकर समाज से विमुखता की स्थिति अपसंस्कृति की मुख्य विशेषता है। परिवार की मर्यादा की लक्ष्मण रेखा लाँघकर सतीत्व की प्रतीक नारी का भोगोन्मुखी रावण के साथ दिनदहाड़े घूमना, भोग-विलास के मूल्य पर आधारित संवेदना द्वारा निर्धारित जीवन का दृष्टिकोंण शारीरिक सौन्दर्य के प्रदर्शन के लिए नारी के अंगों की शीलहीन क्रीड़ा और शराब से लेकर भयंकर पीड़ादायी मद्य के ग्रहण से निर्लज्ज मुद्राएँ सब समाज के लिए घातक है।

आज वैज्ञानिक प्रगति और तज्जन्य बौद्धिकता एवं भौतिकता के विकास के कारण परिस्थितियाँ बदल गयी हैं। आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था तथा धार्मिक और सांस्कृतिक चेतना में एक स्पष्ट परिवर्तन दिखाई पड़ता है।

इस कालखण्ड में लोकगीतों की विविधता इसलिए मिलती है कि लोक और लोककवि, दोनों लोक चेतना के प्रति सचेत रहे हैं। इस सचेतनता के दो कारण स्पष्ट है।. एक तो विदेशी और अपभ्रष्ट संस्कृति का हमला, जिससे इस युग का सतर्क साहित्यकार अपनी भूमि के और जन-जन के साहित्य से जुड़ा। दूसरे यह युग प्रजातांत्रिक मूल्यों का था, जिससे सृजक साहित्यकार ने लोकसंस्कृति और लोक साहित्य को पहचाना, अपनाया और महत्व दिया।

(1) फाग - सैर - लावनी लोक काव्य

(2) यथार्थपरक लोककाव्य (समस्यापरक सहित)

(3) संस्कृतिपरक लोककाव्य (लोकोत्सवी सहित)

(4) ऋतु और कृषि - परक लोककाव्य

(5) मनोरंजन परक लोककाव्य (बाल, खेल, हास्य गीत)

(6) कथागीत या आख्यानक लोककाव्य

लोकगीतों में लोक जीवन का यथार्थ तो रहता है, पर तटस्थ रूप में, बिना किसी प्रतिबद्धता के। इस कालखण्ड के यथार्थपरक लोकगीत संख्या में सबसे अधिक

है और फाग, सैर एवं लावनी की गणना छोड़कर कुल 115 गीतों में 30 यथार्थपरक गीतों का महत्व प्रभावकारी ही है सामाजिक यथार्थ से संबद्ध पारिवारिक यथार्थ के गीत ही अधिक है। वास्तव में, लोकगीत की पहुँच परिवार तक रही है। इस कारण समस्याएँ भी पारिवारिक है।
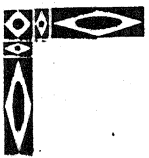
आज हर क्षेत्र में राजनीति का बोलबाला है। साहित्य में भी राजनीति का हस्तक्षेप स्वाभाविक है। कुछ तो साहित्यिक नेतागिरि ही करते रहते है। विचित्रता यह है कि बहुसंख्यक गाँवों पर अल्पसंख्यक नगरों की राजनीति हावी रहती है। साहित्य में भी बहुत कुछ यही स्थिति है। नगरों में साहित्य की छोटी-बड़ी संस्थाएँ है, केन्द्र है, साहित्य के महत्वपूर्ण प्रतिनिधि है और उन्हें सम्मानित-पुरस्कृत करने वाले अभिजन है। विश्वविद्यालय भी नगरों को गौरवान्वित करते हैं और उनके हिन्दी विभागों के आदान-प्रदान के व्यापार नगरों से ही चलते हैं। इन्हीं कारणों से नगरों का साहित्यकार अनेक सुअवसर पा जाता है और गाँव वंचित रहता है। इसी मानसिकता से प्रेरित होकर गाँव का कालीदास नगर की ओर दौड़ता है। यदि वह नगर से कोई सम्बन्ध न रखे, तो हमेशा के लिए अपना अस्तित्व विलीन कर कोई ग्रियर्सन मिल जाये। आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि बुन्देलखण्ड की मिट्टी में दबी कुछ पाण्डुलिपि ऐसी है, जिनके प्रकाशन से हिन्दी साहित्य में प्रतिष्ठित मान्यताएँ बदल जायेंगी।

सन्दर्भ सूची

(1) बुन्देलखंड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी, पृ. 01.

(2) प्रेमी अभिनन्दन ग्रंथ : संपादक- यशपाल जैन, पृ. 565.

(3) बुन्देलखण्ड का भाषा शास्त्रीय अध्ययन : डॉ. रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, पृ. 15

(4) बुन्देली काव्य परम्परा (प्रथम खंड - प्राचीन काव्य) : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 54.

(5) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. 3.

(6) बुन्देली और इसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. 14.

(7) बुन्देली का भाषाशास्त्रीय अध्ययन : डॉ. रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, पृ. 3.

(8) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. 2.

(9) ओरछा गजेटियर, पृ. 12/महाराज छत्रसाल बुन्देला : डॉ. भगवानदास माहौर, पृ. 30.

(10) बुन्देलखण्ड का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक अनुशीलन : डॉ. रामस्वरूप ढेंगुला, पृ. 22

(11) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. 3.

(12) बुन्देली लोक साहित्य : डॉ. श्रीवास्तव स्नेही, पृ. 3.

(13) बुन्देली लोककाव्य (भाग-1) : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 5.

(14) प्राचीन भारत का इतिहास : डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, पृ. 65-67.

(15) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 15.

(16) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. 4.

(17) बुन्देली लोक काव्य, भाग-1 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 7.

(18) इनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिका : अध्याय चार, पृ. 407.

(19) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल हंस, पृ. 3.

(20) प्राचीन भारत का इतिहास : बी.डी. महाजन, पृ. 175.

(21) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 14.

(22) बुन्देलखण्डी लोक गीत : श्री शिवसहाय चतुर्वेदी, पृ. 14.

(23) भारतभूमि और उसके निवासी : जयचन्द्र विद्यालंकार, पृ. 65.

(24) मधुकर, पाक्षिक पत्र, संपादक- पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, 16 अप्रैल, सन् 1942, पृ. 2.

(25) चन्देल और उनका राजत्वकाल : बी.ए. स्मिथ, पृ. 6.

(26) लिंगविस्टिक सर्वे आफ इंडिया, अध्याय 9, भाग-1, पृ. 36.

(27) बुन्देलखण्डी लोकगीत : शिवसहाय चतुर्वेदी, पृ. 1.

(28) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 23.

(29) बुन्देलखण्ड के लोकगीत : श्री उमाशंकर शुक्ल, पृ. 9.

(30) भारतीय संस्कृति : प्रो. शिवदत्त ज्ञानी, पृ. 53.

(31) बुन्देली लोककाव्य, भाग-2 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 10.

(32) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. .

(33) प्राचीन भारत का इतिहास : डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी, पृ. 209.

(34) विन्ध्य भूमि : कुन्ती देवी अग्निहोत्री, पृ. 29.

(35) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी, पृ. 27.

(36) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 24.

(37) कंट्रीब्यूशन टू दी हिस्ट्री ऑफ बुन्देलखण्ड, भाग-1, पृ. 1-53.

(38) बुन्देली लोककाव्य, भाग-1 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 15.

(39) विन्ध्य भूमि : डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल, पृ. 43.

(40) ईसुरी 21/83-84 सं. कांतिकुमार जैन, लेख बुंदेलखण्ड का प्रारम्भिक इतिहास, विवेकदत्त झा, खंड-5, पृ. 5.

(41) बुन्देली लोककाव्य, भाग-1 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 15.

(42) ईसुरी 1/सन् 1983-84 सं. डॉ. कांतिकुमार जैन, लेख- बुंदेलखण्ड का प्रारम्भिक इतिहास, विवेकदत्त झा, खंड-पांच, पृ. 5.

(43) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 28.

(44) बुन्देलखण्डी लोकगीत : श्री शिवसहाय चतुर्वेदी, पृ. 14.

(45) वीरसिंह देवचरित : श्री केशवदास, पृ. 37.

(46) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी, पृ. 125.

(47) वीरसिंह देवचरित : श्री केशवदास, पृ. 38.

(48) छत्रसाल बुन्देला : डॉ. भगवानदास गुप्त, पृ. 20.

(49) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी, पृ. 127.

(50) वही, पृ. 127.

(51) वही, पृ. 127.

(52) वीरसिंह देवचरित : श्री केशवदास, पृ. 39-41.

(53) वही, पृ. 43.

(54) ओरछा गजेटियर, पृ. 24.

(55) बुन्देली लोक काव्य, भाग-1 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 22.

(56) ओरछा का इतिहास : ठाकुर लक्ष्मण सिंह गौर, पृ. 41.

(57) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी, पृ. 232.

(58) बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास : गोरेलाल तिवारी, पृ. 255.

(59) बुन्देली लोक काव्य, भाग-1 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 26.

(60) वही, पृ. 26.

(61) वही, पृ. 26.

(62) बुन्देली लोक काव्य, भाग-1 : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 28.

(63) बुन्देली काव्य परम्परा, द्वितीय भाग : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 9.

(64) दैनिक मध्यप्रदेश, डॉ. भगवानदास माहौर, पृ. 51.

(65) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 29.

(66) ईसुरी 1/83-84 सं. डॉ. कांतिकुमार जैन, लेख- बुंदेलखण्ड का प्रारम्भिक इतिहास, डॉ. विवेकदत्त झा, खंड-5, पृ. 3.

(67) बुन्देलखण्ड के लोकगीत : उमाशंकर शुक्ल, पृ. 16.

(68) बुन्देलखण्ड के रामकाव्य का अनुशीलन (शोध प्रबंध), डॉ. लता राजपूत, पृ.

(69) बुन्देली काव्य परम्परा, द्वितीय भाग : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 48.

(70) बुन्देलखंडीय इतिहास के साधन : श्रीकृष्ण-बलदेव वर्मा, पृ. 18.

(71) क्षुल्लक चिदानंद स्मृति ग्रंथ : सं. पं. गोरेलाल शास्त्री, पृ. 114.

(72) मधुकर, पाक्षिक पत्र : प्रान्त निर्माण अंक, लेख- गरीब बुंदेलखंड, लेखक- परमेश्वरी दयाल निगम, पृ. 204.

(73) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल, पृ. 17.

(74) बुन्देली समाज और संस्कृति : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 138.

(75) बुन्देली और उसके क्षेत्रीय रूप : डॉ. कृष्णलाल, पृ. 17.

तृतीय अध्याय

बुन्देलखण्ड के मुसलमान कवि : सोलहवीं शताब्दी

मियाँ तानसेन

- परिचय
- काव्य-ग्रन्थ
- समीक्षा

कारे बेग फकीर (कारे कवि)

- परिचय
- कविता
- समीक्षा

मियाँ तानसेन

परिचय :

श्री तानसेन के जन्म-स्थान, जन्मतिथि एवं मृत्यु संवत् के विषय में अनेक मत है। अत: इस सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय प्रगट करना सही प्रतीत नहीं होता है। ''कहा जाता है कि तानसेन का जन्म ग्वालियर के निकट बेहट नामक गाँव में हुआ था। आपके पिता मकरन्द पाण्डे ग्वालियर नरेश के आश्रय में रहते थे। तानसेन को तानसेन की पदवी ग्वालियर नरेश द्वारा मिली थी। तानसेन के पिता के पुत्र अल्पायु में ही मर जाते थे, अत: उस समय की प्रथानुसार वे तानसेन को बाल्यावस्था में ही एक मुसलमान साधु महमूद गौस को सौंप कर तीर्थ-यात्रा को चल दिये थे। उस साधु ने तानसेन का पालन पोषण किया व विद्या अध्ययन भी कराया। तानसेन ने गायन-विद्या वृन्दावन निवासी श्री हरीदास स्वामी से सीखी। तानसेन रीवा-नरेश के आश्रय में बहुत दिन तक रहे। रीवा-नरेश आपकी विद्या का बहुत आदर करते थे। तानसेन ने रीवा-नरेश की प्रशंसा में अनेक पद्य रचनाएँ की है। कहते हैं कि तानसेन रीवा-नरेश की गुण ग्राहकता पर मुग्ध हो गए थे और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि मैं सीधे हाथ रीवा-नरेश के अतिरिक्त किसी से भी सलाम नही करूँगा।''[1]

सम्राट अकबर के विशेष आग्रह पर ही रीवा-नरेश महाराज रामचन्द्र ने संवत् 1619 में कविवर तानसेन को दिल्ली भेजा था। तानसेन महान संगीतज्ञ होने के साथ ही साथ महान कवि भी थे। लेकिन हिन्दी के विद्वानों ने उनके काव्य के सम्वन्ध में बहुत

कम लिखा है। ... ''तानसेन उच्चकोटि के संगीत-कलाकार थे और अपने पदों द्वारा संगीत कला का प्रदर्शन उनका मुख्य ध्येय था तथा काव्य रचना गौण। किन्तु, उनके पदों की भाव-सुषमा तथा भाषा सौंदर्य को दृष्टि में रखते हुए उन्हें हिन्दी कवि के रूप में भी स्वीकार किया जाना चाहिए। उनकी सांगीतिक रचना, काव्य की दृष्टि से महत्वपूर्ण है। ऐसा ज्ञात होता है कि तानसेन के संगीत गुण की प्रशंसा ने उनके उच्च कवित्व गुण को धूमिल कर दिया था। प्रसिद्ध भाषा तत्व-वेत्ता डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने तानसेन के हिन्दी-कवि के रूप का पूर्ण समर्थन किया है।''[2]

''कवि, भावुक, कल्पनाशील एवं अनुभूति सम्पन्न होता है। उसकी वाणी में मानव की भावनाएँ विविध रूप में प्रकट होती हैं। उसके स्वर, संवेदना की आँच में तप कर विशुद्ध बन जाते हैं।''[3]

मुसलमान बन जाने पर भी श्री तानसेन ने भगवान कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावनाओं को जीवित रखा और बारंबार वे भगवान मुरलीधर के दर्शनों के लिए पुकार करते रहे। आपने अपने संगीत के द्वारा चेतन-अचेतन को विमुग्ध किया था। आपकी स्वर-लहरी ने उन चमत्कारों को प्रत्यक्ष किया था, जिनके अस्तित्व में सहसा विश्वास नही होता था। तानसेन के जन्म तथा मृत्यु के सम्बंध में विद्वानों में मतभेद है परन्तु कुछ विद्वानों ने उनका जन्म संवत् 1588 और मृत्यु संवत् 1646 माना है। संगीत और साहित्य की सरसता को अनुपम सौंदर्य देकर साकार बनाने वाले श्री तानसेन का व्यक्तित्व महान था। आपने अपने संगीत के द्वारा चेतन अचेतन को मुग्ध किया था। आपकी स्वर लहरी ने उन चमत्कारों को प्रत्यक्ष किया था, जिनके अस्तित्व में सहसा विश्वास नही होता था। संगीत द्वारा स्वच्छ नील गगन को श्यामल मेघों से आच्छादित कर देना एवं पशु-पक्षियों को विमुग्ध बना देना संगीत सम्राट तानसेन ने अनेक बार प्रदर्शित किया था।

रचनाएँ :

(1) संगीत-सार

(2) राग-माला

(3) गणेश-स्त्रोत

कविवर तानसेन के पद काव्यत्व और संगीत के एकीकरण के सुन्दर उदाहरण हैं।

रीवा राज्याश्रित कविवर माधव ने वीरभानु काव्योदय में कुछ श्लोक ऐसे लिखे है जिनसे प्रकट होता है कि महाराज रामचन्द्र ने श्री तानसेन की अलौकिक संगीतज्ञता पर प्रसन्न होकर उनका अभूतपूर्व सम्मान किया था और विपुल धन पुरस्कार स्वरूप प्रदान कर कलाकारों के सम्मुख एक आदर्श उपस्थित किया था।

''श्री तानसेन ने अपनी रचनाओं में सर्वत्र ब्रजभाषा का ही प्रयोग किया है। कुछ पदों में फारसी शब्दाबली का अधिक व्यवहार हुआ है। यह उनकी रचना में दरबारी प्रवृत्ति का घोतक है। अलंकार छटा का स्वाभाविक रूप तानसेन की रचनाओं में दर्शनीय है। इस प्रकार तत्कालीन व्रजभाषा के परिमार्जिन और परिष्कृत रूप का प्रयोग, विषय वैविध्य भाव विविष्टता उनकी रचनाओं की विशेषता है।''[4]

मुसलमान बन जाने पर भी श्री तानसेन ने भगवान कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति-भावनाओं को जीवित रखा और बारंबार वे भगवान मुरलीधर के दर्शनों के लिए पुकार करते रहे।

''इस प्रकार मियाँ तानसेन का काव्य संगीत की मधुर रागिनियों में गुम्फित होने के कारण विशेष रसमय बन गया है। संगीत और कविता का सम्बंध एक दूसरे की मधुरता का पूरक है।''[5] संगीत मार्तण्ड पं. ओंकारनाथ ठाकुर का कथन है कि ककारादि व्यंजनों के साथ अकारादि स्वर का जो सम्बंध है, देह के साथ आत्मा का जो सम्बन्ध है, वही संगीत का कविता से सम्बन्ध है। काव्य गाने के लिए होना चाहिए यह प्राचीन

मान्यता है। ऐसा 'छंदों वाक्य प्रयोगगेषु काव्य छन्दसु' गानं काव्येषु, तान संलापनं च गानेषु उच्यते इन उक्तियों से पता चलता है। काव्य और गान एक दूसरे से संपृक्त है।[6] कविवर मियाँ तानसेन की कविता अपने रूप में मौलिक है।

समीक्षा :

तानसेन द्वारा विरचित तीन रचनाएँ ही मान्य हैं - संगीतकार, रागमाला और गणेश स्त्रोत। इन ग्रंथों में संगीतसार और रागमाला विशुद्ध रूप से संगीत शास्त्र से संबंधित है। संगीत की विभिन्न राग-रागनियों की रचना उनके स्वरूप का विश्लेषण और प्रयोगविधि को इन दोनों ग्रंथों में पद्यबद्ध किया गया है। यद्यपि तानसेन के उपर्युक्त तीन ग्रंथों की चर्चा है, तथापि उनके काव्य की समीक्षा के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध नहीं है। जो भी है उसी के आधार पर इनके काव्य की समीक्षा का प्रयास किया जा रहा है :

भाव पक्ष :

श्रृंगार को रसराज कहा गया है। आदिकाल से ही इसके दोनों पक्षों संयोग व विप्रलम्भ को कवियों ने आदर प्रदान किया है। तानसेन ने भी संयोग और वियोग का निरूपण किया है, परन्तु इनका श्रृंगार-निरूपण लौकिक भी है, अलौकिक भी। श्री राधिकाजी की रूप-राशि अपार है, अलौकिक है। उनके नयनों की शोभा खंजन, मीन और मृग के नेत्रों को लजाने वाली है। चन्द्रमा सदृश मुख मण्डल पर घुंघराले बाल विखरे हुए ऐसे शोभायमान हो रही हैं मानों विधु ने अपने ऊपर छतरी तानी हो। उनकी नासिका कीर के समान, दन्त दाड़िमबीज के समान और उरोज श्रीफल के समान है :

> मानों विधु घूंघर बारे बार डार छतरी बनाये हैं,
> टीका कीने जान चारों बिध खंजन नैन मीन मृग को लजाये हैं।
> नासा कीर दसन दाड़िम कुच श्रीफल से दरसाये हैं,
> तानसेन प्रभु को रस बसकर लीने चन्द्र बदन देखाये हैं।

इस प्रकार अपना सुन्दर बदन राधिकाजी श्रीप्रभु को दिखला रही हैं।

एक और श्रृंगार मण्डित पद प्रस्तुत है, जिसके भाव लगभग उपर्युक्त पद से साम्य रखते हैं :

तेरे नैन लोने री जिन मोहे स्याम सलौने।
अति ही दीर्घ विसाल विलोकि कारे भारे पिय रस रिझये कोने ।।
बदन ज्योति चन्दहु ते निरमल, कुच कठोर अति होने बोने।
'तानसेन' प्रभुसों रति मानी कंचन कसोटी कसो ने ।।

प्रिय सखी, तेरा सर्वांग अद्भुत सुन्दर है। तेरे नेत्रों की लुनाई पर ही सलौना श्याम रीझा है।

नेत्र की सुन्दरता के लिए खंजन पक्षी, मीन और मृग की उपमा दी जाती रही है। अंजन और कज्जल नैनों की सुन्दरता को द्विगुणित कर देता है क्योंकि इन प्रसाधनों के प्रयोग से नैनों के क्षेत्र विस्तृत हो जाते है। पर, तानसेन की इस नायिका के नेत्र तो बिना अंजन के ही कजरारे हैं। अब, इन बिना अंजन के नैनों की उपमा कहां तक दी जाय :

रुम झुम भर आये री नैना तिहारे।
बिथुरी सी अलकें स्याम घन सो लागत,
झपक-झपक उथरत मेरे जान तारे।
अठन बरन नैना तेरे नामें लाल डोरे
तापर अंबुज बार-बार डारे।
कहें मीयां तानसेन, सुनो साह अकबर,
उपमा कहां लौ दीज्ये, बिन अंजन कजरारे।

उपर्युक्त पद के विवेचन से सिद्ध है कि तानसेन जितने बड़े संगीतज्ञ थे उतने ही कल्पनाशील और भावों के सूक्ष्म अंकन के चितेरे थे।

तानसेन अपने आश्रयदाता के प्रति कृतज्ञ थे। अपने सम्मान से अभिभूत होकर उन्होंने अपने आश्रयदाता के प्रति अत्यन्त संयत शब्दों में आभार व्यक्त किया है:

शाके को विक्रम देबे को,
कुल करन बेद सम नहीं ज्ञान।
बल को भीम, पैज को परसराम, बाचा
को युधिष्ठर, तेज प्रताप को भान।
इन्द्रसेन राज मूरत को,
कामदेव मेरु समान।
तानसेन कहे सुनो साह अकबर, राजन में,
राजा राम नन्दन विरहभान।
प्रथम ही आनन्द रच्यो।
नीकी घरी महूरत पंचों शब्द बजाये।
देस-देस के याचक जेहे आवत तेते,
पावत गज तुरंग बड़ा दान मुक्ता बरसाये।
अष्टों धरन मध्य नाम जोति अरिन,
मारवे को विधि ने बनाये।
तानसेन कहे जुग-जुग चिरंजीव रहो,
राजाराम तरौ जस बिहुं लोक छाये।

संयोग श्रृंगार का जिस तन्मयता के साथ चित्रण हुआ है, वही स्थिति विप्रलम्भ-वर्णन में भी प्राप्त होती है। अपने 'प्रिय' के वियोग में विरहिणी ने विरह की बेल को मन में बोया है जिसे अश्रु-जल से सिंचित किया गया है। बेल की नूतन-वृद्धि के समान ही यह विरह-बेल विकसित हो रही है। प्रभु दर्शन के विना सम्पूर्ण देह क्षीण होती जा रही है :

विरह की बेल बोइनि अंखियन मन में।
सींच-सींच जल अंसुअन पानी री, दिन-दिन होत चाह नई।

उलहत पातन नये सो बूंद पाताल गयी,

तानसेन प्रभु तुमरे दरस बिन, सब तन छीन भई ।

विप्रलम्भ के समय जो अवयव विरहिणी को सताते हैं, उनमें मेघों की गर्जन, बिजली की तड़कन और पावस की बूंदों का नर्तन प्रमुख है । समूची पावस ऋतु ही आ गयी, सावन आ गया, पर मनभावन न आया -

बादर आये री, लाल पिया बिन लागे उरपावन ।

एक तो अंधेरी कारी, बिजुरी चमकत, उमर-घुमर बरसावन ।

जब ते पिया परदेस गवन कीनो, तबतें बिरहा भयो मो तम तपावन ।

सावन आयो ऊत झर लावत, तानसेन न आये मनभावन ।।

विरह की दस दशाओं के अन्तर्गत कवि ने अभिलाषा, चिन्ता, स्मरण, उद्वेग, प्रलाप और करुण का ही वर्णन किया है, शेष चार दशाओं का अभाव प्राय है ।

तानसेन का श्रृंगार-वर्णन शास्त्रोक्त है : क्योंकि काव्य-शास्त्र में श्रृंगार का रंग श्याम और कृष्ण को इस रस का देवता माना गया है ।

अध्यकालीन भक्त कवियों की भक्ति भावना दो प्रकार से अभिव्यक्त हुई है - कबीर आदि की भांति भारतीय पद्धति से और जायसी की तरह सूफी दर्शन के आधार पर । भारतीय पद्धति में साधक स्वयं को स्त्री और ईश्वर को पति (स्वामी) मानता है, जबकि सूफी साधना में उसके विपरीत, जीव स्वयं को पति और ईश्वर को नारी समझता है । तानसेन यद्यपि भक्त कवि नहीं थे और उन्होंने मुसलमान होना भी स्वीकार कर लिया था । फिर भी इन्होंने अपने वियोग-वर्णन में और ईश्वर के स्मरणस्वरूप जो भी पद सृजित किये, उनमें पूरी तरह भारतीय शास्त्रीय परम्परा का निर्वहन किया । वियोग-श्रृंगार के उपर्युक्त दोनों पद इसके सटीक उदाहरण हैं ।

भक्ति-भावना :

मध्ययुग में भक्ति-आंदोलन प्रारम्भ हुआ और शीघ्र ही सारे उत्तरी भारत में फैल गया। निर्गुण भक्ति की अपेक्षा सगुण पक्ष जन-जन को, उसके मन-भावन होने के कारण शीघ्र ग्राह्य हुआ। सगुण भक्ति में भी कृष्ण भक्ति को जनता ने पर्याप्त महत्व दिया। तानसेन की तानों में मुरली-मनोहर की मधुर तानें बस गयीं।

भक्त अपने भगवान को विविध प्रकारों से रिझाना चाहता है - कभी उसका सेवक बनकर, कभी सखा बनकर, कभी सखी रूप से तो कभी माधुर्य भाव से। भक्ति में भक्त की समर्पण-भावना ही प्रधान होती है। समर्पण भी सम्पूर्ण आधा-अधूरा नहीं। तानसेन की भक्ति भी सम्पूर्ण समर्पण की पर्याय है। वे अपने प्यारे मोहन पर तन-मन-धन सब कुछ न्यौछावर कर देना चाहते हैं। जैसे भी हो, अपने 'प्रियतम' से साक्षात्कार करना ही इष्ट है उनका -

वा दिन केवल जइए री,
जा दिन पीतम होय मिलन।
तन-मन-धन सब बारूंगी, इन चरन-कमल पर पंखड़े बिछाऊंगी नैन पलन।
कारन मोहन अपनों ही गरे डार,
लैहें सरस रस ललित अधरन।
कहें मीयां तानसेन, कबधों मिले आय,
दरस परस इन संजोगन ॥

कला पक्ष :

अलंकार :

अलंकार, काव्य के सौंदर्यवर्धक गुण धर्म हैं। तानसेन के काव्य में अलंकारों का प्रयोग सहज रूप में हुआ है। इसके लिए कवि को पृथक से प्रयास नहीं करना

पड़ा। अनुप्रास, रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, यमक तथा श्लेष आदि का उचित प्रयोग तानसेन के काव्य में हुआ है। कुछ उदाहरण :

रूपक : विरह की बेल बोइनि अंखियन मन में
सींच-सींच जल अंसुअन पानी री........
इन चरन-कमल पर पंखड़े बिछाऊंगी नैन-पलन

उत्प्रेक्षा : मानो बिधु घूंघर बारे बार डार छतरी बनाए हैं।

छेकानुप्रास : 'मीन मृग' को लजाये हैं..
नासा कीर 'दसन दाड़म'..
कहें मियां तानसेन 'सुनो साह' अकबर
झपक-झपक उधरत मेरे जान तारे
... इत्यादि।

भाषा-शैली :

तानसेन की काव्य-भाषा मिश्रित है। इसे न विशुद्ध रूप से बुन्देली कहा जा सकता है और न ही ब्रज। यद्यपि इस समय तक व्रज साहित्यिक भाषा के रूप में स्थापित व मान्य हो चुकी थी और बुन्देली इस दिशा में प्रयासरत थी, परन्तु बुन्देली को तिलांजलि देकर ब्रज में काव्य-सृजन करने लगे।

तानसेन की प्रारंभिक शिक्षा-दीक्षा जहां हुई, वह क्षेत्र भी वस्तुत: पूर्णरुपेण बुन्देली से प्रभावित नहीं था। ग्वालियर को यदि व्रज और बुन्देली का संगमस्थल कहा जाए, तो संभवत: अतिश्योक्ति नहीं होगी। तानसेन ग्वालियर में रहे, आगरा में रहे - अकबर के दरबार में रहे, अत: इनकी काव्य-भाषा में जहां बुन्देली और ब्रज के शब्द हैं, वहीं अरबी-फारसी के शब्दों का प्रयोग भी इनके काव्य में प्राप्त होता है। संस्कृत के तत्सम (मीन, मृग, श्रीफल, अंबुज आदि)। तद्भव (पताल, बरन, बिरह, मूरत आदि) देशज (उलहत, उझक, झपक) बुन्देली (री, बार, कटे आदि) अरबी-फारसी (मियां,

पानी आदि) शब्द इनके काव्य में व्यवहृत हैं।

कवि के काव्य में अनेक स्थलों पर चित्रात्मक भाषा प्रयुक्त हुई है। सारांशतः इनकी काव्य-भाषा सरल, सरस व बोधगम्य है।

चूंकि, तानसेन प्रमुख रूप से संगीतज्ञ थे, अतः इनके छन्द प्रायः गायन-शैली में लिखे गये हैं। काव्यशास्त्र के प्रचलित छन्दों का प्रयोग इनके काव्य में नहीं है।

निष्कर्ष :

तानसेन भले ही संगीतज्ञ रहे हों और इसी के लिए जाने जाते हों, पर कवि-परम्परा में भी उन्हें रखा जा सकता है। इनकी कविता यद्यपि, समीक्षा की दृष्टि से उत्कृष्ट कोटि की नहीं है, फिर भी उसके शब्दों की थिरकन संगीत की तानों से मिलकर हृदय के स्फुरण को गति प्रदान करने में सक्षम है। सूरदास ने तो इनके संगीत-प्रेम की प्रशंसा करते हुए लिखा था -

विधना यह जिय जानिकै, सेसहिं दिये न कान।
धरा-मेरु सब डोलिहैं, तानसेन की तान ॥[7]

परन्तु इनके काव्य की ऐसी प्रशंसा कहीं किसी ने नहीं की।

रहीम

बुन्देलखण्ड के कवियों को खोजकर उनका संक्षिप्त (और विस्तृत भी) व्यक्तित्व व कृतित्व प्रस्तुत कर श्री गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर' ने निश्चित ही बुन्देलखण्ड में जन्म लेना सार्थक किया है और बुन्देली माटी के ऋण से भी उऋण होने का प्रयास किया है। श्री द्विवेदी जी ने 'बुन्देल वैभव' शीर्षक से अलग-अलग खण्ड लिखे, बुन्देलखण्ड के कवियों को साहित्य के विभाजन क्रमानुसार रखा और इसकी सीमाएँ

निर्धारित की। बुन्देल वैभव के तीन भाग तो उनके जीवनकाल में ही प्रकाशित हो चुके थे (जो अब अनुपलब्ध हैं) शेष का पता नहीं कि कहां और किस स्थिति में हैं।

'बुन्देल वैभव' (भाग एक) में द्विवेदी जी ने अकबरी दरबार के जिन कवियों (या रत्नों) को प्रस्तुत किया है वे हैं - तानसेन, रहीम, बीरबल और टोडरमल। रहीम के संबंध में वे लिखते हैं -

''अब्दुल रहीम खाँ खानखाना 'रहीम' का जन्म सं. 1610 वि. में हुआ था। आप अकबर बादशाह के पालक बैरम खाँ के पुत्र थे। आप अकबर बादशाह के प्रधान सेनापति, मंत्री और विशेष कृपापात्र थे और जहांगीर बादशाह के समय तक आप इसी पद पर रहे, किन्तु पश्चात् जहांगीर के क्रोध-भाजन बनकर बंदी और अपमानित होकर चित्रकूट रहने लगे थे।''[8]

यद्यपि इस तथ्य के पर्याप्त प्रमाण नहीं हैं कि रहीम का कार्यक्षेत्र बुन्देलखण्ड रहा। जन्म तो बुन्देलखण्ड में हुआ ही नहीं था। स्थायी ठिकाना भी उनका बुन्देलखण्ड के चित्रकूट में नहीं रहा। कोई भी, यदि अल्प प्रवास पर या कुछ समय के लिए अस्थायी रूप से कहीं निवास करता है, तो उसे वहां का नहीं मान लेना चाहिए। श्री द्विवेदी जी ने रहीम को, उनके चित्रकूट निवास के कारण, बुन्देलखण्ड के कवियों में स्थान देकर बुन्देलखण्ड को गौरवान्वित किया है, पर मेरी विनम्र सम्मति के अनुसार उनका परिगणन बुन्देलखण्ड में करना उचित प्रतीत नहीं होता।

रहीम का संबंध बुन्देलखण्ड से रहा है अथवा नहीं इस विवाद से दूर रहकर मैं प्रस्तुत शोध-प्रबंध में उनका स्मरण करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रही हूँ। यद्यपि रहीम के कृतित्व के संबंध में पृथक से अनेक शोध-प्रबंध लिखे जा चुके हैं। रहीम शिक्षित-अशिक्षित नगरजन व ग्रामीण सबके अन्तर में गहरे तक पैठे हैं, फिर भी उनका उल्लेख करना मैं आवश्यक समझती हूँ। क्यों उनका एक ही दोहा बुंदेलखण्ड के प्रति उनकी श्रृद्धा प्रकट करता है :

''चित्रकूट में रम रहे, रहिमन अवध नरेश

जापे विपदा परत है, सो आवत यही देश।''

रहीम, बादशाह अकबर के सेनापति थे। इनके नेतृत्व में अनेक युद्ध लड़े गये। इसीलिए जन-जीवन को इन्होंने अत्यन्त निकट से देखा। यही कारण है कि इनके काव्य में मानव-जीवन की प्राय: सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हैं। अनुभूति की तीव्रता जैसी रहीम के काव्य में है, वैसी अन्यत्र नहीं।

ये बादशाह के सेनापति थे, अत: युद्ध करना इनकी विवशता थी, अन्यथा ये अत्यन्त सहृदय थे। रसिक काव्य इतने कि अकबरी दरबार के कवि गंग के एक छन्द के ऊपर प्रसन्न होकर छत्तीस लाख रुपये दे डाले और दानी इतने कि स्वयं कंगाल हो गये। हिन्दुस्तान के सबसे शक्तिशाली बादशाह अकबर का सेनापति एक कंगाल ? सब कुछ लुट जाने पर भी इनके पास याचक आते, फिर भी वे कहीं न कहीं से बंचकों की याचनाओं की पूर्ति का प्रबंध करते। चित्रकूट व रीवा के राजाओं से इनके अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध थे।

रचनाएँ :

रहीम की निम्नलिखित रचनाएँ सर्वमान्य हैं :

1-रहीम दोहावली (या रहीम सतसई)

2-वरवै नायिका भेद

3-रास पंचाध्यायी

4-मदनाष्टक

5-श्रृंगार सोरठ

6-दीवान फारसी की रचना

7-बाकयात बावरी (तुर्की से फारसी में अनुवार)

रहीम संस्कृत, हिन्दी अरबी, फारसी, उर्दू, तुर्की आदि भाषाओं के ज्ञाता थे। इनके काव्य में इन भाषाओं के शब्द तो क्या वाक्य-विन्यास भी प्राप्त होते हैं। "इनका कुछ काव्य हिन्दी संस्कृत की खिचड़ी है और 'खेटकौतुकम' नामक ग्रंथ, जो ज्योतिष का है - संस्कृत और फारसी की खिचड़ी है।"[9]

समीक्षा :

रहीम-काव्य की समीक्षा करना यहां मेरा अभिप्रेत नहीं है, क्योंकि प्रस्तुत शोध-प्रबंध में इनका मात्र पुण्य-स्मरण करना ही मेरा प्रमुख उद्देश्य है। इसीलिए इनके प्रचलित दोहों को छोड़कर कुछ अन्य काव्य रूपों का ही उल्लेख मात्र करूंगी :

(1)

जाति हुती सखि गोहन में, मनमोहन को लखि ही ललचानो।
नागरि नारि नई ब्रज की, उनहूँ नँदलाल को रीझिबो जानो।।
जाति भई फिरि कै चितई, तब भाव रहीम यहै उर आनो।
ज्यों कमनैंत दमानक में, फिरि तीर सों मारि लै जात निसानो।।

(2)

बड़न सों जान-पहचान कै रहीम कहा, जो पै करतार ही न सुख देनहार है।
सीताहर सूरज सों नेह कियो याही हेत, ताहू पै कमल जारि डारत तुषार है।
क्षीर निधि मांहि धँस्यो, संकर के सीस बस्यो, तऊ न कलंक नस्यो, ससि में सदा रहै।
बड़ो रिझवार या चकोर-दरबार है, पै कलानिधि यार तऊ चाखन अँगार है।।

(3)

देन चहै करतार जिन्हें सुख सो तो रहीम टरै नहिं टारे।
उद्यम-पौरुष कीन्हें बिना, धन आवत आपुहिं हाथ पसारे।
देव हँसे अपनी करनी, विधि के परपंच न जात बिचारे।
बेटा भयो वसुदेव के धाम औ, दुंदुभी बाजत नंद के द्वारे।।

कारे बेग फकीर

परिचय :

पूर्व व मध्यकाल के काव्य-साधकों में से अनेक ऐसे हैं जिनका प्रामाणित जीवन-वृत्त व कृतित्व अनुपलब्ध है। ऐसा इसीलिए हुआ कि ये भगवान के सच्चे भक्त थे, सरस्वती के वरद-सुत थे, जो आत्म प्रचार से दूर रहते थे। इनका लक्ष्य था - काव्याराधन द्वारा आत्म कल्याण और जन कल्याण। इसीलिए इन्होंने अपने जीवन-वृत्त के संबंध में कहीं कोई उल्लेख नहीं किया। कारे बेग फकीर भी ऐसे ही निस्पृह जीव थे, जिनके संबंध में अब तक प्रामाणिक जानकारियाँ उपलब्ध नहीं है। जनश्रुतियों के आधार पर इनका जो रेखाचित्र बन सकता है, वह इस प्रकार है :

कारे कवि का पूरा नाम कारे बेग फकीर था। ये रँगरेज मुसलमान थे। इनका जन्म सं. 1756 के लगभग ललितपुर में हुआ था।[10] ललितपुर के स्थापित व ख्याति प्राप्त साहित्यकार श्री कृष्णानन्द हुण्डैन के अनुसार ''कारे कवि के नौ लड़के थे, जो सभी क्रम से सर्पदंश से काल-कवलित हुए। अंतिम पुत्र जब सर्पदंश से दिवंगत हुआ, उसकी अवस्था उस समय अर्थात् सं. 1802 वि. में कारे कवि 60 वर्ष के आसपास रहे होंगे।'' हुण्डैन जी आगे लिखते हैं - ''कारे कवि की - पुत्र के लिए की गयी प्रार्थना की घटना ललितपुर के चौबयानापुरा स्थित रघुनाथ मंदिर निर्माण के दो वर्षोपरान्त हुई थी। इनके पारिवारिक मंदिर निर्माण तिथि के अनुसार रघुनाथ मंदिर का निर्माण सं. 1800 के लगभग हुआ होगा और इसके दो वर्षोपरान्त कारे कवि से संबंधित घटना हुई होगी।''[11]

''हुण्डेत जी और द्विवेदी जी की तिथियों में लगभग साम्य है फिर भी अनिश्चय की स्थिति है।''

काव्य-वैभव :

कारे कवि का कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि इनके पुत्र को सांप ने काटा। रघुनाथजी के मंदिर के चबूतरे पर ये चौपड़ खेल रहे थे। सूचना

मिलने पर ये निर्विकार भाव से बोले – ''मैं क्या कर सकता हूँ – भगवान की मर्जी के सामने ?'' लोगों ने कहा – तुम्हें घर जाकर बेटे की खबर लेनी चाहिए, पर उन्होंने कहा– नागदेव मुझसे नाराज हैं। वे पहले भी मेरे आठ लड़कों को डँस चुके हैं। भगवान चाहेगा तो यह आखिरी बेटा बचेगा। नहीं चाहेगा तो नहीं बचेगा। चौपड़ का खेल तो बन्द हो गया, पर ये बेटे की मृत्यु की खबर पाकर भी घर नहीं गये। जनाजा उठने की खबर पाकर इन्होंने मंदिर के पास जनाजा लाने को कहा। जनाजा जब आया तो उसे मंदिर के सामने रखवा दिया और धाराप्रवाह छन्दोबद्ध स्तुति करने लगे ये श्री विग्रह के सामने। सौ छन्द जब पूरे हो गये और फिर भी जब कोई प्रभाव न हुआ, तो आगामी आठ छन्दों में इन्होंने भगवान को खूब खरी खोटी सुनाईं। अंतिम छन्द पूरा होते ही मृत पुत्र जीवित हो उठा। कारे ने कहा – पुत्र, भगवान को प्रणाम करो, इन्ही ने तुम्हें जीवन दान दिया है।

पुत्र के जीवित हो जाने के बाद कारे कवि वहां से जाने लगे, पर घर नहीं गये। लोगों ने पूछा – 'कारे, कहां जाते हो ?' तो कारे ने कहा – 'कारे अब सिर्फ उस काले रंगवारे का है जिसने उसकी विनती पर मुर्दे को जिला दिया। अब न कारे का घर-द्वार-परिवार और न घर-द्वार-परिवार का कारे है। उसके पश्चात् किसी को पता नहीं कि कारे कहां गये।

यही एक सौ आठ कवित्त कारे-काव्य की निधि है। आज इधर उधर से संग्रहीत किये गये कुल छत्तीस पद ही बताये जाते हैं। बुन्देलखण्ड के संपेरे सर्पदंश से पीड़ित का विष दूर करने के लिए इनके पदों को मंत्र के रूप में प्रयुक्त करते हैं। ये पद सात-आठ से अधिक नहीं हैं। 'सरोज' में इनका एक पद उदाहरणस्वरूप दिया गया है:

माफ किया मुलुक, मताह दी विभीषण को,
कही थी जबान, कुरबान ये करार की,
बैठिबे को ताइफ तखत दै तखत दिया,
दौलत बढ़ाई थी जुनारदार यार की

तब क्या कहा था, अब सर्फराज आप हुए,

जब की अरज सुनी चिरीमार खुवार की ।

'कारे' के करार माहँ क्यों न दिलदार हुए

ऐरे नंदलाल क्यों हमारी बेर बार की ॥[12]

'सरोज' के संदर्भ में ही यह भी उल्लेख है, कि 'सरोज' के परिचय खण्ड में कारे कवि का रचना काल सं. 1717 देते हुए लिखा है कि - ''सरोज में दिया संवत् यदि अशुद्ध नहीं है, तो अधिक से अधिक इसे इनका अंतिम जीवनकाल होना चाहिए।''[13]

श्री हुण्डेत, श्री द्विवेदी एवं 'सरोज' द्वारा प्रस्तुत की गयी - तिथियां निश्चित ही भ्रमित करने वाली हैं।

कारे कवि की भक्ति :

कारे कवि के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में जनश्रुतियां जो भी हों, एक तथ्य निर्विवाद सिद्ध है कि वे एक भक्त कवि थे। जब भक्त थे तो उनका अन्तर्बाह्य निर्मल व निश्चल होगा, अर्थात् कारे कवि भक्त थे और सन्त थे। उनके इकलौते अथवा नौ पुत्रों को सांप ने काटा, कारे कवि ने धाराप्रवाह प्रार्थना-पदों को रचा, पुत्र जीवित हुआ और वे तत्काल घर-द्वार छोड़कर अज्ञात स्थल को चले गये। तो फिर उनके नाम से जो पद्य उपलब्ध हैं, वे किसने, कैसे और कब संग्रहीत किये होंगे ? किसी को यह पूर्वाभास तो होगा नहीं, कि कारे कवि धाराप्रवाह कवित्त पढ़ेंगे, जिससे वह पूर्व से ही कागज-कलम लेकर लिपिबद्ध करने बैठ जाता ? अस्तु

कवि के जितने पद उपलब्ध हैं, उनके अध्ययन से विदित होता है कि इनकी भक्ति सगुणोपासना की थी। राम या कृष्ण के प्रति इनका एकांगी अनुराग नहीं था। कवि ने दोनों को एक ही भाव से पुकारा है। 'सरोज' से उद्धृत कवित्त में श्रीराम के गुण कथन किये गये हैं, तो निम्नलिखित छन्द उनकी कृष्ण भक्ति का परिचायक है :

डूबत उबारो ब्रज, मारो मान माधवा को,

कँह कवि कारे, जैसे आन गिर मार की।

पक्षिन के पक्ष हो निपक्षन के पक्ष पूरे,

तुच्छन को पक्ष ले न करी फेरफार की।

तुम हो सहाय मेरे, और नहीं दूजा प्रभु,

रहे कार सार बलि, जाऊँ अवतार की,

एहो सधीर बलभद्र जी के वीर अब,

हरो मेरी पीर क्या हमारी बेर बार की ।।

कारे कवि की भक्ति में दैन्य भाव है। इन्होंने प्रभु के गुण-कथन करते हुए जीव की असहायता और विवशता को बार-बार रेखांकित किया है। निम्नलिखित छन्द की "--- हिन्दुन के नाथ तो हमारा कछू दावा नहीं ---" पंक्तियों में कितना करुणामय उपालंभ है। इन्हें पढ़ते समय कोई भी सहृदय बिना रोमांच हुए न रह पायेगा -

मुस्फिक शफीक वो दिल दोस्त तू रफीक मेरा

तू ही नजदीकी है, हकीकी ख्याल कीजिए,

बन्दे की अरज दस्त बस्त, यही है तर्ज

मेरी ओर देख जरा अब तो दरस दीजिए।

कारे का करार पड़ा, तेरे दरम्यान, द्वार

अब चाहूँ दीदार, बेमुरव्वत न हूजिये

हिन्दुन के नाथ तो हमारा कुछ दावा नहीं,

जगत के नाथ तो हमारी सुधि लीजिए ।।

प्रस्तुत छन्द के अंतिम दोनों चरण कितने प्रभावी हैं, एक घटना से यह विदित होता है : संवत् 1894-95 वि. में जैरोनग्राम (जिला टीकमगढ़) के कुछ मुसलामनों ने जमींदार किसानों की जमीन पर पहले एक चबूतरा बनाया, फिर वहां मसजिद बनाने लगे। जमींदार किसानों ने चबूतरा तोड़ दिया। मुसलमानों ने ओरछा-नरेश की सेवा में

जो पत्र भेजा उसमें कारे कवि की उपर्युक्त - ''हिन्दुन के नाथ---'' पंक्तियों को उद्धृत किया। इन पंक्तियों से ओरछा-नरेश इतने द्रवीभूत हुए कि उन्होंने उसी स्थल पर मसजिद बनाये जाने का हुकुम दिया और भूमि स्वामी को उसकी भूमि से दुगुनी जमीन अन्यत्र दे दी।

कारे कवि के दैव्य छन्दों में भक्ति रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। तुलसी ने राम और सूर ने कृष्ण के सम्मुख भी ऐसी ही दीनता प्रदर्शित की थी। परन्तु, तुलसी ने भक्ति की चरम सीमा पर पहुंच कर भी लोकपक्ष का त्याग नहीं किया था, जबकि कारे बेग के पदों में विशुद्ध भक्ति है, लोकपक्ष उसमें से तिरोहित है। सूर की भांति कारे कवि का सख्य भाव तो नहीं है, परन्तु जिन छन्दों में भक्ति के अतिरेक में कवि विह्वल हो उठा है, वहाँ प्रभु को मीठे-मीठे शब्दों में उलाहना देने से नहीं चूका है। जहां तुलसी और सूर ने अपने दैन्य भाव में स्वयं को गीध, अजामिल आदि पतितों से भी अधिक पतित बताया है, वहां कारे की उद्भावना सर्वथा मौलिक है। कवि कहता है जितने काले कारनामे अजामिल ने किये थे, मेरे तो उससे भी कम हैं :

मुंसिफ है आला, यह जानता जहान तुझे,
मेरे जान तू तो माफ करता गुनाह है।
देता है सजा मुजरिम को जरूर मगर
मेरे दिलदार को सबकी परवाह है।।
काले कारनामें माफ किये हैं अजामिल के,
चादर हमारी हुई न उतनी स्याह है।
लेकर पनाह कारे द्वार पर तेरे पड़ा,
करता न करार पै श्याम क्यों निगाह है।।

काव्य की समीक्षा

भाषा शैली :

कारे कवि की काव्य-रचना ब्रज से प्रभावित है, पर इसमें बुन्देली एवं अरबी-फारसी के शब्दों की प्रचुरता है, जो बुन्देलखण्ड क्षेत्र के एवं मुसलमान होने के कारण स्वाभाविक है। कहीं-कहीं अरबी-फारसी के अप्रचलित शब्दों के प्रयोग से अर्थतत्व बाधित हुआ है। ख्वार (नष्ट-भ्रष्ट), मताह (सम्पत्ति), ताइफ (तोहफा, उपहार), जुनारदार (यज्ञोपवीत, जनेऊ धारी सुदामा से आशय) सर्फराज (विजयी), शफीक (अनुग्रह करने वाला), रफीक (मित्र), दस्तबस्तां (हाथ जोड़कर) आदि ऐसे ही शब्द हैं।

कछू (कुछ), कोऊ (कोई), बेर (बारी), बार (विलंब), मोरी (मेरी), झेल (देर), सुनत (सुनता-श्रवण), घिन (घृणा) आदि बुन्देली शब्द हैं। पिप्पली, आहार, वर, कंचन, कृपानिधान, अपार, तन, नर, वानर, जन आदि संस्कृत के तत्सम शब्द भी कवि ने प्रयुक्त किये हैं। तद्भव रूपों का तो प्रयोग हुआ ही है। उर्दू के जो आम बोलचाल के शब्द हैं, उनका भी सहज प्रयोग कवि ने अपनी कविता में किया है, उदाहरणार्थ : कुरबान, खाना, आलम, यार, दुआ, करार, दिलदार, माफ, मुलुक, जुबान, कुरआन, तख्त, दौलत, निसार, जार-जार, आवाज, गुनाह, मेहरबान, खबरदार, मुंसिफ, आला, मुजरिम, सजा, निगाह, कुदरत, अर्ज, दोस्त, आफत, नजीर आदि ऐसे सैकड़ों शब्द हैं।

काव्य का वाक्य-विन्यास कहीं कहीं बुन्देली है (ए हो रघुराई, सुनियो-सुजान); परन्तु खड़ी बोली का परिष्कृत रूप इनके छन्दों में प्राप्त होता है। यदि ऐसा है, तो कारे कवि का भाषायी महत्त्व बढ़ जाता है। कतिपय उदाहरण :

1. किया क्या गुनाह ...
2. माफ किया

3. सुन-सुन जिकर बेफिक्र मन मेरा हुआ

4. यह जानता जहान तुझे

5. देता है सजा मुजरिम को जरूर, मगर,

   मेरे दिलदार को सबकी परवाह है।

6. सारे कारनामे माफ किये हैं अजामिल के,

7. लेकर पनाह कारे द्वार पर तेरे पड़ा,

   ... श्याम क्यों निगाह है ?

8. जुल्फों से झाड़ी धूल

9. केवट का नेह देख, खुद ही हो नेह मस्त,

   तन को लगाये रहे, सांवरे से तन में

   वानर सुग्रीव से हाथ मिला दोस्त हुए

   फर्क नहीं माना कुछ नर वानरन में।

10. आफत के मारे की तुम आफत को मारते हो

    एक नहीं लाख-लाख मिलती नजीर है।

11. कारे का करार पड़ा चाहता दीदार, द्वार

    मेरे दिलदार यार अब तो गौर कीजिए।

    हिन्दुओं के नाथ हो तो हमारा कुछ दावा नहीं,

    जगत के नाथ तो हमारी सुध लीजिए।

उपर्युक्त उदाहरणों में खड़ी बोली हिन्दी का परिष्कृत रूप स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

अलिखित-लिखित काव्य में, सैकड़ों वर्षों में न्यूनाधिक परिवर्तन आ जाना स्वाभाविक है, पर इतना अधिक परिवर्तन नहीं हो सकता, जितना ऊपर वर्णित है। या तो इस प्रकार के छन्द कारे कवि द्वारा विरचित न होकर किसी अन्य के हो सकते हैं जो

कारे के छन्दों में मिलकर कारे के ही होकर रह गये; या, यदि कारे कवि के हैं, तो खड़ी बोली के परिष्करण में इनका अवदान रेखांकित होना चाहिए।

कारे कवि के नाम से प्रचलित जितने भी उपलब्ध छन्द हैं, उनमें एक विशेषता और है। एक छन्द - ''डूबत (या बूड़त) बचाऔ ब्रज ...'' ही ऐसा है, जिसमें अरबी, फारसी या उर्दू का एक भी शब्द प्रयुक्त नहीं हुआ है, अन्यथा कोई ऐसा छन्द नहीं है, जिसमें इन भाषाओं के शब्द प्रयुक्त न हुए हों।

कवि के काव्य की शैली छन्दात्मक है और मात्र एक ही छन्द-वार्णिक-धनाक्षरी का प्रयोग किया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से इनके कतिपय छन्दों में गति-दोष है - कुछ वर्णों/शब्दों की कमी है; पर यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि यह त्रुटि कवि के द्वारा हुई अन्यथा काल के प्रवाह से ?

रस :

कारे कवि के काव्य में मात्र एक ही रस-शान्त प्राप्त होता है; परन्तु अनेक स्थल ऐसे हैं कि कविता का प्रारंभ शान्त से प्रारम्भ होता तो है; परन्तु 'करुणा' भाव हृदय में स्थायी रूप से घर कर जाता है। कवि के काव्य की यह अद्‌भुत विशेषता है। ''हिन्दुन के नाथ हो तो हमारा कुछ दावा नहीं ...'' छन्द में ऐसा ही करुणा का उद्रेक है।

अलंकार :

कवि ने 'कविता' के उद्देश्य से तो कविता की नहीं थी। भक्तिमा सिंधु में गोता लगाते समय भावों के अतिरेक स्वरूप जो प्रस्फुटन हुआ, वह कविता के रूप में सहज ही अधरों पर आ गया। ऐसे में उसे काव्यांग- मुक्ता खोजने का अवकाश ही कहां था ? कवि को तो जो कहना था सो कह दिया अब वह रस-अलंकार की क्या चिन्ता करे। अत्यन्त सहज और स्वाभाविक रूप से जो अलंकार आ गये सो आ गये।

कारे कवि के उपलब्ध समस्त छन्दों में अभिधात्मक स्वरूप है अत: रूपक, उत्प्रेक्षा एवम् यहां तक कि सर्वप्रचलित उपमा का भी सर्वथा अभाव है। अनुप्रास, यमक और श्लेष अलंकारों के साथ वीप्सा रवक्रोक्ति भी यत्र-तत्र दिखायी दे जाते हैं।

प्रदेय :

यह आवश्यक नहीं कि श्रेष्ठ कवित्व के लिए ग्रंथों और कविताओं का वृहद् परिमाण होना चाहिए। किसी कवि की मात्र एक कविता अथवा कविता की एक पंक्ति ही उद्वेलन के लिए पर्याप्त होती है। आज देश में रामजन्म भूमि-बाबरी मस्जिद विवाद को लेकर साम्प्रदायिकता का जो नंगा नाच हो रहा है, वह किसी से छुपा नहीं है। कारे कवि के एक छन्द की मात्र दोनों अंतिम पंक्तियों ने जैरोन को प्रेरणा प्रदान की थी और वह सौहार्द्रपूर्ण ढंग से सुलझ गया था।

वर्तमान शासकों के लिए कारे कवि की यही पंक्तियां क्या प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकतीं ? उनकी संवेदनाओं को झंकृत नहीं कर सकती क्या ?

हाजी

हाजी के संबंध में विस्तृत वृतान्त उपलब्ध नहीं है, पर 'शंकर' जी के अनुसार - ये बुन्देलखण्ड के ही थे। श्री 'शंकर' इनका जन्म एवं रचनाकाल क्रमश: सं. 1720 और सं. 1760 वि. मानते हैं। इनकी रचनाओं के अनुशीलन और इन रचनाओं का बुन्देलखण्ड में इत्यधिक प्रचार होने के कारण यह निश्चित है कि हाजी कवि बुन्देलखण्ड के ही होंगे।[14]

कवि की उपलब्ध रचनाओं के अनुशीलन से विदित होता है कि ये सूफी कवि थे। हो सकता है कि कबीरपंथी रहे हों; क्योंकि इनकी रचनाएँ कवीर से प्रभावित तो क्या, प्राय: उनकी प्रतिच्छाया का आभास कराती हैं, इनसे तो यही सिद्ध होता है कि ये निर्गुणिये थे;

फूला फूला फिरे जगत में कैसा नाता रे........

(कबीर)

भौरा-भौरा क्या फिरत हाजी उठि पंथे लाग ।
भोर भयौ संग चलि बस्यौ, बाउ अभागे भाग ।।

(हाजी)

सुखिया सब संसार है, खाबै अरु सोबै ।
दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोबे ।।

(कबीर)

खिन रोबै खिन हँस उठै खिन दरद बखानै ।
दुखिया केरा दुख को दुखिया ही जाने ।।

(हाजी)

जाका गुरू है आंधरा, चेला खरा निरंध ।
अंधे अंधू ठेलिया, दोनों कूप परंत ।।

(कबीर)

गुरू जिनहीं का आसरा, चेला लगे न घाट ।
आगे पीछे हो चले, दोऊबारह वाट ।।

(हाजी)

कैसों कहा बिगाड़िया, जो मूंड़ै सौ बार ।
मन कौं काहे न मूंड़िये, जामैं विषै विकार ।।

(कबीर)

प्रेम छुरा पैनई कै पथरी पर फेरा ।
हाजी कोरा मूंड़ कें कर रहा निबेरा ।।

(हाजी)

सन्दर्भ सूची

(1) मध्यप्रदेश के मुसलमान हिन्दी कवि : प्रो. श्रीचन्द्र जैन, पृ. गयाप्रसाद एंड संस, रीवा।

(2) बांधव पत्रिका (1943) पृ. 25

(3) अकबरी दरबार के हिन्दी कवि : डॉ. सरयू प्रसाद अग्रवाल, पृ. 99

(4) वही - पृ. 99

(5) वही - पृ. 25

(6) वही - पृ. 158

(7) बुन्देल वैभव : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 183 (प्रथम भाग)

(8) वही - पृ. 196

(9) हिन्दी साहित्य का इतिहास : आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ. 210 (संस्क.:सं. 2018)

(10) बुन्देल वैभव : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 415 (द्वितीय भाग)

(11) ईसुरी पत्रिका

(12) शिवशंकर सरोज (शिवसिंह सेंगर) सम्पा. : डॉ. किशोरी लाल गुप्त : पृ. 78 (हिन्दी साहि.सम्मे. प्रयाग)

(13) वही - पृ. 666

(14) बुन्देल वैभव : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 375-376 (द्वितीय भाग)
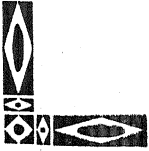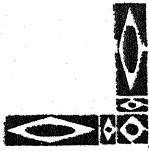
चतुर्थ अध्याय

अठारहवीं शताब्दी के बुन्देलखण्ड के मुसलमान कवि

संत कवि एन सांई

- परिचय
- काव्य-ग्रन्थ
- समीक्षा

मेहबूब

- परिचय
- काव्य
- समीक्षा

1- संत कवि ऐन सांई

परिचय :

संत किसी भौतिक परिचय के मुंहताज नहीं होते उनका कृतित्व ही उनका परिचय होता है। यही कारण है कि ऐसे अनेक महापुरुषों के नाम जनसाधारण जानता तो है, जिनसे वह प्रभावित है; पर उनके सम्पूर्ण व्यक्तित्व से वह अनभिज्ञ होता है। विद्वद्जनों की विवशता यह है कि पर्याप्त जानकारी के अभाव में अंत: और बहिर्साक्ष्य के भरोसे वे महापुरुषों के इतिवृत्त को जानने का प्रयास करते हैं; जो अनुमान ही होते हैं और अनुमान कभी सत्य या सत्य के निकट नहीं होते। संत कवि ऐनसांई के संबंध में भी कुछ ऐसा ही है। इनका जीवन संतों-फकीरों और साहित्यसेवियों के साथ व्यतीत हुआ। ये साधक कवि और समर्थ फकीर थे।

ऐनसांई का पूरा नाम ऐनुल्ला हुसैन शाह था पर उन्हें ऐन-ऐनानंद ऐनसांई और ऐनुल्लाह के नाम से ही जाना जाता है इनका जन्म ग्वालियर में हुआ था और जीवन का अधिकांश समय यहीं व्यतीत हुआ इनके पिता बंगरा पठान हिरात के थे, जो रिशाला पलटन में नौकर थे। इनके जन्म के संबंध में अनेक मत प्रचलित हैं। डॉ. सियाराम शरण शर्मा के अनुसार इनका जन्म संवत् 1849 में हुआ था। डॉ. गुलाव खान गौरी ऐनसांई का जन्म संवत् 1818 के आसपास मानते हैं। डॉ. गौरी के अनुसार 80 वर्ष की आयु में संवत् 1902 में इनका निधन हुआ।[1] बुंदेल वैभव के अनुसार इनका जन्म संवत् 1920 है।[2] जन्मतिथि के संबंध में इतना बड़ा अंतर विचारणीय है।

भारत में सूफियों के अनेक सम्प्रदाय प्रचलित रहे जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है इसी संप्रदाय के अंतर्गत रसूलशाही फिरका में हजरत फिदा हुसैन हुए। ऐनसांई ने इन्हीं फिदा हुसैन से 23 वर्ष की अवस्था में दीक्षा प्राप्त की और फकीरी कबूल की। सन् 1869 ई. में वे अजमेर शरीफ गये और यहाँ होते हुए दिल्ली पहुँचे। 1872 ई. में रसूल शाही फिरका में ये दीक्षित हुए।[3]

ऐनसांई का पहनावा एवं वेश फकीरों जैसा था। लंबा पीला कुर्ता, उसके नीचे कोपीन और चोटीदार ऊँची टोपी इनका पहनावा था। ये दरियादिल सूफी संत थे और परमहंस की कोटि तक पहुंचे हुए फकीर थे इनके शिष्यों में मुसलमान तो थे ही अनेक हिन्दू भी थे। काशी नरेश चैतशंह के पुत्र राजा बलचंद्र शंह ग्वालियर में ऐनसांई के प्रथम शिष्य बने। दरिया के गोस्वामी किशुनदास की गणना भी इनके परम भक्तों में की जाती थी। इनके प्रधान शिष्यों में गोपाल उपनाम का एक कवि भी था। ऐनसांई के चमत्कारों के संबंध में अनेक मान्यताएँ प्रचलित हैं। रोगियों को स्पर्श मात्र से नीरोग कर देना, अभावग्रस्तों की मुरादों को पूरा करना, निःसंतानों को संतान होने का वरदान देना आदि इनके चमत्कारों से जुड़ी हुई घटनाएँ हैं।[4]

काव्य ग्रन्थ :[5]

इनकी रचनाओं की अधिकांश पाण्डुलिपियाँ वाहिद काजमी साहब के सौजन्य से डॉ. सियाराम शरण शर्मा ने बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय झाँसी में सुरक्षित करवाई हैं। दतिया के प्रसिद्ध साहित्यकार कामता प्रसाद सड़ैया के अनुसार ऐनसांई की कृति - ''सिद्धांत सार'' की पाण्डुलिपि रामचंद्र लखेरे के पास सुरक्षित है। ''बुंदेल वैभव'' में श्री गौरीशंकर द्विवेदी जी ने इनकी निम्नलिखित कृतियों का उल्लेख किया है -

1. सिद्धांत सार
2. गुरू उपदेश सार
3. इनायत हुजूर

4. सुरा रहस्य

5. भक्ति रहस्य

6. अनुभव सार

7. ब्रहम विलास

8. सुख विलास

9. भिक्षुक सार

10. श्याम हित सार

11. हित उपदेश

12. हरि प्रसाद

13. ऐन बिहार संवभ

14. नर चरित्र

डॉ. कुमारी किरण पाण्डे ने उक्त ग्रंथ सूची में निम्नलिखित अतिरिक्त ग्रंथों का उल्लेख किया है -

1. श्री भगवत प्रसाद

2. स्वयं प्रकाश

3. हरिप्रसाद उरदेस हुल्लास

4. सिद्धांत सागर और

5. ऐनानंद सागर

डॉ. गुलाब खान गौरी ने ऐनसांई के ग्रंथों का विवरण निम्नानुसार दिया है -

1. ऐनुउल्लाह कुण्डली संग्रह - पृष्ठ 200, आकार - 7-9, रचनाकाल-अज्ञात, ग्वालियर

2. स्वयं प्रकाश - पृष्ठ 67, आकार - 7-9, रचनाकाल - 1902, जयपुर

3. उपदेस हुल्लास - पृष्ठ 67, आकार - 7-9, कुण्डलियाँ - 200, (गीता से संबंधित उपदेश)

4. सिद्धांत सारिका - 100 कुण्डलियाँ

5. भागवत प्रसाद - पृष्ठ 600, आकार - 7-9, 1000 कुण्डलियाँ

6. सिद्धांत सार

7. ऐनानंद सागर

ऐनसांई के उपर्युक्त ग्रंथों से विदित होता है कि कुछ ग्रंथ प्राय: एक ही है पर उनमें मात्र नामों का अंतर ही है, अत: पृथक मानना उचित नही है ।

समीक्षा :

ऐनसांई विशुद्धत: सूफी संत है । इनके काव्य में सूफी दर्शन एवम सूफी सिद्धांतों का काव्यात्मक निरूपण हुआ है । विशेषता यह है कि इन्होंने सूफी मतों एवम भारतीय दर्शन का समन्वय किया है ।

मध्यकाल में गुरू का असंदिग्ध महत्व था । कबीर, जायसी, कुतवन, मंझन, नूर मोहम्मद, तुलसी, सूर एवम मीरा आदि ने गुरू के महत्व को प्रतिपादित किया है । ऐनसांई ने भी इसी परम्परा का अनुसरण किया है गुरू महिमा का बखान करते हुए उन्होंने अनेक छंद गुरू को समर्पित किए हैं । कबीर की भाँति ये भी अनपढ़ थे । इस दृष्टि से कवीर और ऐनसांई में पर्याप्त समानता है -

मसि कागज छूयो नहीं कलम गही नहिं हाथ

(कबीर)

हिन्दी पढ़ा न फारसी, कछू न अक्षर ज्ञान ।
अनगिनती कुण्डली कही, वेद के अर्थ पुरान ।।
कागज स्याही ना लई, कलम गही नहिं हाथ ।
बिना लिखे कुंडली चली, गुरू किरपा के साथ ।।

(ऐनसांई)

ऐनसांई स्वीकार करते हैं, कि उन्हें अक्षर-ज्ञान नहीं था उन्होंने जो भी लिखा,

गुरू की कृपा से ही संभव हो सका। इस प्रकार, कबीर की भांति वे गुरू के महत्व को भी प्रतिपादित करते हैं।

ऐनसांई की दृष्टि में यह दृष्य जगत परमात्मा का रूप है। सम्पूर्ण चराचर में उसी का रूप व्याप्त है -

ब्रह्मरूप यह सब जगत, जहाँ लौ जौ आकार।
ब्रह्म उपजावत ब्रह्म को, ब्रह्म ब्रह्म आधार।।

यह वह ब्रह्म है, जो ब्रह्म का भी आधार है - परम ब्रह्म। यही है अंतिम सत्ता, अंतिम और चरम सत्य। इसी परम ब्रह्म में अनेकानेक सृष्टियाँ और अनेकानेक ब्रह्म समाये हुए हैं। परन्तु यह ब्रह्म जगत के कार्य व्यावहार से निर्लिप्त है, निरवेक्ष है, सर्वथा उदासीन है। साँसारिक जीव का महत्व एक कठपुतली से अधिक नहीं है और इस जीव रूपी कठपुतली को नचाने वाला वही परमेश्वर है। तन से मन सांस के तारों से बंधा हुआ है और यह सांस रूपी तार वही गोसाईं चला रहा है :

कठपुतली की तरह तन, तन मेरा है यार,
सास जो मेरे बीच है, सोई बँधा है तार।
सोई बंधा है तार, हिलाय हिलाय गुसांई,
चाहे जैसे नाच नचाय बैठ घर पांई।
पुतली वाले की तरह, ऐंन आप करतार।
कठपुतली की तरह तन, तन मेरा है यार।।

कवि का ब्रह्म कवि के रोम-रोम में है। उर्दू में ऐंन (ع); शीन (ش); क़ाफ़ (ق) के मेल से 'इश्क' शब्द (عشق) लिखा जाता है। ऐंनसाईं ने इन हरफों का एक अलग ही चिंतन दिया है। वे कहते हैं - ऐन अक़ल वढ़ाता है, शीन बेशर्म बनाता है और क़ाफ़ - करार में निरन्तर वृद्धि करता है। इश्क होना चाहिए ईश्वर से, खुदा से :

तीन हरफ हैं इश्क के, 'एन', 'क़ाफ़' अरु 'शीन'।

'एन' उड़ावै अकल को, शीन शरम ले छीन।।

शीन शरम ले छीन, करोर क़ाफ़ गला बै,

बेधरमा हो जाय, नींद पल भर नहिं आवै।

तीनों गुन तीनो हरफ 'एन' तीन लै बीन,

तीन हरफ हैं इश्क के, 'एन', 'क़ाफ़' अरु 'शीन'।।[6]

कवीर की भांति एनसांई के 'राम' भी परमब्रह्म हैं। ये राम सगुण-निर्गुण से परे हैं। ये सर्वव्यापक हैं, जो विश्व के प्रत्येक अणु में - परमाणु में विद्यमान हैं। ये सद्‌रूपेण आवश्यक एवं अनिवार्य है। इसकी अनुभूति निराकार होने पर भी परम संतोष की जननी है। 'राम' तो मन-वाणी से अगम-अगोचर होता है, फिर भी इसकी साधना एक संत के जीवन में मुक्तिदायिनी मानी गयी है :

राम-राम जब तक कहो, जब तक जानों दूर।

रोम-रोम में भिद रहा, सब तन में भरपूर।।

सब तन में भरपूर, जुदा इक दम भर नाहीं,

जौ लौ घर में सांस, सांस में शामिल सांई।

वाव-ख्वाब सब छोड़कर ऐन रहो भरपूर।

राम-राम जब तक कहो, जब तक जानो दूर।।[7]

ऐनसांई के राम का स्वरूप अत्यन्त व्यापक है। कवि का सम्बन्ध मात्र अपने नाम से है; अन्य किसी से नहीं। कवि के मन की कोई बात उससे छिपी नहीं है, राम सब जानता है। इसीलिए कवि उसके प्रति पूर्ण समर्पित है :

और हमारा कौन है, किससे कहूँ हजूर,

देखत आपई आप को, रोम-रोम भरपूर।

रोम-रोम भरपूर, आत्मा साहिब सांई,

मेरे मन की बात छिपी तुमसे गुरु नाईं।

जो चाहो सोई करो, 'ऐन' मुझे मंजूर,

और हमारा कौन है, किससे कहूँ हजूर ।।

आठ पहर लागा रहे, मकड़ी कैसा तार,

ज्यों चकोर नित चन्द्र को, देखत बारंबार ।

देखत बारंबार, लखै मछली पानी को ।

ऐसेइं स्वांसा चलै, हरै निरभै प्रानी को ।।

'ऐन' ब्रह्म टूटे नहीं ऐही है ततसार,

आठ पहर लागा रहे, मकड़ी कैसा तार ।।[8]

आत्मसंतोष संत का सबसे बड़ा गुण होता है। ऐनसांई कहते हैं कि प्रभु ! तुमने हमें क्या क्या नहीं दिया - आवश्यकतानुसार सब कुछ तो दिया आपने। अब एक साधु को और क्या चाहिए ?

अव क्या चाहिए साध कौ, सभी दियो भगवान,

कपड़े खाक मसान के, बन फल दीन्हें खान ।

बन फल दीन्हें खान, नदी जल पावन दीन्हा,

पातर दोऊ हाथ, गुफा रहने को दीन्हा ।

विचरन को चारो 'दिशा', 'एन', 'बिलास' को ज्ञान,

अव का चहिए साधकौ, सभी दियो भगवान ।।[9]

ऐनसांई ने सूफी मत और भारतीय दर्शन का सुन्दर समन्वय किया है - इसका उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। इनकी दृष्टि में राजा और रंक का भेद जिस प्रकार व्यर्थ है, उसी प्रकार हिन्दू-मुसलमान के भेद को भी कबीर की भांति इन्होंने स्वीकार नहीं किया। इनके अधिकांश ग्रंथों में हिन्दू धर्म के स्वरूप को दर्शाया गया है। भक्ति रहस्य, ब्रह्म विलास, स्याम-हित सार, हरिप्रसाद और उपदेश हुलास ग्रंथ इसके उदाहरण हैं। उपदेश हुलास ग्रंथ में गीता से संबंधित उपदेश हैं। 'भागवत प्रसाद' - 600 पृष्ठों का विशालकाय ग्रंथ है। इस ग्रंथ में सृष्टि-रचना, ज्ञान, योग, वैराग्य व एकेश्वरवाद आदि का निरूपण किया गया है।

कवि ने अपने ग्रंथ- सिद्धान्त सारिका में सूफी मत के चारों मुकामों - (शरीअत, मारिफत, तरीकत और हकीकत) का भारतीय अध्यात्म के साथ सुंदर विवेचन किया है। ग्रंथ में सौ कुण्डलियाँ छन्द हैं।

ऐनसांई को कुण्डलिया छन्द अत्यधिक प्रिय था। इनके अधिकांश ग्रंथों में यही छन्द प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त दोहा व अन्य छन्द रूप भी प्रयुक्त हुए हैं।

ऐनान्द की काव्य-भाषा इतनी सहज व सरल है कि पाठक उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता। भाषा में कहीं भी कोई कृत्रिमता दृष्टिगोचर नहीं होती। ग्रामीण कहावतों के प्रयोग से इनकी काव्यभाषा द्विगुणित सुन्दर हो गयी है :

गुड़िया खेलत छोकड़ी, जब तक पति नहिं पाय।
जब अपने पति सों मिले, गुड़िया पास न जाय।।
गुड़िया पास न जाय, खेल जब सांचा पावे।
ऐसेइ हरि को पाय, भक्त फिर कछ न चावे।।
पूजा सारी एन जो गुड़ियों तरह दिखाय।
गुड़िया खेलत छोकड़ी, जब तक पति नहिं पाय।।

इनकी कुण्डलियों का स्वरूप भी छन्दः शास्त्र में वर्णित लक्षणों से भिन्न है। कुण्डली छन्द का प्रारंभ जिस शब्द से होता है, उसी से छन्द का समापन होना चाहिए; परन्तु ऐनसांई कुण्डली में प्रयुक्त पूरे प्रथम चरण को ही अंत में रख देते हैं। इस दृष्टि से कवि को परम्परागत छन्दों को परिवर्तित करने वाला प्रथम कवि होने का अधिकार मिलना चाहिए - परम्परा से विद्रोह करने वाला कवि।

ऐनानन्द की पूरी कविता बुन्देली शब्दावली बहुल है। युग-प्रभाव के कारण ब्रजभाषा का प्रभाव होना तो स्वाभाविक था ही। संस्कृत की तत्सम व तदभव शब्दावली के साथ-साथ उर्दू के प्रचलित व वोलचाल के शब्द भी प्राप्त होते हैं। कुछ शब्दावलियाँ निम्नानुसार हैं :

संस्कृत के तत्सम शब्द : ब्रह्म, ब्रह्मरूप, जगत, आकार, आधार, तन, मन, हरि, आत्मा, कल्प, धर्मक्षेत्र, कुरुक्षेत्र, तरु शिष्य आदि।

तद्भव रूप : बिलास, सांचा, गुसांई, करतार, नाच, नचाय आदि।

बुन्देली शब्द : सोई, छोकड़ी, कछू, चाबे, सला (सलाह) चूकत आदि।

उर्दू के प्रचलित शब्द : यार, यारी, मुख्त्यार आदि
(इनकी कविता में उर्दू के शब्द कम ही प्रयुक्त हुए हैं)

ऐनानन्द या ऐनसांई ने श्रीमद्भागवत गीता का भी अनुवाद किया था, जो अत्यन्त सरल व सहज भाषा में है :-

संजय से धृतराष्ट्र ने यहि विधि पूंछी बात।
धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में कहो युद्ध की घात ।।
कहो युद्ध की घात किये मम सुत क्या काजा,
अरु पाण्डव की कहो कौन विधि, तिन दल साजा।
तब संजय ने 'एन' सब कहा भिन्न विख्यात,
संजय से धृतराष्ट्र ने यहि बिधि पूछी बात ।।

= = =

दुर्योधन ढिंग आय कैं, पंडन का दल जोय,
मुख्याचारज द्रोण से, पूंछन लागे सोय।
पूंछन लागे सोय, बड़ा दल पंडुन भारी,
धृष्टधुमन दल रच्यो, शिष्य तुम्हरी मुखतारी।
सूर 'एन' अर्जुन सम, बहुत दिखावत मोय,
दुर्योधन ढिंग आय कै, पंडन का दल जोय ।।[10]

कवि को अपनी काव्य-भाषा गढ़ने के लिए प्रयास नहीं करना पड़ा। भाषा भावों की अनुगामिनी बनकर इनके काव्य में आती है :-

अपने भोग विलास को, मानुस तन हर कीन,

आपहि लखै न ब्रह्म को, घात आत्मा कीन ।

प्रचलित या बोलचाल की सामान्य भाषा में गूढ़तम बात कह देना एनसांई की प्रमुख विशेषता है :-

चूकत है मन आपही, आपहि सला बताय,

है मन सत गुरू आपही, आपहि शिष्य कहाय ।

आपहिं शिष्य कहाय करे जब शंका भाई,

जब मन ज्ञान बताय, तभी सत गुरू हो जाई ।

मन ही मन दिखलात है, 'एन' लखैं सो पाय,

चूकत है मन आपही, आपहि सला बताय ।।

यद्यपि काव्य में भाव पक्ष और कला पक्ष - दोनों का महत्व है । दोनों का समन्वय ही काव्य को महान बनाता है, परन्तु इन दोनों में भी भाव पक्ष प्रधान होना चाहिए । संत कवियों की काव्य-वाणी भावना-प्रधान होती है । उनकी दृष्टि उसे सजाने-संवारने पर नहीं होती, क्योंकि उनका काव्य तो उनके लिए एक माध्यम है, साधन है,अपने लक्ष्य तक पहुंचने का । यही कारण है कि ऐनसांई की कविता का भावपक्ष, कलापक्ष की अपेक्षा सशक्त है । इनका काव्य स्वान्त: सुखाय की प्रेरणा का फल है । इसमें किसी प्रकार का प्रयास नहीं किया गया है । ऐनसांई घुमक्कड़ संत थे, अत: इनकी कविता में विभिन्न भाषाओं के शब्दों का पाया जाना स्वाभाविक है । फिर भी ऐसा नहीं है कि इनकी कविता सर्वथा ही अनलंकृत हो । अनेक स्थलों पर यह काव्य कला दर्शनीय है । प्रस्तुत दो दोहों में भाव पक्ष की गहनता के साथ-साथ कलात्मकता का मनोरम समन्वय हुआ है :

जो गुजरा सो ख्याल था, जो गुजरे सो ख्याल ।

'ऐन' गनीमत जानिए, जो गुजरा सुख हाल ।।

= = =

नैन नैन के जात हैं, नैन नैन के हेत।

नैन नैन के मिलत ही, नैन 'ऐन' कह देत ॥[11]

प्रदेय :

संत के सम्मुख हिन्दू-मुसलमान या अमीर-गरीब जैसा कोई भेद नहीं होता। वह इस पार्थक्य से निरपेक्ष रहता है। वह प्राणिमात्र के कल्याणार्थ जन्म लेता है और अपना कर्त्तव्य करते हुए ईश्वर में आसक्ति रखता है। ऐनसांई जितने मुसलमान थे उतने ही हिन्दू। उन्होंने कुरआन को चूमा है, तो गीता को भी सिर झुकाया है। ऐनसांई के गीता पद्यानुवाद को पढ़कर कोई नहीं कह सकता कि यह कृति मुसलमान कवि की हो सकती है।

आज जब साम्प्रदायिकता की आंधी देश भर में चल रही है। मानव-मूल्यों का दिनों दिन क्षरण हो रहा है, तब ऐनसांई का काव्य उन्मादी मानव को शांति, सद्भाव और भ्रातृत्व प्रेम का मार्ग दिखला सकता है। ऐनसांई का जीवन-वृत्त और काव्य हिन्दू और मुसलमान के लिए प्रेरणास्पद है।

महबूब

परिचय :

आलीपुरा (या अलीपुरा) छतरपुर-मऊरानीपुर सड़क मार्ग पर नौगाँव से 16 कि.मी. दूर स्थित दो हजार की जनसंख्या वाला एक छोटा सा ग्राम है, परन्तु किसी समय यह बुन्देलखण्ड के रजवाड़ों में अकेला परिहार राज्य था।[12] सन् 1877 ई. के पश्चात् यह राज्य सिमटकर नान सलूटेड स्टेट रह गया[13] और स्वतंत्रता के उपरान्त इसका विलय विन्ध्यप्रदेश में हो गया तथा रु. 28150/- वार्षिक पिवीपर्स यहां के राजा को स्वीकृत किया गया।[14]

महबूब कवि की जन्मस्थली एवम् कर्मस्थली यही अलीपुरा बतलायी जाती है। 'बतलायी जाती है' - शब्दों को मैंने इसीलिए प्रयुक्त किया कि अब तक महबूब कवि के व्यक्तित्व व कृतित्व के सम्बन्ध में प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है। महबूब के संबंध में प्रथम जानकारी डॉ. गौरीशंकर द्विवेदी ने देते हुए इनका जन्म संवत् 1760 और कविताकाल संवत् 1790 बतलाया है।[15] इसी तिथि को श्रीचन्द जैन मान्य करते हुए लिखते हैं कि - ''श्री महबूब के सम्बन्ध में प्रयास करने पर भी अधिक जानकारी प्राप्त न हो सकी। अलीपुरा निवासी श्री मुकुन्दीलाल नामदेव को इस भावुक कवि के अनेक कवित्त याद थे। 10-15 वर्ष पूर्व श्री मुकुन्दीलाल संसार को छोड़ चुके हैं। इनके संबंधी श्री रामदास नामदेव से मुझे श्री महबूब के कुछ कवित्त प्राप्त हुए हैं।''[16] 'शिवसिंह सरोज' में - 1762 की तिथि देकर - ''सतकवियों में गिने जाते हैं'' - मात्र उल्लेख महबूब कवि के संबंध में किया गया है[17] और मात्र एक छन्द उदाहरणस्वरूप दिया गया है।[18] छतरपुर के वरिष्ठतम साहित्यकार श्रीयुत श्रीनिवास जी शुक्ल इनके रचनाकाल की प्रामाणिकता पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए इनकी कविता पर रीतिकालीन प्रभाव बतलाते हैं।[19]

उपर्युक्त तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में यह तो निश्चित है कि महबूब कवि अलीपुरा के निवासी थे। बताया जाता है कि कवि की आर्थिक स्थिति विशेष अच्छी नहीं थी, फिर भी सीमित धन-लाभ से अपने मित्रों का ये दिल खोलकर सत्कार किया करते थे। वे मनमौजी थे और जीवन को हिलमिलकर तथा मन बहलाकर व्यतीत करना ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते थे। इस संबंध में उनकी मान्यता बड़ी ही स्पष्ट थी, जो प्रस्तुत छन्द में परिलक्षित होती है :-

दिया है खुदा ने खूब, खूबी करौ महबूब,
खाओ पिओ देहु लेहु यही रह जाना है।
बड़े बड़े आदिल अमीर उमराव हुए,
कूच कर गये, कहीं लगा न ठिकाना है।

हिलो मिलो सबसे, न गंदगी की राह चलो,

जिंदगी जरा सी, जरा दिल बहलाना है ।

आया परवाना, फेर चले न बहाना,

ताते नेकी कर जाना, फेर आना है न जाना है ।।

काव्य ग्रन्थ :

महबूब के किसी ग्रंथ का कोई उल्लेख कहीं प्राप्त नहीं होता। बुन्देल वैभव में इनके मात्र चार कवित्त दिये गये हैं । इनमें से एक कवित्त वह है, जो 'सरोज' में उदाहरणस्वरूप उल्लिखित है । श्रीचन्द जैन ने अपने ग्रंथ में महबूब के जितने छन्दों को उद्‌धृत किया है उनमें तीन छन्द नये हैं, शेष 'बुन्देल-वैभव' के हैं। इन तीन छन्दों में से एक का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। इस प्रकार इनके कुल सात छन्द ही प्राप्त हैं। कवि ने कितने ग्रंथ या कितने कवित्त लिखे - कोई पता नहीं। श्री गौरीशंकर द्विवेदी जी भी लिखते हैं कि - ''आपका एक ग्रंथ अलीपुरा राज्य में सुना गया है, किन्तु वह मुझे देखने को नहीं मिल सका।''[20]

समीक्षा :

महवूब कवि के कुल सात छन्द हैं। इन छन्दों के अनुशीलन से विदित होता है कि ये अत्यन्त सहृदय थे और रससिद्ध कवि थे। कवि, जैसा निश्छल स्वयं है, वैसा ही निश्छल मित्र भी चाहता है। वस्तुत: जग का हर व्यक्ति ऐसे ही आदर्श मित्र की कामना करता है, जैसी महबूब ने की है । युगद्रष्टा तुलसी ने भी 'मानस' में कुछ इसी प्रकार आदर्श मित्र की परिकल्पना की थी। पर, तुलसी के आदर्श मित्र की अवधारणा में जो न्यूनता है, वह है कलाओं के प्रति अनुराग। महबूब की आदर्श मित्र की जो परिकल्पना है, उसमें एक शर्त यह भी है कि मित्र संगीत और काव्यादि कलाओं का अनुरागी होना चाहिए :-

जानै राग रागिनी, कवित्त-रस, दोहा-छन्द,

जप-तप-तेग त्याग, एक मीत तन का ।

'महबूब' उरझ न देख सके मित्रहु की,

विचित्र हर भांति का रिझैया नुकतन का ।

जा से जो कबूलै सो न भूलै, भूलें माफ करै,

साफ दिल आकिल लिखैया हरफन का ।

नेकी से न न्यारा रहै, बदी से किनारा गहै,

ऐसा मिले प्यारा जो गुजारा चलै मन का ।।

ऐसे मित्र तभी मिलते हैं, जब कवीर उन्हें मिलाता है :

देखत बिहँस धाय, छतियाँ लगाय लेत,

आदर बिन आदर लों ताबेदार यार के ।

तदबीर ही वें दिल पीरे जो मिटाबे,

तकसीर पै न जाबै, गुण गाबै बेशुमार के ।

कह 'महबूब' सील-सूरत सराही रहै,

चाहे रब्बई के ही निबाही परिवार के ।

धन्य सुखसाधेन निमित्त हर बातन में,

ऐसे मित्र मिलत मिलाये करतार के ।।

संस्कृत के एक श्लोक में भी 'सन्मित्र' के प्रायः ऐसे ही लक्षण बताये गये हैं:

पापान्निवारयति, योजयते हिताय,

गुह्यं च गूहति गुणान प्रकटीकरोति ।

आपद्गतं च न जहाति ददाति काले,

सन्मित्र लक्षण मिदं प्रवदन्ति सन्तः ।।

'मानस' कार भी मित्र के लक्षण बताते हुए कहते है :

जे न मित्र दुख होंहि दुखारी ।

तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी ।।

निज दुखु गिरि सम रज करि जाना ।

मित्रक दुख रज मेरु समाना ।।

जिन्ह कैं असि मति सहज न आई । ते सठ कत हठि करत मिताई ।

कुपथ निवारि सुपंथ चलाबा । गुन प्रगटे अबगुनन्हिं दुरावा ।।

देत लेत मन संक न धरई । बल अनुमान सदा हित करई ।

विपति काल कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन एहा ।।

(रामचरित मानस)

स्पष्ट है, कि महबूब अपने 'मित्र-लक्षण' में मित्र के कलाप्रिय होने की शर्त जोड़कर उसे मौलिक बना देते हैं ।

जिस काल में महबूब कविता कर रहे थे, वह रीतिकाल की युवावस्था थी। महबूब की कविता पर युग-प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है और पड़ा भी । रीतिकालीन कविता की विशेषताओं से हर हिन्दी-प्रेमी परिचित है कि इस समय की कविता घोर श्रृंगारिक और मांसल-सौंदर्यांकन की कविता है । महबूब का प्रस्तुत छन्द भी इसी रीतिकालीन कविता का द्योतक है। गर्मी की ऋतु है । बटोही गर्मी से बेहाल है और घर के पास वृक्षों की छाया में बैठा है। बंगलों में खस और जवासे के छिड़काव से चित्त को शीतलता प्रदान कर देने वाली ठण्डक है। यौवनोन्मत्ता सुन्दरी गर्मी से बेहाल इस पथिक को वृक्षों की छाया से निकल कर इन जवासों से सिंचित बंगलों में आने को कहती है और छन्यार्थ के द्वारा वह अपने दिल का इजहार करती है :

अजब जबासिन की सबजी खड़ी सी मंजु,

'महबूब' कंज असनादिक दलन में,

वृच्छन सघन जुन सीतल पवन अति,

मंदिर निकट कर आनंद छलन में,

चिकन दरीचन फुहारन की कीच मची,

फरसन बीच दहलीच दहलन में।

थकित कहा - वे पंथी व्यक्ति न कर चित्त,

इनतें निकस, बस खस बंगलन में ।।

बिजावर (छतरपुर) के राजकवि बिहारीलाल भट्ट ने भी लगभग यही भाव अपने इस छन्द में भरे हैं। बिहारी, महबूब के बाद के है :

को हो ? थकि रहे, जकि रहे, नकि रहे कहा,

भवन हमारौ यहां ठैरो, ठौर ठण्डी है।

कहत 'बिहारी' भई साँझ पौर मांझ परौ,

चैन लौ घनेरी ये अँधेरी रात मण्डी है,

राह चलिबे की अब राह तौ हमारी नहीं,

बाट बटपारिन कों विकट बितंडी है,

एक बन ऐल, दूजें आड़े परे सैल,

तीजें चोरन को फैल-चौथे गैल पगडण्डी है।[21]

प्रस्तुत उदाहरण यह प्रदर्शित करता है कि महबूब के भाव-प्रभाव को उनके पश्चात्वर्ती कवियों द्वारा भी स्वीकार किया गया है। यह और बात है कि स्वयं महबूब ने 'सतसैया के दोहरे' वाले बिहारी के प्रभाव को ग्रहण किया है।

कवियों को श्रीकृष्ण के विविध रूप अत्यन्त प्रिय रहे हैं और उन्हें अपनी कल्पना की तूलिका से कविता के विशाल फलक पर चित्रित किया है। श्री राधा के एवम् गोपियों के साथ रास रचाते-रसिक रूप, ग्वालों के साथ क्रीड़ा करते-माखन चुराते किशोर रूप, बाल रूप, गोचारण का गोपाल रूप, चीरहरण, कंस वध आदि आदि रूपों की कवियों ने मनोरम झांकियां प्रस्तुत की हैं। रीतिकालीन कवियों को युग-प्रवृत्ति के अनुसार कृष्ण का रसिक रूप ही रुचिकर लगा। महबूब ने भी श्रीकृष्ण

के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की। प्रस्तुत छन्द में उनके ग्वाल-वेश का मनोहर वर्णन महबूब ने किया है :

> आगे धेनु धारि गेरि ग्वालन कतार तामें,
> फेरि फेरि टेरि धौरी धूमरी नगन तें।
> पोंछि पुचकारन अंगोछन सों पोंछि-पोंछि,
> चूमि चारू चरन चलाबें सुवचन तें।
> कहैं 'महबूब धरे मुरली अधर वर,
> फूँकि दई खरज निसाद के सुरन तें।
> अमित अनन्द भरे कंद छवि वृंदवत,
> मंद गति आवत मुकुंद वृंदावन तें।'[22]

ऋतु वर्णन के अन्तर्गत बसन्त का मादक सौंदर्य द्रष्टव्य है :-

> मृम-मद गंध मिलि, चंदन सुगंध बहै,
> केसर कपूर धूरि पूरत अनन्त है
> और मद गलित गुलाबन बलित भौंर
> भने महबूब तौर और दरसंत है।
> रच्यो परपंच सरपंच पंचसर जूने,
> कर लै कमान तानि बिरही हनंत है,
> छीनि छिति लई ऋतु राजत समाज नई,
> उनई फिरत भई सिसिर बसंत है ॥[23]

कलापक्ष :

कवि की भाषा ब्रज प्रभावित है। धरे जैसे बुन्देली शव्द, दर्द, परवाना, बहाना, आदिल, अमीर जिन्दगी, आकिल, तदवीर, सूरत, दिल, तदवीर, अजब-जैसे उर्दू के शब्द, मंजु, कंज, धेनु, मुकुन्द, गति, अमित,वर, अधर आदि संस्कृत के तत्सम

शब्द, खरज, निखाद, दरीचन, निकस आदि तद्भव शब्दों के साथ ब्रज के सैकड़ों शब्द महबूब के काव्य में हैं। एक मात्र धनाक्षरी वार्णिक छन्द का प्रयोग इनके सातों पदों में हुआ है। अनुप्रास, रूपक, उपमा, श्लेष, यमक उत्प्रेक्षा व वीप्सा अलंकारों का प्रयोग कवि ने अपने काव्य में किया है।

प्रदेय :

कारे कवि की भांति महबूब का काव्य एकपक्षीय नहीं है। महबूब की दृष्टि कृष्ण चरित पर भी हैं, प्रकृति पर भी है और लोकपक्ष पर भी। तीनों का समन्वित स्वरूप महबूब की कविता में प्राप्त होता है। महबूब के कुल सात पद हैं, परन्तु किसी वस्तु का मूल्यांकन उसके परिमाण से नहीं, परिणाम से किया जाता है। महबूब की हिन्दी साहित्य-सेवा को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। अपने हिन्दी लेखन द्वारा महबूब ने 'हिन्दू-मुसलमान' जैसी पृथकतावादी संज्ञाओं को दूर करने का प्रयास किया है - यही कवि महबूब का महत् योगदान है।

सन्दर्भ सूची

(1) राष्ट्र गौरव (वार्षिक) साहित्य अंक, सम्पा. : डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त बरसैंया छतरपुर, पृ. 150.

(2) बुन्देल वैभव (भाग:तीन) : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 691

(3) राष्ट्र गौरव (वार्षिक) साहित्य अंक, सम्पा. : डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त बरसैंया, पृ. 150

(4) वही, पृष्ठ 150

(5) वही, पृष्ठ 150

(6) मध्यप्रदेश के मुसलमान कवि : श्री चन्द्र जैन, पृ. 45

(7) वही, पृ. 46.

(8) वही, पृ. 47.

(9) वही, पृ. 48.

(10) बुन्देल वैभव (भाग:तीन) : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 693.

(11) मध्यप्रदेश के मुसलमान कवि : श्रीचन्द्र जैन, पृ 49.

(12) बुन्देलखण्ड का वृहद् इतिहास : डॉ. के.पी. त्रिपाठी, पृ. 184.

(13) वही, पृ. 377.

(14) वही, पृ. 399.

(15) बुन्देल वैभव (भाग:दो) : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 428.

(16) मध्यप्रदेश के मुसलमान कवि : श्रीचन्द्र जैन, पृ 114.

(17) शिवसिंह सेंगर कृत 'शिवसिंह सरोज': संपा.- डॉ. किशोरी लाल गुप्त, पृ. 776.

(18) वही, पृ. 453.

(19) राष्ट्र गौरव (वार्षिक) साहित्य अंक, सम्पा. : डॉ. गंगाप्रसाद गुप्त बरसैंया, पृ.02 (1994).

(20) बुन्देल वैभव (भाग:दो) : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 428.

(21) साहित्य सागर : बिहारीलाल, पृ. 258.

(22) मध्यप्रदेश के मुसलमान कवि : श्रीचन्द्र जैन, पृ 119.

(23) बुन्देल वैभव (भाग:दो) : गौरीशंकर द्विवेदी 'शंकर', पृ. 429.
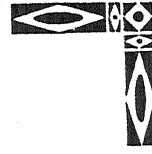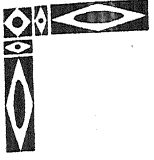
पंचम अध्याय

बुन्देलखण्ड के उन्नीसवीं शताब्दी के मुसलमान कवि

राजकवि अजमेरी 'प्रेम'	
अब्दुल अहमान 'मंजर'	
नबीबख्श 'फलक'	परिचय
सुबहान बख्श	
सैयद अमीर अली 'मीर'	कृतियां
मुन्शी खैराती खाँ 'खान'	समीक्षा
मुंशी खैराती खाँ 'खान'	
अन्य	
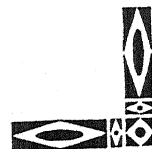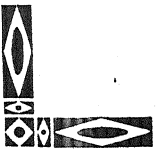
राजकवि अजमेरी 'प्रेम'

परिचय - (जन्म- अगहन सुदी 2 सं. 1938, मृत्यु- 25 मई 1937)

साहित्य, संगीत और कला की एकता श्री अजमेरी में थी। वे साहित्यकार थे, संगीतज्ञ थे और अनेक कलाओं के ज्ञाता। बुन्देलखण्ड के साहित्य तीर्थ चिरगाँव में जन्म लेकर सचमुच वे साहित्य मनीषी बने। हमारे राष्ट्र कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त एवं प्रसिद्ध कवि श्री सियारामशरण गुप्त के संपर्क में आकर श्री अजमेरी की प्रसुप्त कवित्व शक्ति जगमगा उठी थी। उनमें असाधारण प्रतिभा थी, क्योंकि वे ईश्वर प्रदत्त वरदान के रूप में अपनी माता की गोद में आए थे। श्री अजमेरी के पिता श्री भीकाजी गुणज़ थे। अजमेर शरीफ में जाकर आपने परमात्मा की प्रार्थना करते हुए एक योग्य पुत्र की कामना की थी। कामना स्वीकृत हुई और भीकाजी के घर में पुत्र-जन्म का आनंद मनाया गया। अजमेर-पुण्यतीर्थ की पावन यात्रा की स्मृति में 'अजमेरी' नाम से भीकाजी के सुपुत्र प्रसिद्ध हुये। अपने पिता की मृत्यु के पश्चात् श्री अजमेरी श्री मैथिलीशरण के पिता जी के संरक्षण में आये और उनसे अधिक प्यार पाकर अपने पिता की याद भूल गये। निम्नस्थ कवित्त में श्री अजमेरी ने अपना परिचय दिया है -

संस्कृत सुनाऊँ छन्द भाषा में बनाऊँ,
और पिंगल को डिंगल समेत अपनाऊ मैं
मुख से बजाऊँ ज्यों सितार औ सरोद बाद्य,
देश परदेश के विशेष गीत गाऊँ मैं।

कथा तथा कीर्तन कहानी इतिहा कहूँ

नाना रंग राग सों रईस को रिझाऊँ मैं।

मूल मारवाड़ जन्मभूमि है बुन्देलखण्ड,

नाँव अजमेरी चिरगांव कौ कहाऊ मैं।

इनके पूर्वज जैसलमेर राज्य के निवासी थे। किसी कारण वश उन्हें मुसलमान होना पड़ा था। ओरछा नरेश श्री वीरसिंह जूदेव की दृष्टि इस प्रतिभावान कलाकार पर पड़ी और उन्होंने इसे अपने आश्रय में रख लिया। श्री अजमेरी ओरछा नरेश के राजकवि थे और 50 रूपये प्रतिमाह वृत्तिरथ में आजीवन पाते रहे। आपका स्वर मधुर था और कविता पाठ की शैली आकर्षक थी। कवि सम्मेलनों में आपकी कविताएँ सुनकर श्रोता झूमने लगते थे। श्री अजमेरी के संबंध में हिन्दी साहित्य के प्रख्यात विद्वान एवं आलोचक पं. पद्मसिंह शर्मा के द्वारा लिखित लेख की कुछ पंक्तियाँ यहाँ उद्धृत की जाती हैं। इससे उनकी (श्री अजमेरी) साहित्यिक साधना एवं बहुज्ञता का परियच प्राप्त हो जाता है :-

विशाल भारत के गत् अंकों में प्रकाशित पन्नों का कंठा और 'हे तुलसी' शीर्षक कविताओं के लेखक कविवर मुन्शी अज़मेरी जी का परिचय बहुत कम कविता प्रेमी-पाठकों को होगा। यों तो उनकी कविताएँ समय-समय पर कई पत्र-पत्रिकाओं में कभी कल्पित और कभी असली नामों से प्रकाशित हुई हैं। पर अपनी संकोच-शीलता के कारण हिन्दी संसार में वह प्रायः अपरिचित से ही हैं। मुन्शी जी कविता के अतिरिक्त और भी कई कलाओं में निपुण थे। वह बड़े अच्छे गायक, कीर्तनकार और विनोदी व्यक्ति थै। अनुकरण-कला में तो असाधारण दक्षता प्राप्त थे। बड़े-बड़े गवैयों के गीत ग्रामोफोन के रिकार्ड सरोद आदि बाजों की ध्वनि की हुबहू ऐसी नकल उतारते थे कि असल और नकल में जरा भी भेद मालूम नहीं होता था। यदि उन्हें पर्दे की ओट में सुना जाता तो मालूम पड़ता था कि हम असली सरोद या ग्रामोफोन का रिकार्ड सुन रहे थे। कीर्तन के ढंग की भागवत् की कथा इस ढंग से कहते थे कि सुनते

ही बनी थी। उनका संस्कृत, ब्रजभाषा और बंगला का उच्चारण इतना विशुद्ध और विस्पष्ट होता था कि सुनने वाला आश्चर्य चकित रह जाता था। कवीन्द्र रवीन्द्र के बंगला गीत जब वह अपने मधुर कंठ से गाकर सुनाते थे तो जान पड़ता था कि साक्षात् श्री रवीन्द्र नाथ के मुख से ही सुन रहे हैं। उनकी ब्रजभाषा की कथा तो इतनी मधुर होती थी कि श्रोता तन्मय और गद्-गद् हो जाते थे। आप जन्म के मुसलमान थे, पर उनके आचार व्यवहार वेष-भूषाअ ौर भावों को देखकर यह ख्याल तक नहीं होता था कि यह इस जन्म में तो क्या किसी पहले जन्म में भी मुसलमान रहे होंगे। पक्के वैष्णव-बूझ पड़ते थे। हिन्दी के बड़े अच्छे कवि थे। उनकी रचना में वर्णन का प्रवाह और प्रसाद पर्याप्त मात्रा में रहता था। भाषा साफ-सुथरी होती थी। समस्या-पूर्ति और आशुकविता में भी निपुण थे। कथात्मक रचना तो आपकी बहुत उत्तम होती थी।

रचनायें

श्री अजमेरी की प्रकाशित कृतियाँ इस प्रकार हैं - 'मधुकर शाह', गोकुलदास, हेमलासत्ता, तथा चित्रांगदा। 'मधुकर शाह' नामक पुस्तक में महाराजा मधुकर शाह की धार्मिक निष्ठा का सबल-भाषा में सुन्दर चित्रण किया गया है। सम्राट अकबर ने केवल हिन्दू राजाओं की धार्मिक दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए दरवार में तिलक लगाकर आने का निषेध किया था। अन्य नरेशों ने शाही आज्ञा का पालन करते हुए तिलक का त्याग कर दिया था लेकिन महाराजा मधुकर शाह ने सम्राट अकबर की आज्ञा का विरोध किया और तिलक लगाना न छोड़ा। इस पुस्तक में ओरछा, तथा लाल किले का वर्णन भी सुन्दर रूप में मिलता है। संस्कृत शब्द सम्पन्न भाषा का प्रयोग श्री अजमेरी के संस्कृत-ज्ञान का द्योतक है। यह रचना ओरक्षेश को समर्पित की गई है :-

रसिक काव्य- संगीत के जानत धुनि अवखे।

वीर बुँदेला बाँकुरे वीरसिंह जू देव।

श्री ओहेंद्र महेंद्र केकर अरविंद अनूप ।

अरपन यह पुस्तक करहूं, सादर भेंट सखा ।

प्रतिभावान् होकर भी श्री मुंशी जी का ध्यान प्रकाशन या विज्ञापन की ओर न था वे तो अपने वाक चातुर्य से छोटी-बड़ी गोष्ठियों व सभा सम्मेलनों में जहाँ भी अवसर आता, अपने श्रोताओं को मुग्ध करके ही सन्तोष करते थे। प्रकाशन की दिशा में तो वे पूज्य श्री सियाराम शरण जी गुप्त द्वारा लाये गये थे।

समीक्षा -

आपकी कविता के कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं -

भारत विख्यात थे बुन्देला भूप भारती,
चंद जिनकी थी प्रजा आरती उतारती ।
चढ़ा ओरछे पै एक बार शेरशाह सूर,
युद्ध में हराया उसे मार के भगाया दूर ।
उनके सहोदर उन्हीं के यथा अन्य रूप,
ओरछा अधीश हुए मधुकर शाह भूप ।
सिन्धु थे महान शूर शौर्य सुमतशाह के,
कई दुर्ग दाव लिये अकबर शाह के ।
करके पराजित मुरादशाह सा प्रचंड,
विक्रम से दूर लों बढ़ा दिया बुन्देलखण्ड ।
करके सम्मानपूर्ण संधि फिर शाह से,
पालते प्रजा को ये उछाह और चाह से ।
मधुकर शाह महाराज बड़े भक्त थे,
वे वरिष्ठ कर्मनिष्ठ धर्म-अनुरक्त थे ।
पूजा वे विशेष किया करते थे मानसी,

धर्म और कर्म की उन्हें थी आनवान् सी ।

किन्तु भेद-भाव वे प्रजा में नहीं मानते,

स्वधर्मी विधर्मी को समान् सदा जानते ।

भिन्न धर्म वाले यों स्वधर्म-कर्म पालते ।

जिससे नहीं वे किसी दूसरे को सालते ।

रहने सभी यों उस राज्य में हिले मिले,

एक बाग में ज्यों भिन्न-भिन्न फूल हों खिले ।

शाही हुक्म

एक दिन आके बादशाही की बहार में,

बोले बादशाह उसी खास दरबार में ।

राजा महाराजा यह हुक्म सुनें मेरा सब,

तिलक लगाके आना ठीक नहीं होगा अब ।

देखिए किसी का नहीं यह घर बार है,

जाने आप लोग यह मेरा दरबार है ।

तिलक लगाना मुझे सख्त नागवार है,

आप से इसी से यह मेरा इसरार है ।

तिलक लगा के यहाँ कोई अब आवेगा ।

दाग गर्म लोहे से लिलार दिया जावेगा ।[2]

शाही हुक्म से महाराज मधुकर शाह के हृदय में इस प्रकार प्रतिक्रिया होती है -

सेना के समस्त नायकों को समवेतकर,

हुक्म बादशाह के से प्रथम सचेतकर ।

बोले- मैं स्वधर्म से न किन्तु मुँह मोडूँगा,

डर से किसी के कभी तिलक न छोडूंगा।

यही बात आज बादशाह को जताने को,

इतना बड़ा है यह तिलक बताने को।[3]

आम दरबार वह भली भाँति था भरा।

फूला हुआ खेत जैसे पोसते का हो हरा।

राजा महाराजा पाँच सात नौ हजारी थे।

थे बजीर उमरा अमीर दरबारी थे।

बाँधे थे पगड़ियाँ सफेद लाल पीली वे,

ककरेजी, कासनी, कपूरी और नीली थे।[4]

सम्राट अकबर महाराज मधुकरशाह के उन्नत ललाट पर लगा तिलक देखकर आग बबूला हो जाते हैं और अपनी आज्ञा की अवज्ञा में उन्हें राजद्रोही मानते हैं। सम्राट के कटु शब्दों के उत्तर में ओरछेश की आत्मा से ये

बागी अनुरागी, जो हूं सामने हूं, चाह से,

चाहता नहीं हूँ मैं बिगाड़ बादशाह से।

चाहे शाह, शीश अभी देने को तय्यार हूँ,

पखा नहीं है मुझे प्राण की जुझार हूँ।

विना दाग माल हाल नजर करूँगा मैं,

धर्म अपने की आन बान पै मरूँगा मैं।

धर्म मुझे प्राणों से पचासों गुना प्यारा है,

धर्म ही तो लोक परलोक का सहारा है।

धर्म दिव्य दीपक है मोक्ष की भी राह का,

धर्म से नहीं है बड़ा हुकम बादशाह का।

जीते जी कदापि धर्म से न मुँह मोडूँगा,

डर से किसी के कर्म-धर्म नहीं छोडूँगा।

तिलक लगाना धर्म मेरा है सदा ही से,

धर्म छोड़ सकता नहीं, मैं हुक्म शाही से ।[5]

इस प्रकार श्री ओरछेश की धार्मिक दृढ़ता को देखकर सम्राट अकबर मुग्ध हो गया और -

सन्नाटा समा का तोड़ गूँजा शब्द वाह-वाह

बोले बादशाह-वाह मधुकर शाह वाह ।

आपने ही नित्तनेम अपना निभाया है,

जान पर खेलकर तिलक लगाया है ।

मुझ को नहीं है चिढ़ तिलक लगाने से,

मैंने जाँच की थी उस हुक्म के बहाने से ।

तिलक बिना है राजों-महाराजों का समाज,

निकले टिकेत सच्चे सिर्फ एक आप आज ।

आफरी है आपकी अनोखी आन बान पर,

खुश हो गया हूँ मैं सचाई और शान पर ।

मन में जरा भी नहीं मेरे छल छन्द हैं,

सच कहता हूँ मुझे तिलक पसंद है ।[6]

ओरछा

नगर बुन्देलों ने बसाया नया 'ओरछा',

जिसका रहा था यशोगान सब ओरछा ।

बेहवा के नाम तीर नगर मनोज्ञ वह,

था उन नुकीलों के निवास स्थान-यौगय वह ।

चारों ओर वन की सघनता न कम थी,

पथ पथरीले भूमि दुर्गम विषम थी ।

दीखती थीं आस-पास सुंदर पहाड़ियाँ,

और लहराती हुई कर्धई थी झाड़ियाँ।

बहती थी बेगवत्ती वेगवती पूर्व ओर,

कल कल नाद से मचाती हुई मीठा शोर।

ऊपर था ओरछे का ऊँचा दुर्ग दर्शनीय,

महल महान भव्य-मानों नभ स्पर्शनीय।

नीचे तीन योजनों में नगर ललाम था,

दूर दूर ख्यात उसी ओरछेकका नाम था।

पक्के परकोटे बीच था वह बसा हुआ,

मानों स्वर्ग-मुद्रिका में हीरक गया हुआ..........इत्यादि

लाल किला

लाल किला यमुना किनारे था बना हुआ,

समतल भूमि पै वितान सा तना हुआ।

खाई-पार पक्का कोट, ऊँचे दिव्य द्वार थे,

और पक्के फर्श वाले मार्ग मोड़दार था।

तोपें चार-सोने और चाँदी की-दिखाऊ थीं,

शेष अन्य धातुओं की युद्ध में टिकाऊ थीं।

दोनों ओर दुकाने सजी थी द्वार-पोल में,

सुविधा थी दुर्गवासियों को मोल-तोल में।

सेनापतियों का और सेना का निवास था,

आवश्यकता की सभी बातों का सुपास था।

छोटी-बड़ी मस्जिदें, जनानी मरदानी थीं,

मानों ये मुसलमान धर्म की निशानी थीं।

चमकीले, चिकने, सुदर्शनीय दारों,

स्वर्ण-कलशों से युक्त, चंदन-कपाटों के।

बड़े बड़े रत्न जड़े महल मनोज्ञ थे,

बादशाहों-बेगमों के रहने के योग्य थे।

स्वच्छ जलपूर्ण श्वेत पाहनों की नहरें,

आरसी-सी एक झील ले रही थी लहरें।

हँस-चकवे थे रंग-रंग की मछलियाँ,

स्वर्ग-नथों वाली करती थी रंग रेलियाँ।

अनुपम बाटिकाएँ पक्षी रंग-रंग के,

छूटते फुहारे थै विचित्र ढंग-ढंग के।

दो थे सभाधाम 'आम और खास' नाम के,

आम खास कायदे के उनमें सलाम के।

ढेरों धन-वस्त्र नित्य बांटे वहाँ जाते थे,

लाखों के इनाम-इकराम लोग पाते थे।

आगरे का लाल किला कोष था कुवेर का,

या था अन्य रूप उसी सोने का सुमेर का।

चित्रांगदा, श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर रचित-चित्रांगदा का हिन्दी उपन्यास सम्राट श्री वृन्दावनलाल वर्मा ने इसके सम्बंध में लिखा है - यह काव्य एक तिक्त पुष्प-गंध है, परंतु एक बार इसे नाक के पास ले जाने के बाद फिर छोड़ने को जी नहीं चाहता और इसके मद-युक्त सौरभ की स्मृति भुलाये नहीं भूल सकती ......। खड़ी वोली के अतुकान्त पद्य में अनुवादक ने ओज, माधुर्य और संगीत का समावेश प्रचुर परिणाम में किया है। कहीं-कहीं तो अनुवादक की भाषा में प्रवल मादकता है।

इस पुस्तक का कथानक महाभारत के एक आख्यान से लिया गया है जिसमें चित्रा और अर्जुन के प्रेम बंधन की मनोरम कथा है :-

'मदन का परिचय'

मित्र, पञ्चवाण हूँ मैं, हास्य एक वाण में,

एक बाण में है अश्रु, आशा एक बाण में।

एक बाण में है कीर्ति, और एक बाण में,

मिलन वियोग, आशा-भीति, सुख-दुख है,

एक ही निभेष में।

प्रकृति-वर्णन सरस एवं ललित है -

मंद मंद प्राची से,

निकला प्रतीची को झुका है चारू चन्द्रमा,

द्वादशी का, ढालदी हिमांशु-राशि जिसने,

खिसके सुवस्त्र वाली, अमलिन उज्जला,

मेरी रूप राशि पै, समस्त ही प्रसूनों की

पूरित सुगंधि से था तरू-तल और थी,

तन्द्रामय झल्लियों के शब्द से निशीथिनी,

कम्पहीन चन्द्रकरच्छाया स्वच्छ सर में,

पवन प्रसुप्त चाँदनी में धारशीश पै,

मसृष-सचिक्कस तमोवितान-तुल्य ही,

घने पल्लवों का भार, अरवी अडोल थी।

हेमलासत्ता

यह एक छोटी सी पुस्तक है। 48 पृष्ठों में हेमल जाट की कथा है। अपनी पत्नी की मृत्यु हो जाने पर हेमला ने सत्ता होने का विचार किया। अपनी पत्नी के शव के साथ वह चिता पर बैठ गया, लेकिन जलती आग की लपटों से वह घबराया और चिता से भाग खड़ा हुआ। गाँव वाले उसे भूत मानने लगे।

पाठक, सुनिए मारवाड़ की एक कहानी,

था छोटा सा गाँव एक 'खेता' की ढाँणी ।

खेता ने तालाब वहाँ जब बड़ा खुदाया,

तब 'खेतासर' नाम उसी ढाणी ने दाया ।

कृषक हेमला जाट एक था खेतासर में,

दूध, पूत, धन, धान्य, सभी थे उसके घर में ।

सर्व मुखी था एक तरह, सुख से करती थी,

प्रियपत्नी से सदा प्रेम पूर्वक पटती थी ।

थे लड़के-लड़कियाँ बाल-बच्चे बहुतेरे,

नाती, पोते, सदा उसे रहते थे घेरे ।

ग्रहिणी हो बीमार, अचानक पड़ी खाट पर,

बस, विपत्ति इस बार टूट कर पड़ी जाट पर ।

दौड़ धूप की बहुत, किन्तु कुछ चला न चारा,

दिया जरा भी किसी देवता ने न सहारा ।

प्रिय पत्नी को प्राण हीन जब उसने जाना,

जोर-जोर से किया शुरू रोना-चिल्लाना ।

रोते-रोते कहा प्राण अपने खोऊँगा,

सत्तो की माँ-संग सुनो सत्ता होऊँगा ।[7]

गोकुलदास -

यह एक मारवाड़ी वीरगाथा का रूप है । प्रतापी वीर गोकुल दास का नाम इतिहास में अमर है । ये महाराणा प्रताप के भाई शक्तिसिंह के पुत्र माया के सुपुत्र थे । श्री गोकुलदास की वीरता तथा उदारता का इस रचना में वर्णन है । भाषा का ओज एवं शैली का प्रवाह इसमें पूर्णरूप से विद्यमान है ।

कवि ने महाराजा गोकुलदास से दिल्ली के तखत पर बैठाना माँगा। महाराज ने चारण की इच्छा पूर्ति करने की प्रतिज्ञा की और दिल्ली पर हमला करने के लिये अपने सरदारों को प्रोत्साहित किया।

'सुनकर उसकी बात सभा सद-मण्डल डोला,
किन्तु धीर गम्भीर-वीर गोकुल यों बोला-
''वारंट ! तेरी विकट साघ, अद्भुत अभिलाषा,
ज्ञात हो गई, ठहर करूँगा पूरी आशा।
सुन जलदोपम शब्द हुआ चकित स्तंभित कवि,
निर्भिमेष हो रहा देखता वीर मुखच्छवि।
हुआ दूसरा दिवस वीर भाणावत जागा,
सरदारों से कहा- 'सजो केसरिया बागा।
रण में लड़कर जिसे प्राण अपना देना हो,
रवि-मंडल को बंध, वीर की गति लेना हो।
वह हो मेरे साथ कि मैं मरने जाता हूँ,
व्रत-पालन हित समर-सिन्धु तरने जाता हूँ।
हो जिसको परिवार धान-धन-जीवन प्यारा,
है मेरा आदेश कि वह कर जाय किनारा।''[8]

महाराजा गोकुलदास की वीरता पर विमुग्ध होकर चारण ने फिर यशगान किया-

होता हुआ प्रसन्न, वही चारण चल आया,
भाणवत का भरी सभा में सुयश सुनाया।
''गोकुल मायानन्द, भानु कवि-कुल कमलन का,
गोकुल अमलिन चन्द, दोष-तप-ताप-दलन को।

गोकुल गा-द्रिण-पाल, साधु-सुजनन हितकारी,

गोकुल दीन दयाल, प्रनत पालन व्रतधारी ।

गोकुल गहर गम्भीर, छोर सागर सो उज्जवल,

गोकुल सबल शरीर तपे सोने सो निरमल ।

गोकुल सील सुभाव-करम रत, धरम धुरंदर,

गोकुल दिल-दरयाब, पहुनि को मनहुं दुरंदर ।

गोकुल प्रबल प्रताप, प्रथित जनु इजौं पारथ,

गोकुल अतुल अमाप, मनहुं पूरौ परमारथ ।[9]

राष्ट्र-कवि श्री मैथलीशरण जी गुप्त के लघुभ्राता श्री सियाराम शरण जी गुप्त स्वर्गीय मुन्शीजी को गुरूजनों की भाँति ही पूज्य मानते थे । 'झूठ-सच' नामक पुस्तक में श्री सियारामशरण जी ने 'मुन्शी जी' शीर्षक से एक निबन्ध लिखा है । इसके कुछ आवश्यक उदाहरण यहाँ दिए जा रहे हैं, जो श्री मुन्शी जी के जीवन के चित्रपट हैं । इनमें मुंशी जी अनेक रूपों में चित्रित हैं ।

" मुंशी जी ने अपने जीवन में काफी उतार-चढ़ाव देखे थे । जब उनके पिता की मृत्यु हुई, तब उनकी अवस्था सोलह-सत्रह साल की थी । एक साथ ही उस समय दुर्बल कंधों पर गृहस्थी का बोझ आ पड़ा था । उस समय जीविका के लिए उन्हें दूर-दूर तक ऊँट की सवारी साथ लेकर भ्रमण करना आवश्यक हुआ । उस भ्रमण में उन्हें न जाने कितने भिन्न-भिन्न प्रकृतियों के व्यक्ति मिले न जाने कितने-कितने हर्ष-विवाद और आशा-निराशा के प्रसंग उनके सामने आए ।"

"मुन्शी जी सत्कवि थे, भाषा पर उनका अधिकार असाधारण था । ब्रज भाषा, राजस्थानी, और आधुनिक हिन्दी में समानरूप से लिख सकते थे । वणर्न विषय का चित्र सा खींच देने की शक्ति उनमें विलक्षया थी । कवित्व उनके लिए स्वाभाविक होने के कारण ही संभवत: उसकी ओर वे यशोवित ध्यान नहीं दे सके । स्वत: लिखने की अपेक्षा इंसरों की रचना में संशोधन करने और उन्हें उचित सलाह देने में ही उनके कवित्व को संतोष हो जाता था ।"

''उनकी सूझ-बूझ विलक्षया थी। बात-चीत में उनका प्रन्युत्पन्नमतिष्ट स्वयं देखने और रस लेने की वस्तु थी। आवश्यक होने पर तुरन्त बात करते करते छन्दोरचना करके श्रोता को चकित कर देना उनके लिए साधारण बात थी। आशु कवियों की कविता में स्थायित्व का गुण प्राय: नहीं देखा जाता। फसल के पौधों की तरह आई और वह गई। परन्तु मंन्शी जी की कविता की बात दूसरी है।''

बड़े-बड़े साहित्य मर्मज्ञों को मुग्ध करने का गुण उनमें था। आचार्य द्विदेजी जी ने उन्हें एक बार आज्ञा दी - कुछ अपना ही सुनाओं मुन्शी जी ने अपने कुछ कवित पढ़े, सुनकर द्विवेदी जी बहुत प्रभावित हुए। कहा- आपने तो भूषण को मात कर दिया। पास ही मार्मिक समालोचक पंडित रामचन्द्र जी शुक्ल बैठे थे। उन्होंने कहा- भूषण में भाषा की ऐसी स्वच्छता और संस्कार नहीं मिल सकता।

''साहित्य की अपेक्षा मनुष्य अपने जीवन में अधिक स्पष्टता से व्यक्त होता है। मुन्शी जी के संसर्ग में थोड़ी देर के लिए भी जो व्यक्ति आया वह उन्हें फिर कभी नहीं भूला। दो चार वातें करके ही वे किसी को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे।''[10]

मुन्शी जी जन्मत: मुसलमान होकर भी संस्कारत: वैष्णव थे। प्राय: लोगों को विश्वास न होता था कि वे मुसलमान हैं। हिन्दु धर्म में उनकी आस्था ऐसी ही अटल थी। भक्ति रस की कविता से तुरन्त ही उन्हें अश्रुपात होने लगता था। भैया उन्हें कोई रचना सुना रहे हैं और उनकी आँखों से अजस्र आँसुओं की धारा बह रही है। ऐसी स्थिति में अनेक बार ऐसा हुआ है कि कविता की अपेक्षा मेरा हृदय उनके आँसुओं से अधिक द्रवित हुआ। मुझे बार-बार- इसका अनुभव हुआ है कि मुन्शी जी जैसा सरस कोमल हृदय कहीं मुझे भी मिला होता।

हिन्दुत्व का प्रभाव उन पर इतना गहरा था कि कभी-कभी वह मुझे अरुचि कर हो उठता था। खान-पान में छुआ-छूत का विचार कुछ कड़ाई से करते थे।

बहुत दिन पहले एक बार मुन्शी जी को कोई रोग हुआ। रोग कदाचित रक्त सम्बन्धी था। उससे उन्हें बहुत चिंता हुई। उस समय उन्होंने नियम किया कि वे प्रतिदिन नियमपूर्वक मन्दिर में जाकर कीर्तन करेंगे। थोड़े ही दिनों में उनका रोग अपने आप दूर हो गया। उनकी श्रद्धा ऐसी ही अटल थी। उनका विश्वास था कि शुद्ध मन से जब कभी वे प्रार्थना करेंगे वह निश्चय ही पूरी होगी। नागरी प्रचारिणी सभा काशी में सूरसागर का संपादन करते समय उन्हें ज्वर और खाँसी की शिकायत हो गई थभ। यह व्याधि बढ़ती गयी और उनकी मृत्यु का कारण बनी। इनके निधन से चिरगाँव क्या सारा बुन्देलखंड और सारा साहित्य जगत शोकमग्न हो उठा था।

श्री अजमेरी ने अपने कथा-कहानियों को कविता वद्ध किया था। 'मधुकर शाह' नामक पुस्तक को भूमिका में पूज्य मैथलीशरण जी लिखते हैं-

''मुन्शी अजमेरी बड़ी सुन्दर-सुन्दर ऐतिहासिक और काल्पिनक कथा कहानियाँ भी कहते हैं। उनकी इस कथकता के कारण ही वर्णन की सांगोपांगता उनकी विशेषता है। अत्यधिक सहृदयता के कारण अंत में यह कहे बिना उन्हें शान्ति नहीं कि - ''जैसे इनके दिन फिरे वैसे भगवान सब के फैरे।''[11]

'भदभद' नामक कहानी में एक मियाँ साहब की जीवन गाथा चित्रित की गई है। मियाँ साहब का नाम भदभद था और उनकी बीबी का नाम जमालो। यह दम्पत्ति कंगाली में पिसा जा रहा था। मियाँ घर से भागे और नौकरी की तलाश में मारे-मारे फिरे। भाग्योदय से वे तहसील में चपरासी हो गये। अब वे अपने घर से बहुत दूर थे। एक भटयारी से उनका प्रेम हो गया। मियाँ साहब ने अपनी बीबी के गुजर जाने का हाल बतलाकर ही भटयारी को फँसाया था। नौकरी छूटने पर भटयारी के साथ मियाँ घर पर आते हैं। जमालो को सब राज मालूम हो जाता है और मियाँ की खूब पिटाई होती है। कहानी की शिक्षा इस प्रकार है -

दो बीबियाँ कभी मत करना।
वरना ऐसे होगा मरना।

इस प्रकार श्री अजमेरी जी ने हिन्दी भाषा एवं भारतीय भावना का अवलंब लेकर उदात साहित्य की जो सृष्टि दी है, वह वास्तव में महती है। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है श्री अजमेरी ओरछा-नरेश के दरबारी कवि थे। राज-कवि के रथ में श्री ओरक्षेश ने आपको सदैव समाहत करके अपने हिन्दी प्रेम का परिचय दिया। आज श्री अजमेरी हमारे बीच में नहीं है, फिर भी उनको अनुपम हिन्दी-साहित्य सेवा हमारे लिए गौरव की वस्तु रहेगी और सतत् उनकी स्मृति को हमारे लक्ष्यों में जीवित रखेगी।

श्री अब्दुल रहमान 'मंजर'

(जन्म- सन् 1874 लगभग)

कवि भावुक होता है। उसकी संवेदनशीलता ही उसे मानव के सुख-दुख का साथी बनाती है। पृथ्वी की गोद में जन्म लेकर और पोषित होकर जब कवि इधर-उधर देखता है तब उसकी दृष्टि में जन-जन का स्वस्थ समा जाता है। वह स्वानुभूति से मानव के जीवन का परिज्ञान करता है तथा उसकी आशा-निराशा, त्याग, स्नेह एवं उसके क्रोध और पश्चाताप का अनुभव करके अपनी वाणी से इन भावों की अभिव्यक्ति करता है। कविता अनुभूति के परिपूर्ण क्षणों की वाणी है ऐसी अवस्था में आशा-निराशा, राग-द्वेष, सुख-दुख, रोष-आक्रोश की अभिव्यक्ति आवश्यक है। श्री मंजर साहित्यभूमि ओरछा (टीकमगढ़) के सम्पर्क में आते ही कवि बन गए। आपकी साधना स्थली एवं काव्य-शक्ति प्रदायिनी धरित्री टीकमगढ़ की धरा थी। यहाँ पर आप सन् 1915 में सवाई हाईस्कूल के पर्शियन अध्यापक के रूप में आये थे। तत्कालीन ओरछा नरेश वीरसिंह जूदेव के हिन्दी-प्रेम ने श्री मंजर की भावना को हिन्दीमय कर दिया। आप सरस्वती के सेवी बने और अपने अनूभूति मय काव्य को हिन्दी से अलंकृत करने लगे। श्री महाराजा साहब से अनेक वार पुरस्कृत होने से आपकी कविता उत्तरोत्तर परिष्कृत होती गई। टीकमगढ़ के राजकवि होने पर भी आपकी

कविता में राज्य-वैभव की विलासिता नहीं है, अपितु दीन-हीन की तड़पन है। गरीबी मजबूरियाँ, अत्याचार के प्रति विद्रोह आदि आपके काव्य में प्रधान स्वर हैं।

राजमहल की परिधि से घनिष्ठ सम्बंध होते हुए भी श्री मंजर ने अधिकारियों की अकर्मण्यता पर गहरे व्यंग्य किए हैं। राजसत्ता धारियों को चेतावनी देकर उन्होंने अनेक बार उनको फटकारा है। नौकर होकर श्री मंजर ने बेकारों की हाय को शासकों के कानों तक पहुंचाया। बहुत काल तक आप अध्यापक रहे। जीवन में धन का सदैव अभाव रहने के कारण वे सुख की नींद न सो सके। गरीबी ने उनको ऐसा दबोचा कि उनकी वाणी में तूफानी जोश आया और वे ज्वाला मुखी की लपट के समान व्याकुल हो उठे। मानवता के प्रति होने वाले अट्टहास को वे न देख सके और वे नवीन परिवर्तन के अभिलाषी बनकर यथार्थवाद की नींव पर आदर्शवाद का सुन्दर महल बनाने में तत्पर हो गये। सचमुच हम श्री 'मंजर' के काव्य में राष्ट्रकवि गुप्त जी का देश-प्रेम, दिनकर की भाव क्रान्ति, भगवती चरण वर्मा की मानव-वेदना, श्री ब्रिज की कसक और नेपाली का नव-युग का आहान पाते हैं। श्री 'मंजर' ने जनता की भाषा को अपनाया उसमें वह बोली है, जो किसान बोलता है जिसमें मजदूर बात करता है, और जिसमें ग्रामीण नारी विरह के गीत गाती हैं। आपकी भाषा में उर्दू का फुट होना आवश्यक है क्योंकि मौलवी मंजर की कविता उर्दू के वातावरण में पलकर बढ़ी हुई है। फिर भी उनमें हिन्दी का मिठास विद्यमान है। हिन्दी के सौरभ से सुरभित होकर आपका काव्य आज भी सबके मनोरंजनार्थ जीवित है और भविष्य में भी आने वाली पीढ़ियों को यह प्रबुद्ध करेगा, क्योंकि उसमें चिरंतन भाव हैं और सत्य तथा शिव की अनुभूतियाँ हैं।

रचनाएँ -

मंजर ने उमर खय्याम की रूबाइयों का हिन्दी अनुवाद 'इकसीरे खैयाम' के नाम से किया है। इनकी कोई स्वतंत्र कृति नहीं हैं। कुछ लम्बी रचनाएँ हैं, जिनमें-

बापू की याद में, गरीबों की दुनियाँ, मजदूर की झोंपड़ी आदि हैं। इनके अतिरिक्त सैकड़ों स्फुट कविताएँ और राम-कृष्ण विषयक छन्द हैं।

समीक्षा-

कवि का मूल काव्य स्वर प्रगति वादी है। मजदूर की दुर्दशा को मजदूर बनकर ही जाना जा सकता है 'दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए' कविता में ये भाव ध्वनित हैं :-

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(1)

भूख में दो दिन का बोझा सर पै ढोकर देखिए,
चलते-चलते रास्तों में, खाके ढोकर देखिए।
खूने बाजू से फटा दामन, भिगो कर देखिए,
देखकर हँसते हुए लोगों को रोकर देखिए।
दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(2)

जब जमाने में खुशी की, छाई हो हरसू बहार,
ईद का दिन हो कि दीवाली दशहरे का त्यौहार।
भूखे बच्चे करते हो जब, रोटी-रोटी की पुकार,
गेहूँ चावल की जगह, मटकी में चोकर देखिए।
दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए।

(3)

कोठियों, वंगलों से नेता जी जरा मुँह मोड़ कर,
सेठ साहूकारों की जेबों से रिश्ता तोड़ कर,

मोटे मोटे नर्म गद्दों की मसहरी छोड़कर,

गिट्टी पर इक रात नंगी पीठ सोकर देखिए।

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(4)

हो गवर्नर या मिनिस्टिर या कोई सूरमा,

कुर्सियों पर बैठकर तो चल नहीं सकता पता,

आप दिल से चाहते हैं, गर गरीबों का भला,

नर्मो नाजुक पावों में काँटे चुभोकर देखिए।

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(5)

नंगे भूखों की लबों तक आ गई जाने हजी,

आपका अपने बजट ही से अभी फुर्सत नहीं,

आह इनकी ले न डूबें, इस हुकूमत को कहीं,

इन गरीबों के लिए करना हो जो कर देखिए।

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(6)

जो कहा था आपने इन बेकसों को दीजिए,

बिल की चर्चा छोड़कर दिल की दुआएँ लीजिए,

वक्त अब आया है वादे अपने पूरे कीजिए,

खंतियों में आबरू ओहदों की खोकर देखिए।

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(7)

खस की टट्टी से निकल कर, डालिए हजरत नजर,

दोपहर के वक्त नंगे पाँव तपती रेत पर,

जा रहा है कौन ये गठरी रखे खस्ता जिगर,

आप भी इक दिन जरा, यू बोझ ढोकर देखिए।

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए

(8)

रात दिन की उलझनों में जिन्दगी जब हो बसर,

खून पानी करके भी जब हो न रोटी पेट भर,

जाड़े की शिद्दत से काँपे जब जवानों का जिगर,

बीबी बच्चों के फटे, चिथड़ों को रोकर देखिए।

दुर्दशा मजदूर की मजदूर होकर देखिए।[12]

मुन्शी प्रेमचन्द्र जी की तरह श्री 'मंजर' ने अपने काव्य में उन लोगों को स्थान दिया है, जो विस्तृत हैं, जो देश के सब कुछ होकर भी अज्ञात हैं और जो चाहें तो देश को बना-मिटा सकते हैं। 'मजदूर की झोपड़ी' नामक कविता में श्री 'मंजर' की वेदना रो पड़ी है।

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है

(1)

हर एक रोग की जन्मदाता यही है,

यहाँ गंदगी घर बनाकर रही है,

जमाने की काया पलट हो रही है,

मगर दुर्दशा इसकी अब तक वही है,

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है।

(2)

गरीबों की दुनियाँ सिसकती यहाँ है,

प्राणों में पीड़ा कसकती यहाँ है,

हमेशा मुसीबत बरसती यहाँ है,

कोई दम न आराम राहत यहाँ है,

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है।

(3)

हुआ, जिनसे जंगल में मंगल हमेशा,

जिन्होंने इस उजड़े चमन को बसाया,

है भारत की हर ईंट में हाथ जिनका,

यहीं पर हुए थे वह पैमार पैदा,

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है।

(4)

कहाँ महल अटारी, कहाँ-कहाँ एक टपरिया,

कहाँ फर्श मखमल, कहाँ घास कूड़ा,

वहाँ शमाए रोशन यहाँ घुप अंधेरा,

वह पूंजीपति का है रंगीन बँगला,

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है।

(5)

यहाँ न सभ्यता है न शिक्षा न रक्षा,

यहाँ कोई नेता न पंडित न मुल्ला,

यहाँ दर्द दुख के सिवा क्या धरा है,

यहाँ पाप है जन्म लेना मनुष का,

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है।

(6)

ये मैले कुचैले है मासूम बच्चे,

है सर पर पड़ी खाक तन पर है चिथड़े,

सिखाए उन्हें कौन, श्लोक कान में,

मयस्सर नहीं है, जिन्हें सूखे टुकड़े,

यह बेचारे मजदूर की झोपड़ी है ।

(7)

मनुष्यता का मरघट है, ये घर न समझो,

गुलामी यही पलती है बढ़ती है देखो,

वतन के शहीदों पै, ए रोने वालो,

तड़प कर दो आँसू, यहाँ भी गिराओ ।[13]

अतः बेकारों की हाय प्रलय बुलाती है। गरीब की पुकार पर भगवान नंगे पैर दौड़ते हैं उसे सताना घोर पाप है। दीन-दुखी जब रोता है तब गगन काँप उठता है और अंचला चंचल हो उठती है। धन-पिशाच आज दीन के सिर पर बैठ कर इठला रहा है। महाकवि दिनकर ने एक दिन विकल होकर कहा था -

आज दीनता को प्रभु की पूजा का भी अधिकार नहीं,

देव। बना था क्या दुखियों के लिए निठुर संसार नहीं,

धन-पिशाच की विजय, धर्म की पवन ज्योति अदृश्य हुई,

दौड़ो बोधि सत्व ! भारत में मानवता अस्पृश्य हुई ।

महाकवि निराला का भावुक हृदय दीन को देखकर पल-पल में द्रवित होता रहता है -

पेट पीठ दोनों मिलकर एक,

चल रहा लकुटिया टेक,

मुट्ठी भर दाने को-भूख मिटाने को,

मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता,

दो टूक कलेजे के करता पछताता पथ पर आता ।

निराहत मानव का विद्रोह भगवान शंकर के तीसरे नेत्र के समान भयंकर होता है। 'बेकारों' की हाय में श्री मंजर का कोमल हृदय विकल हो उठा है। वे मानवता का मूल्य धन से नहीं आंकना चाहते :-

रंग लायेगी जरूर एक रोज लाचारों की हाय,
चलने वालों को बिठा देगी थके हारों की हाय,
चैन से बैठे हुओं का दिल न तड़पा दे कहीं,
हँसने वालों के कलेजे को न वरपा दे कहीं,
इस गरीबी और मँहगाई में वेकारों की हाय।
उन्नती परिवार की बच्चों की शिक्षा रह गई,
चलते-चलते क्या भँवर में फँस के नैया रह गई,
क्या गजब है जिन्दगी होकर तमाशा रह गई,
सुनने वालों के जिगर में बन के काँटा रह गई,
इस गरीबी और मँहगाई में वेकारों की हाय।
सेठ जी पहचानिए शायद यही है वो गरीव,
ब्याज बट्टे में है लूटा आपने जिसका नसीव,
बैठने भी अब नहीं देते हो तुम उसको करीव,
खैर इतना याद रखिए खेल खेलेगी अजीव,
इस गरीबी और महगाँई में वेकारों की हाय।
जो नहीं देखा है अब तक वह न दिखा दे कहीं,
आस्मा से आग के शोले न वरसा दे कहीं,
स्वार्थ ! दुनिया की बेदर्दी सही जाती नहीं,
बात मुँह तक आती है लेकिन कहीं जाती नहीं,
आग फाको की दबाए से दवी जाती नहीं,
टुकड़ा होता है जिगर 'मंजर' सुनी जाती नहीं,
इस गरीबी और मँहगाई में वेकारों की हाय।[14]

आज सब कुछ बदल रहा है लेकिन दीन-हीन की किस्मत नहीं बदल रही है। सबकी ओर देखने वाले दीन की ओर जो देखता है वही दीन-बन्धु परमात्मा बन जाता है। वास्तव में दीनता अभिशाप है। दैन्य घोर पाप है। गरीबी महान पाप है। जब गरीबों की दुनिया बदल जायेगी तब ही भारत का पुण्य स्वरूप सामने स्पष्ट हो सकेगा।

श्री 'मंजर' को वर्तमान परिवर्तनशीलता पर परिताप है, संताप है, असंतोष है, क्योंकि बदलने के लायक जो चीज थी वह नहीं बदल रही है। जिसके बदल जाने को दुर्भाग्य सौभाग्य बन जाता है जिसके मिट जाने से भारत की गरिमा प्रकट हो सकती है, और जिसकी मृत्यु से जीवन मिल सकता है वह चीज वैसी की वैसी है।

'इमारात बदले' मकानात बदले।

(1)

रिवायात बदली, निशानात बदले,
रवादात बदली, रसूमात बदले,
खुराफात बदली, खरावात बदले,
मगर हाँ न बदली न बदली न बदली,
गरीबों की दुनिया, गरीवों की दुनिया।

(2)

बदलने को दुनिया में क्या क्या न बदला,
कलीसा[3] न बदला, कि कावा न बदला,
निगाहें न वदली, कि जलवा न बदला,
तबीयत न वदली, कि शेवा[4] न बदला,
मगर हाँ न वदली, न वदली न बदली,
गरीबों की दुनिया, गरीवों की दुनिया।

(3)

तराव्युर ने दुनिया की सूरत बदल दी,

जमीं आसमां की हकीकत बदल दी,

इमारत बदल दी विजारत[6] बदल दी,

रियासत बदल दी, हुकूमत बदल दी,

मगर हाँ न बदली न बदली न बदली,

गरीबों की दुनिया, गरीबों की दुनिया।

(4)

गुलिस्तां की रंगी अदाई[7] भी बदली,

अनादिल की नगमा सराई भी बदली,

अकींदो की जोर आजमाई भी बदली,

खुदा की तरफ से खुदाई भी बदली,

मगर हाँ न बदली, न वदली न बदली,

गरीबों की दुनिया, गरीवों की दुनिया।

(5)

नई रोशनी है नया दौर अब है,

नई जिन्दगी है नया हर सबब है,

निराला है आलम, जमाना अजब है,

कि बदला हुआ आज दुनिया का सव है,

मगर हाँ न बदली, न वदली न बदली,

गरीबों की दुनिया, गरीवों की दुनिया।[15]

पेशावरों की पेशी का रहस्य आज तक गम्भीर वना हुआ है। जितना कठिन भगवान की अद्‌भुत रचना को समझना है उतना ही मुश्किल पेशी की व्याख्या करना है। श्री 'मंजर' की 'पेशी में है' शीर्षक कविता पेशी की उलझनों से सम्वन्धित है :-

पेशकारों की जबां पर चढ़ गया पेशी में है,

पूछिए कुछ भी कहेंगे-वरमला पेशी में है,

पूछी वाइफ की खबर तो उसको फाइल मान कर,

बोले हाँ कल ही उसे, मैंने रखा पेशी में है,

डालकर पाकेट में नजराना कहा कल आइएगा

दस्तखत होना है कागज-आपका पेशी में है,

उहदेदार उनके दरों पर जाके करते हैं सलाम,

कोई टी. ए. बिल जब उनका पहुँचता पेशी में है,

मरने वाला मौत से कहता है जालिम ठहर जा,

मेरी पेंशन का अभी कागज रखा पेशी में है।

बस्ते में रक्खे हुए अर्जी की पुर्जी हो गई,

लेकिन उनसे जब कभी पूछां, कहा पेशी में है,

कौन बस्ता खोलकर बिन फीस देखे कागजात,

टालना जिसको हुआ, बस कह दिया पेशी में है,

कुछ न पूछा उनसे हमने की फकत जयराम जी,

बोलेजी हाँ आपका कागज रखा पेशी में है,

सूखे रूखे दस्तखत करते रहे बैठे हुए,

अफसरों में वह कहाँ है जो मजा पेशी में है।

मुतंजिर हूँ मैं भी उनकी इक निगाहे लुफ्त पर,

मेरी भी किस्मत का 'मंजर' फैसला पेशी में है।[16]

कवि युग का प्रतिनिधित्व करता है। उसकी वाणी में उसकी लेखनी में, उसके चिंतन में युग की भावनाएँ, मान्यताएँ एवं पुकारें साकार बनती रहती हैं। कवि जो कहता है वह स्पष्ट होता है, उसमें दुराव-छिपाव को स्थान नहीं है। उसकी स्पष्टवादिता श्रोता एवं पाठक को आकर्षित कर लेती है। कवि की स्पष्टता उसकी वाणी की

मधुरता है- 'कहने का मज़ा तब है जब एक कहे और दूसरा समझे, अपना कहा जब आप ही समझे तो क्या समझे ।'

श्री 'मंजर' का कथन सांसारिक अनुभवों से परिपक्व है, जो कुछ वे कहते हैं, खुलकर कहते हैं जिसे हर एक समझ जाता है -

आज कल आभार-प्रदर्शन का सुगमतम रूप है थैंक्यू (आपको धन्यवाद देता हूँ) कह देना ।

घास का तिनका उखाड़े, आप या खोदें पहाड़,
दोनों की उजरत यहाँ पर है बराबर थैंक्यू ।
है यही काफी उन्होंने, नज्म सुनकर कह दिया,
दिल हमारा कर दिया, खुश तुमने 'मंजर' थैंक्यू ।

नौकर अपने स्वामी से सीधा नहीं मिल सकता । हाकिम के सामने पहुँचने के कई मोड़ हैं । सीधा प्रार्थनापत्र भेजना अपराध है ।

माँगी दुआ तो बोले, मुझसे वजीर आलम,
देता है तू खुदा को, डाइरेक्ट एप्लीकेशन ।

''मेरी गुईयाँ कौन है'' शीर्षक कविता स्वयं स्पष्ट है । इसके सम्बन्ध में अधिक लिखना निरर्थक है । गुइयाँ-बुन्देलखण्डी बोली का शब्द है । इसका अर्थ है सहेली -

इक मुलाजिम ने सिविल के एक दिन मुझसे कहा,
वाज अफसर अफसरियत के नहीं काबिल जरा,
काम सरकारी की वो करते नहीं परवा कोई,
पर जमाना जानते हैं खूब शाने अफसरी ।
घर पे जाकर जो नहीं करते उन्हें सौ-सौ सलाम,
उनके बच्चों और उनके जो नहीं बनते गुलाम,

उनसे सीधे मुँह व टेड़े खा नहीं करते बात,

गुस्तइत कितने ही अपने काम में हो नेक जात,

सुनके उसकी दास्ताने दिल शिकन मैंने कहा,

मुझको तो सर्विस में अपनी, यह हुआ है तजरवा,

मर्द अफसर देखते हैं मर्द मर्दा कोन है,

पर जनाने झाँकते हैं, मेरी गुईयाँ कौन हैं ।[17]

अध्यापक सदैव से अपने भाग्य को कोसता चला आ रहा है, लेकिन उसकी किस्मत का रोना कब सुना जायगा, पता नहीं। श्री 'मंजर' एक दीन अध्यापक के रूप में वर्षों काम करते रहे। लेकिन सुख की नींद सोकर वे आनन्द के स्वप्न कभी भी न देख सके।

बिगड़ कर एक दिन कहने लगी,

बेगम मियाँ 'मंजर'

हुए लिख पढ़के नाहक,

आप इस स्कूल के टीचर ।

अगर होते पुलिस के इंस्पेक्टर,

तो मजा होता,

तुम्हारी जेब पुर होती,

मेरा बटुवा भरा होता ।

इससे अच्छा था,

खटाई बेचते बनकर कठैल

पड़ गई नाहक गले में,

टीचरी बनकर चुड़ैल ।

उम्र भर चलते रहे,

लेकिन वहां के हैं वहीं,

ये हमारे मास्टर साहब

हैं या कोल्हू के बैल ।[18]

श्री 'मंजर' ने उमर खैयाम की रूबाईयों का भी अनुवाद किया है -

(1)

तू नहीं पीता है मत पी, मस्तों को ताने न दे,

कर लेंगे तोबा खुदा से, आवेंगे जब दिन भले।

इक शराबे नाब तूने पी नहीं तो क्या किया,

सैकड़ों करतूत में खोरा से बेहतर है तेरे।

(2)

पीना चाहे तो किसी होशियार की संगत में पी,

यां किसी रश्के कमर महबूब की सोहबत में पी,

पी मगर बेहद न पी, आदी न हो जाहिर न कर,

थोड़ी पी हरदम न पी, खुल न पी खिलवत में पी

(3)

आह किस उम्मीद पर कोई जमाने का बने,

दौलते दुनिया से आकिल, किस तरह उलफत करे,

पहला ही सागर, अभी थककर न पीने पाये थे

मौत आ पहुँची कि प्याला, आखरी पी लीजिए।

(4)

क्या सुनाऊँ क्या कहूँ, अपनी हकीकत की कथा,

कहने को सब कुछ था, लेकिन क्या था मैं कुछ भी न था,

बुलबुला था एक पानी का, फकत मेरा बजूद,

आँखों ही आँखों में जो, उभरा वना बिगड़ा मिटा।[19]

श्री 'मंजर' की कविता उनके विहल हृदय की वाणी हैं। आप एक सच्चे कवि हैं। उनके काव्य में जीवन का संघर्ष है और पीड़ित मानव के स्वर हैं। श्री 'मंजर' के स्वर प्रगतिवादी हैं।

कवि भावों की सृष्टि का विधाता है, जैसे विधाता नवीन सृष्टि करता है, उसी प्रकार कवि भी नवीन ज़ीवन, नवीन आकांक्षाओं को जन्म देता है। पर सृष्टा ओर कान्तदर्शी होता है। कवि का ही सामर्थ्य है कि वह भूतकाल के अस्थि-पंजर पर पाँव रोपकर वर्तमान की जटिल समस्याओं को भविष्य का सन्देश देता है। पूरे समाज को मार्गदर्शन कराता हे। वह गा-गाकर रो-रोकर मानव हृदय को जगाया करता है, वह गाते हुए रोता है और रोते हुए हँसता है। वह विश्व की वेदना को अपनी अपनी वेदना समझता है। उस वेंदना भार से बोझिल उसका हृदय जब चीखता है, कराहता और पुकारता है तो उसकी वह आह कविता कही जाती है।

कविता के सम्बन्ध में प्रकट किये गए श्री रामनाथ,'सुमन' के ये विचार शाश्वत हैं। इन विचारों की गाथा में यदि हम श्री 'मंजर' की कविता को देखें तो कहना होगा कि श्री 'मंजर' का काव्य वास्तविक अनुभूतियों का चिरन्तन रूप है।

श्री नबीबख्श '''फलक'

(जन्म- सन् 1892, मृत्यु सन् 1950)[20]

परिचय- कवि की धारणाएँ तथा मान्यताएँ महान होती हैं। उसकी दृष्टि में यह अखिल विश्व पावनता का प्रतीक बनता है। कवि अपनी विशाल अनुभूति के द्वारा सर्वत्र परमात्मा के दर्शन करता हुआ चराचर में उस महान शक्ति का आभास पाता है। कवि स्वम्भू है। वह निर्माता युग दर्शक है। मानवता को प्रबुद्ध बनाना कवि अपना लक्ष्य मानता है। भावुकता उसकी प्रेरणा शक्ति है और अनुभूति उसकी चेतना है। इन दोनों का समन्वयण ही कवि की लेखनी को सशक्त बनाता है। सच तो यह है कि कवि ही दार्शनिक है और इसीलिए अद्वैतवाद के वास्तविक अर्थ को ही समझ सकता है। वीणा पुस्तक धारिणी भगवती सरस्वती के सच्चे सेवक इस कवि को संसार के कल्पित जाति-भेद एवं मानव निर्मित वर्ण-व्यवस्था कलंक सदृश मालूम होती है। कविवर 'फलक' ऐसे ही आदर्श सरस्वती पुत्र थे, जो मुसलमान होते हुए भी समदर्शी थे और

राम-रहीम, मंदिर-मसजिद, कुरान-पुरान, काशी-कावा, साधु-फकीर तथा हिन्दी उर्दू में अभेद मानते थे। निम्न कवित्त उनका जीवन-परिचय है -

''राम या रहीम रहमान का न भेद मान,
मंदिर में मसजिद में रोज-रोज जाता हूँ।
आयते कुरान की खुशी से पढ़ता हूँ यथा,
वेद औ पुरान के तथैव गीत गाता हूँ।
मेरे यहाँ काशी और कावा में न भेद-भाव
साधुओं कबीरों से प्रसन्नता दिखाता हूँ।
हिन्द की जुवान हिन्दी उर्दू का गुमान मुझे,
दतिया निवासी कवि 'फलक' कहाता हूँ।''

कवि दतिया में जन्मा, पला, बढ़ा ओर तत्कालीन नरेशों से सम्महत हुआ। दतिया ही इनकी कर्मभूमि रही। कवि की दृष्टि में राव रंक का इस जगत में भेद मिथ्या है। वे कहते हैं -

कवि का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है। इनकी स्फुट रचनाएँ बहुत अधिक हैं जिनका अब दतिया के साहित्यकारों ने संग्रह किया है। कवि सम्मेलनों में इनकी रचनाएँ अत्यधिक सराही जाती थीं। आपके मधुर कण्ठ से श्रोता तन्मय हो जाते थे।

रंक राव सुकृती अघी, कुंटी झोपड़ी मौन,
अपना है यह सब जगत, अपन पराया कौन।

जैसे हैं अमीर जन वैसे ही गरीब लोग,
जैसे नर तैसे पशु सारी एक माया है।
पापी है न कोई धरमात्मा न कोई कहीं,
कोई न पुरूष ना नपुंसक न जाया है,
देवता न दानव है, दानवी न दैवी सृष्टि,
मंदिर न मस्जिद का रथ कहीं पाया है।

विधि का बनाया यह जग सपना एक,

कोई भी कहीं भी नहीं अपना पराया है ।

काव्य ग्रंथ -

कवि का कोई स्वतंत्र ग्रंथ नहीं है । इनकी स्फुट रचनाएँ बहुत अधिक हैं जिनका अब दतिया के साहित्यकारों ने संग्रह किया है । कवि सम्मेलनों में इनकी रचनाएँ अत्यधिक सराही जाती थीं । आपके मधुर कण्ठ से श्रोता तन्मय हो जाते थे ।

समीक्षा -

भक्ति की आधारभूमि विनय है । इसमें दैन्य प्रधान है । भक्त की अनन्यता में दीनता सम्मिलित है । विनय के माध्यम से ही सेवक अपने आराध्य की कृपा को प्राप्त करता है । विनय के द्वारा कलुषित आत्मा पवित्र हो जाती है, जीवन में दिव्यता का संचार हो जाता है । मनुष्य को अपने कर्तव्य का ज्ञान हो जाता है और वह शक्तिशाली सुसम्बल और भला बन जाता है ।

श्री फलक की विनय- भावना की मनोरमता द्रष्टव्य है-

दोहा- दीनबन्धु अशरण शरण, प्रभुवर दीना नाथा,

भव सागर सों तारिये, पकरि ''फलक'' को हाथ ।

कवित्त - दीन हों दुखी हों, दीनबंधु है तिहारो नाम

जैसे जिन मजें तिन्हें तैसे तुम तारे हैं ।

विनय हमारी पे न कान नेक दीन्हीं आय,

टेरि टेरि बेरि बेरि साठ हेरि हारे हैं ।

पापन भरी है नाथ ! भौंर में फँसी है नाव,

भय मझधार है न सूझत किनारे है,

सोच निजवान तुम्हें तारने परेगो मोहि,

व्याध औ अजामिल तें 'फलक' न न्यारे हैं ।

मानव इस संसार में खाली हाथ आया है और खाली हाथ जाता है, फिर भी माया को एकत्रित करने में वह रात-दिन लगा हुआ है। धन-सम्पत्ति, और माल-खजाना सब यहीं पर पड़ा रह जाता है। आत्मा के साथ धर्म ही जाता है। इसलिए सन्तों ने कनक-कामिनी के मोह परित्याग और दान-पुण्य करने का उपदेश दिया है। 'फलक' भी यही कहते हैं -

करि लै नादान दान पुण्य तीर्थ यज्ञ जाप,
सीधी कर राह बस शीघ्र निज धाम की।
छोड़ अभिमान और तजदै गुमान मूढ़,
बन ना अजान माला फेर हरिनाम की।
करिके सिंगार जहि पोषत 'फलक' नित्य,
जूती हू बनेगी नाहिं ताके कषौ चाम की।
सम्पति करोरन की कष्ट करि पैदा करी,
जै है सो न तेरे साथ, रै है नहीं काम की।

गोपी विरह वर्णन हिन्दी साहित्य में व्यापक स्तर पर लिखा गया है। उसके माध्यम से नित्य नूतन साहित्य की सृष्टि हो रही है और भविष्य में भी होगी। यदि प्रेम विश्व प्रासाद की नींव है तो विरह उसकी निर्माण सामग्री है। प्रत्येक देश तथा हर एक भाषा का साहित्य विरह की आकुलता से निर्मित है। विरह की साँसे काव्य में नवजीवन भरती हैं। राधा-कृष्ण का मस्तिष्क उनके विरह भाव पर ही तो आज तक अनुभव गम्य हो रहा है।

पावस में वियोग की अधिक उदीप्ति होती है। सावन में मन भावन श्याम का आगमन न देखकर राधिका की विकलता बढ़ जाती है। इस आकुलता का चित्रण भावुक कवि 'फलक' ने कितना मार्मिक किया -

दोहा-
घन छाए, आए नहीं, श्याम सलौने गात,
सावन सित वरसात के, वीत गए दिन सात।

कवित्त- पल्लव नवीन मंजु-मंजु लहरात अति,

कुंजन में हरित बिछाते अभिराग हैं ।

दादुर कौ शोर रट चातक की पीउ पीउ,

मोहि ना सुहाति पति, पूत, धन धाम है ।

मोर बन नाचै पै न मोर मन मोद माचै,

प्रीतम वियोग में अधीर हम साम है ।

'फलक' सौं आवै नीर, उठत करेजे पीर,

छाए घनश्याम पै न आए घनश्याम हैं ।

अनुप्रास, यमक तथा श्लेष अलंकारों से इस कवित्त में भाव-सौंदर्य चरम सीमा पर पहुंचा है । 'फलक' सो आवै मीर में कवि की वेदना मुखरित हो गई ।

कजरारे बांदलों को देखकर मीरा ने तड़प कर गाया था-

''मतवारे बादर आये रे हरि से सनेसो कबहु न लाये रे,

दादुर मोर पपइया बोले, कोयल सबद सुनाये रे,

कारी अंधियारी बिजरी चमके, बिरहिणी अति डर पाये रे

गाजै बाजे पवन मधुरिमा मेहर अति झड़ लाए रे,

कारी नाग विरह अति जारी, मीरा मन हरि भाये रे ।''

श्री सरस्वती की वंदना में 'फलक' जी की भारतीय धर्म-भावना शब्द-शब्द में शब्दार्थ मान है । ऐसे पुण्यवान मानष को देखकर ही तो श्री भारतेन्दु के मुख से निकला था-

''इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिक हिन्दुन-वारिए ।''

बुद्धि बरदानी, महारानी, सुखखानी जग,

उपमा न जानी वेद भेद कह थाके हैं,

ध्यावत रमेश, शेष धनद सुरेश आदि,

गावत विमल गुन कवि नित्य थाके हैं ।

रिद्धि-सिद्धि वैभव महान दान दैन हारी,
कहत 'फलक' सब फल मन साके हैं।
काव्य रस रंजनि स्वभक्त भय भंजनि त्यों,
वन्दनीय चरण सरोज शारदा के हैं।

भारत की वसुन्धरा में अमर शक्ति है। इसके अमरत्व का प्रतिभास हमें समय-समय पर होता है। हिन्दी और उर्दू में भिन्नता नहीं है। एक पादप की ये दो शाखाएँ हैं। इसी प्रकार हिन्दु और मुसलमान में पृथकत्व मानना अज्ञानता है। फिर भी स्वार्थ-भाव के वश होकर हम लोग पारस्परिक भेद-भावना को साकारता देते आ रहे हैं। इसका दुष्परिणाम भयंकर हुआ और इसी के कारण आज हम दोनों भाई श्वान समान लड़ रहे हैं। सन्तों ने इस भिन्नत्व में एकत्व लाने का जो प्रयास किया है, वह सराहनीय है। हमारे उदारचेता मुसलमान कवियों ने अपनी स्नेहमयी वाणी से हमेशा हिन्दू और मुसलमान को एक खुदा की संतान बताया है।

श्री 'फलक' सदा हिन्दु-मुसिलम प्रेम के पक्षपाती रहे। उन्होंने राम-रहीम के भेद को कभी भी नहीं अपनाया। उनकी इस उदारता पर मुग्ध होकर राष्ट्र कवि श्री माखनलाल चतुर्वेदी ने कहा था - "सजग रहकर हिन्दू मुस्लिम मेल की वाणी बोलने में कवि श्री नवीबख्श जी 'फलक' की रस-धारा में मुझे रसखान में रस ओर कबीर की सजगता का स्वाद आता है। जब मेल के मंच पर चढ़कर 'फलक' मंदिर और मस्जिद कावा और काशी को एक साथ पूजा और इबादत के लिए पुकार उठते हैं, तब ऐसा मालूम होता है, मानों प्रभु का आर्शीवाद अपने भक्त पर उतरकर वोल रहा है। राजनीतिक चातुर्य से दूर और झूठे मिलन की प्रलोभन शील गन्दगी से अलग निर्मल और सरस साहित्यिक 'फलक' जी के ये मिलन के रस मैत्र अपनी सरलता और निर्मलता से उत्तरोत्तर ऊँचे बढ़े प्रभु से मेरी यही प्रार्थना है। मुझे 'फलक' याद रहेंगे। याद आते रहेंगे।"[21]

प्रसिद्ध कवियों से प्रशंसित तथा सन्तवाणी के सार से समन्वित श्री 'फलक' की कविता भाव तथा भाषा में मधुर और हृदयस्पर्शी हैं, भगवान रामचन्द्र के बाल-चित्र को अंकित करते हुए श्री 'फलक' की भावुकता पाठक के नेत्रों के सम्मुख साकार बन जाती है। विश्वपालक का पलना में झूलना, भक्त वत्सलता का प्रतीक है -

सजल जलद अभिराम दवि धाम अंग,
कोटिन अनंगन की ओज लालना में है।
विकसन कंज-ऐसी हंसन मनोज्ञ मंजू,
रंजन कन जन-मन मालना में है।
'फलक' विलोक बाल: काल को विनोद दिव्य,
किलकन-कला पूर्ण तक लालना में है।
ललना भयौ है अखिलेश कौशलेश जू को,
पालना परौ है मन विश्व पालना में है।[22]
शंभु सनकादि शेष शारदा गणेश आदि,
गावत गुणानुवाद सर्वदा खरौ-खरौ।
अति अभिराम मोद धाम औध धाम आय,
सोई अवतरयौ फिरै आनंद भरौ-भरौ।
'फलक' खलक माँहि जीवन सफल करौ,
नव छवि पेखि-पेखि हिय में धरौ-धरौ।
जन रखवारौ विश्व-पालना करन वारों,
वारौ बन झूलौ आज पलना परौ-परौ।

श्री 'फलक' की भक्ति विषयक-उदारता अनुकरणीय है। धर्म सदैव उदार रहा है, उसमें संकीर्णता के लिए स्थान है ही नहीं। भगवान राम का व्यक्तित्व महान है अत: मानव अपनी मानवता का विस्तार, रघुनंदन की भक्ति में विशेष रूप से देखता है। श्री राम का वनगमन एक ऐसी घटना है जिसने इतिहास बनकर एक नवीन आदर्श

की स्थापना की है। अयोध्या वासियों की इच्छा है कि भगवान राम वन को न जावें। कवि ने इस भावना को कितनी विहलता के साथ चित्रित किया है। ''पाँयन में फलक तिहारे पड़ि जै है नाथ। इस पंक्ति में दीनता है, साथ ही भक्ति का उद्धात स्वरूप भी प्रस्फुटित हुआ है। 'फलक' शब्द में श्लेष है कवि का उपनाम यहाँ सार्थक सिद्ध हो जाता है -

दोहा- राम लखन अरू जानकी, रोको बनहिं न जायँ,
कठिन भूमि कोमल चरन, 'फलक' परेंगे पायँ।
अवध पुरी की दशा नेक तो विचार करो,
आप बन रैहौ यहाँ दुःख बढ़ि जैहैं नाथ।
दसरथ वृद्ध राज भार कौ सम्हारि है को,
कैसे फिर चउदा बरस कढ़ि पै है नाथ।
कोमल चरन बन भूमि है कठोर महा,
पाँयन में 'फलक' तिहारे पड़ि जै है नाथ।[23]

एक समय था जब समस्या-पूर्ति कवि की कसौटी मानी जाती थी। इसके द्वारा कवि की भाव-धारा एवं काव्यशक्ति का बहुत कुछ परिचय मिल जाता है। ''पावक पुंज में पंकज फूल्यौ'' शीर्षक समस्या पुरानी है। इसकी पूर्ति अनेक रूपों में हुई है। विरोधाभाष के माध्यम से कवि अपनी प्रतिभा का समय-समय पर प्रकाशन करते आए हैं। रीति कालीन कवियों को यह अर्थालंकार विशेष प्रिय रहा है। श्री 'फलक' ने भी उक्त समस्या की पूर्ति उत्प्रेक्षा अलंकार के सहारे बहुत सुन्दर की है -

रावण गेह में जानकी कौ रहिवौ,
रघुनाथ कों नेंक न भूल्यौ।
अग्नि परीक्षा करायवे हेतु, कहौ,
कछु शब्द जो हीतल हूल्यौ।

कीन्ह प्रवेश समोद सिया लखि,

सत्यता अग्नि भयौ सुख मूल्यौ ।

जानकी आनन जानि पर्‌यौ,

जनु पावक पुंज में पंकज फूल्यौ ।

बिजावर (बुन्देलखण्ड) निवासी महाकवि श्री बिहारी ने 'फलक' जी की इन शब्दों में प्रशंसा की है -

'छंदन के बंद छल छंदन रहित देखे,

बेलि ब्रज भाषा की प्रकाश में पगीर है ।

कविता कला के तौ झला के झला झाँकी देत,

गति की गंभीरता पै मति सी ठगी रहै ।

कहत 'बिहारी' मंजु मधुर मिजाज तैसो,

शब्दन के जोग बीज ज्योति सी जगी रहै ।

बात करिबे की मुलाकत करिबे की सदा,

'फलक' तुम्हारी हमें ललक बनी रहे ।'[24]

रीवा, छतरपुर तथा ओरछा के समान ही दतिया नगर साहित्य, संगीत और कला का साधना-स्थल है । यह भारत माता के गले में मणि-हार के समान सुशोभित हैं ।

झाँसी गले की फाँसी, दतिया गले कौ हार ।

ललितपुर तव तक न छौड़िए, जब तक मिलै उधार ॥

अपने पूज्य गुरू श्री बलवीर सिंह की प्रशस्ति गाते हुए कविबर श्री 'फलक' 58 वर्ष की आयु में सन् 1950 में स्वर्गवासी हुए ।

मुन्शी सुबहान बक्स

परिचय -

मुंशी सुबहान बक्स का जन्म सन् 1890 में हुआ था। छतरपुर साहित्यिक गतिविधियों का प्रमुख केन्द्र रहा है। इसी जिले के बिजावर में बिहारी भट्ट व देवी प्रसाद 'प्रीतम' जैसे साहित्यकार हुए हैं। मुंशी सुबहान बक्स और देवीप्रसाद 'प्रीतम' में बड़ी गहरी मित्रता थी। देवी प्रसाद जी के सम्पर्क में आने से पूर्व मुंशी जी उर्दू में लिखते थे और उर्दू गजलों में लौकिक प्रेम की छटा बिखेरते थे। धीरे-धीरे ये स्वप्रेरणा से श्रीकृष्ण की ललित लीलाओं की ओर आकर्षित हुए और अपनी कविता की धारा श्री कृष्ण की ओर मोड़ दी। हिन्दी का आपको अच्छा ज्ञान था ही, 'प्रीतम' जी के सम्पर्क से उसमें और अधिक वृद्धि हुई और कविता की सुन्दरता द्विगुणित हो गयी। कविता में कृष्ण चरित प्रधान हो गया।

राजगढ़ (छतरपुर) निवासी सुबहान बक्स पुलिस में मुंशी थे। पुलिस में रहते हुए इन्होंने जीवन के अनेक उतार चढ़ाव देखे। मनुष्य-जीवन के दुखों व उसकी क्षणभंगुरता को मुंशी जी ने अत्यन्त निकट से अनुभव किया। आपको इस जीवन से वैराग्य सा हो गया। अनेक साधुओं व महात्माओं के सम्पर्क में आप रहे और श्रीकृष्ण चरित को सुना। श्री मद्भगवत भी अनेक बार सुनी और इन्होंनें स्वयं को पूरी तरह श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कर दिया। आपको आत्मबोध हो गया था और आप आत्मकल्याणार्थ बेचैन हो उठे थे। श्री कृष्ण का गायन करते हुए सन् 1943 में इनका निधन हुआ।

कृतियाँ -

मुंशी जी ने हिन्दी में लिखने के पूर्व उर्दू में पर्याप्त गजलें लिखीं, लेकिन हिन्दी के संदर्भ में उनका महत्व नहीं है। हिन्दी में इनके द्वारा प्रणीत एक ही कृति- 'सुबहान विलास' है। सुबहान बिलास में श्रीकृष्ण की रास लीला का मनोरम चित्रण

है। हिन्दी में लिखी इनकी यही एकमात्र एवं लोकप्रिय कृति है।

समीक्षा -

सुबहान विलास की गजलें मुंशीजी के भावुक हृदय की रसमयी अभिव्यक्ति हैं। ग्रंथ में कृष्ण चरित के विविध रूप, ऋृतुओं के विविध रूप व गोपियों की रास लीला के साथ-साथ उनके विरह का भी मार्मिक चित्रण है। बसंत ऋृतु ने सदैव ही कवियों को अपनी ओर आकर्षित किया है। तब भला मुंशी जी इसके मादक प्रभाव से कैसे बच सकते थे ? इनका 'वनमाली' तो 'श्रृंगार' का अधिष्ठाता ही है। उस 'श्रृंगार' का जिसे बसंत उदीप्त करता है, जिस 'श्रृंगार' का श्रृंगार ही बसंत करता है। ऐसे बसंत के आगमन से चारों ओर रंग बिरंगे फूल खिल जाते हैं, मानों बसंत अपना जाल फैला रहा हो :

बनमाली लसें आज हैं, बनमाल बसंती,
जिसको है खिली देखके, हर डाल बसंती।
सिर ताज बने वैठे हैं, सिरताज धरें मौर,
फूलों की लगा बन में अजव हाल बसंती।
सिरपेचा ने दिखला के अदा अपनी, चमन में,
फैलाया है पेचीदा अजब जाल बसंती।
फूलों की पड़ी माल अजब रंग बसंती,
कुछ लाल गुलाबी हैं व कुछ लाल बसंती।
गुलदावली गुलशन में व टेसू खिले वन में,
'सुबधन' है सरसों की भी, क्या बाल बसंती।।

जिस प्रकार बसन्त उल्लास का संदेश लेकर आता है और समूची सृष्टि में नूतन रव बिखेरता है, उसी प्रकार सावन (वर्षा) भी मानव-जीवन में आनन्द उल्लास व उमंगों को पावस-बून्दों के रूप में वर्णन करता हुआ आता है। सावन के आते ही

विविध पर्वों का आगमन होता है । लड़कियां हाथों में मेंहदी रचाती हैं, पेड़ों पर झूले पड़ने लगते हैं। बुन्देलखण्ड में जगह-जगह कजली व आल्हा का बायन होता है। यह सब तो होता है, परन्तु वह मेंहदी कितनी भाग्यशाली है जो दबती है, पिसती है, कुटती है - इसीलिए कि इतना तप-त्याग और बलिदान करने के बाद राधिका जी के चरणों में स्थान मिल जाए :

लगा सावन, बढ़ी है शान मेंहदी,
रचाओ लाड़ली वृषभानु मेंहदी।
है सिहरा सुर्ख रूई का तेरे सर,
दुपरिया के हैं काटे कान मेंहदी।
नुची, कुचली गई, पीसी गयी तू,
तेरे निकले हैं तब अरमान मेंहदी।
मुकाबिल सुर्ख होठों के न होना,
नहीं होगी तेरी अति हानि मेंहदी।
चरण-शरणों में रहकर हैं गुजारा,
पड़े आकर तभी पग पानि मेंहदी।
तेरा है भाग्य सुन्दर आज मेंहदी,
लगी चरणों से जा 'सुबहान' मेंहदी।

विरह चित्रण में तो कवि ने कमाल ही कर दिया। यद्यपि विरह की गजलों में कहीं कहीं सूर के विह-व्यथा का प्रभाव है। नीचे उल्लिखित गजल की पंक्ति 'गया मुरझा हमारा रूप ही सब, मधुर गुलदस्ता' - सूरदास के ''मधुवन तुम कह रहत हरे'' से निश्चित ही प्रभावित है :

जुदाई श्याम की अब शूल सी दिल में खटकती है,
जो दिन कटता है बातों में तो निशि रोने में कटती है।
ये छोटे से हमारे सिन हँसी के खेल के दिन हैं,
मगर अफसोस, सारे तन में विरहा अग्नि जलती है।

गया मुरक्षा हमारा रूप ही सब, मधुर गुलदस्ता,

सखी बिन दर्श बनमाली, हमारी दम निकलती है ।

बसी है जबसे चश्में दिल के तिल में मोहनी सूरत,

न दिल कुंजन में लगता है न बसती दिल में बसती है ।

अजब लटका दिया 'सुबहान' लटका इक बना फंदा,

विकल उलझन यहां पर है, न सुलझाए सुलझती है ।

इसी प्रकार निम्न लिखित गजल भी सूरदास जी के पद- ''बिनु गोपाल बैरन भई कुंजें.....'' का लगभग अनुवाद सा है। इस गजल के मध्य की कुछ पंक्तियों में अवश्य ही मौलिक उद्भावनाएँ हैं :

बिना गोपाल बैरिन हो गई है हाय ब्रज कुंजें,

लताएँ हो गयीं सजनी विषम ज्वाला की दुख पुंजे ।

वृथा खग बोलते हैं अरू वृथा बहती है यमुना जी,

वृथा ही हे सखी विकसित कमल पर हाय अलि गुंजे ।

कृपा कर हाय ऐ ऊधौ, जरा कहियो यों माधव से,

कि गम में मारता है, आपके विरहा गजब लुंजे ।

हुआ था तब तौ पावक पान-लीला देख दिल ठण्डा,

वही वन देखकर अब हे सखी री तन-बदल गुंजे ।

हुई बरसें न बनमाली, अभी तक आये ऐ 'सुवहा'

मिलेगी सुर्ख चूनर स्याम, पट से कब ये ज्यों गुंजे ।

कवि का मन गोपियों के विरह-वर्णन में खूब रमा है। विरह-वर्णन में भी कवि ने अनेक स्थलों पर मौलिक उद्भावनाओं से काम लिया है। एक स्थल पर विहणी- ब्रजांगनाएँ कहती हैं कि रो रोकर हमारी सारी कंचुकी भीग गयी। सूनी सेज नागिन सी लगती है। अरे प्यारे, तुमने गोवर्धन पर्वत उठाकर ब्रज को डूव जाने से क्यों बचाया, उसी दिन सारे ब्रज को डूब जाने दिया होता :

बरसते हैं बिना सावन, हमारे हाय दोऊ तारे,

उमड़कर बह चले है चार सूं, मोहन नदी नारे।

हुई है आंसुओं से भीगकर तर कंचुकी सारी,

बहा खंजन, हुए गोरे से तन कारे।

ये सूनी सेज नागिन सी हमें लगती है निसि बासर।

मरे जाते हैं हम बेमौत तुम बिन बिरहा के मारे,

उसी दिन डूब जाने देते सारे बिरज को गिरधर।

उठाया किस लिए था तुमने गोवर्धन अरे प्यारे,

तुम्हारे चन्द्रमुख से लौ लगाए "सुबहा" बैठे हैं।

अगर आना नहीं है स्वप्न में हूं दर्श दे जा रे,

मुंशी जी ने अपने कवि कर्म का प्रारंभ भौतिक प्रेम की गजलों से प्रारम्भ किया था और यही लौकिक प्रेम कृष्णप्रेम में परिवर्तित हो गया। यही कारण है कि इनकी गजलों में भक्त के हृदय की निश्छलता समर्पण और अतिशय भावुकता प्राप्त होती है।

मुंशी जी के समय तक हिन्दी भाषा का स्वरूप स्थिर हो चुका था। नयी कविता के रूप में छायावाद समाप्त होकर प्रगतिवादी युग चल रहा था, पर मुंशी जी खड़ी बोली और प्रगतिवादी कविता के फेर में पड़े नहीं। उनके कोमल भावों के अनुकूल खड़ी बोली का स्थिर हुआ रूप था भी नहीं। फिर भी इन्होंने इस भाषा रूप को सम्मान दिया। यही कारण है कि इनकी गजलों में उर्दू के शब्दों के साथ-साथ संस्कृत के तत्सम तदोभव शब्द, ब्रज व बुन्देली के शब्द और खड़ी बोली का वाक्य-विन्यास प्राप्त होता है।

मुंशी जी की हिन्दी काव्य-साधन स्मरणीय है।

सैयद अमीर अली 'मीर'

परिचय एवं पृष्ठभूमि -

''साहित्यरत्न'', ''काव्य-रसाल'' - सैयद अमीर अली ''मीर'' देवरी की साहित्यिक परम्परा के अग्रदूत हैं। इनके कारण देवरी में ''मीरमंडल'' कवि समाज की स्थापना हुई। ये बड़े हिन्दी प्रेमी थे और उसे राष्ट्रभाषा बनाने के समर्थक थे। ''रामचरित मानस'' के प्रति इनका विशेष अनुराग था। इनकी भाषा परिमार्जित खड़ी बोली है। ईश्वर भक्ति और देश प्रेम उनकी कविता के मुख्य विषय है।[26] ''मीर साहब'' ने अहिन्दू होते हुए भी हिन्दुत्व के प्रति जिस आस्थाभाव को प्रकट किया वह तत्कालीन परिस्थितियों में अत्यंत भावपूर्ण था। ''रसखान और आलम की काव्य परम्परा में भारतीय दृष्टिकोण लेकर ''मीर'' ने हिन्दी कविता को अपनी उपासना की सामग्री माना। वे एक सरस और सफल कवि थे, जिन्होंने सम्प्रदायिकता की कड़ियों को तोड़कर सार्वभौमिक दृष्टिकोण जनता के सामने रखा और अपने उदार विचारों से समाज का हित किया।[27] ''मीर साहव '' का व्यक्तित्व और कृतित्व अनेक अनुकरणीय आदर्शों का मूर्त रूप है। वे सच्चे भारतीय और आदर्श मानव थे।

साहित्यकार के रूप में मीर साहब ने हिन्दी साहित्य की विविध विधाओं की समृद्धि में अपना योगदान दिया है।

जीवन एवं व्यक्तित्व :-

जीवनवृत्त-

जन्म एवं जन्मस्थान-

सैयद अमीर अली ''मीर'' का जन्म ''बुन्देलखण्ड में स्थित सागर जिले के देवरी नामक ग्राम में सन् 1873 ई. में हुआ था। आपके पिता का नाम श्री मीर रुस्तम अली था।''

पारिवारिक पृष्ठभूमि-

''श्री मीर के पितामह जाकर अली अफगानिस्तान से जीविका की तलाश में निकले थै और सागर में आकर बस गये थे। ''मीर'' के पिता पुलिस विभाग में कर्मचारी थे। जब मीर दो वर्ष के थे तभी उनके पिता की मृत्यु हो गई थी।[28] पिता की असमय मृत्यु के पश्चात् मीर साहब का बचपन चाचा मीर रहमत अली की देखरेख में बीता। मीर रहमत अली की देवरी में मनिहारी की दुकान थी और वही उनके परिवार की आजीविका का साधन भी थी। परिवार की आर्थिक परिस्थितियाँ सामान्य थीं।

शिक्षा एवं व्यवसाय-

मीर साहब की प्रारंभिक शिक्षा देवरी में ही हुई। हिन्दी मिडिल स्कूल देवरी में। फरवरी सन् 1888 को आपका दाखिला हुआ। स्कूल के रजिस्टर में आपका नाम अमीर अली लिखा गया था।[29] अमीर अली कुशाग्र बुद्धि के थे। प्रारंभिक शिक्षा पूरी कर वे स्कारलशिप पाकर नार्मल स्कूल जवलपुर में दाखिल हुए। चित्रकला में भी आपकी रूचि थी। जवलपुर से नार्मल परीक्षा उत्तीर्ण कर मीर साहव अंजुमन इस्लामिया हाईस्कूल में ड्राइंग शिक्षक के रूप में कार्य करने लगे। अंजुमन इस्लामिया हाईस्कूल में कार्य करते हुए एक वर्ष वश्चात् चित्रकला में निपुण होने के कारण आपने म.प्र. में पहले बम्बई आर्ट स्कूल की बौर्निंग अध्यापक छात्रवृत्ति प्राप्त की। नेत्र कष्ट के कारण आपको वम्बई में चित्रकला सीखकर शीघ्र वापिस आना पड़ा। बम्वई से लौटकर आप देवरी आये। देवरी में आपने कुछ दिन शिक्षकीय कार्य किया।[30] देवरी में आपने अपने चाचा मीर रहमत अली की मनिहारी की दुकान पर भी वैठते थे। देवरी मीर साहब की जन्मभूमि ही नहीं कर्मभूमि भी रही है। आपके साहित्यिक, सामाजिक व राजनैतिक क्षेत्र में प्रवेश की भूमिका का निर्धारण देवरी में ही हुआ। मीर साहब स्वदेश और स्वदेशी आन्दोलन से उनका प्रत्यक्ष संबंध रहा। देवरी में होने वाली प्रत्येक राजनैतिक, साहित्यिक व सामाजिक गतिविधि में

मीर साहब की सक्रिय व सार्थक भूमिका होती थी। मीर साहब का साहित्यिक क्षेत्र में प्रवेश इसी क्रम में हुआ था।

भानुकवि समाज के सदस्य- सन् 1992-93 में सागर में पं. जगन्नाथ प्रसाद "भानु" के तत्वाधान में "भानु कवि समाज" की स्थापना हुई। "सागर में भानु जी का परिचय सैयद अमीर अली "मीर" से दुआ और वे इस कवि समाज के प्रतिष्ठित सदस्य बने। भानु कवि समाज के द्वारा आमंत्रित समस्याओं की पूर्तियां आप भेजा करते थे। साहित्य क्षेत्र में आपका प्रवेश कवि रूप में हुआ और कविता के क्षेत्र में आपका प्रवेश "समस्या पूर्ति" के द्वारा हुआ।

डॉ. विनय मोहन शर्मा लिखते हैं- "जिस समय मीर ने काव्य की ओर अपनी अभिरूचि प्रकट की, उस समय मध्यप्रदेश में प्रसिद्ध पिंगलाचार्य जगन्नाथप्रसाद "भानु" की बड़ी धूम थी। प्रदेश के भिन्न-भिन्न स्थानों में "भानु कवि समाज" स्थापित हो रहे थे और उदीयमान कवि इनसे प्रेरणा ग्रहण कर काव्यक्षेत्र में अग्रसर हो रहे थे। "मीर" ने भी "भानु" के छन्दप्रभाकर नामक पिंगल ग्रंथ से छन्द ज्ञान प्राप्त कर कविताएँ लिखना प्रारंभ कर दिया।[31]

मीर साहव के काव्य गुरू- मीर साहब श्री कामता प्रसाद जी दर्जी को अपना गुरू मानते थे। कामता प्रसाद जी निरक्षर थे, किंतु काव्य में अच्छी रूचि रखते थे। आप "मीर साहब" को काव्य रचना में मदद भी करते थे। वे स्वयं भी "मीर कवि" नाम से काव्य रचना करते थे।

मीर मंडल कवि समाज की स्थापना-

सन् 1895 ई. में. "मीर" साहब में देवरी में मीरमंडल कवि समाज की स्थापना कर अपनी रचनाधर्मिता को नवीन आयाम प्रदान किये और मंडल कवि समाज के प्रमुख सदस्य इस प्रकार थे-

(1) सैयद अमीर अली ''मीर''

(2) बाबू गोरलाल श्रीवास्तव, '''मंजुसुशील'

(3) पं. कन्हैयालाल चंसौरिया ''लाल विनीत''

(4) श्री नाथूराम जैन ''प्रेमी''

(5) मुंशी खैराती खाँन ''खान्''

(6) श्री फदालीलाल स्वर्णकार ''नूतन कविराय''

(7) श्री बुद्धिलाल जी ''श्रावक'' आदि।

मीर साहब मीर मंउल के संस्थापक ही नहीं अपितु मीर मंडल के कवियों के गुरुवर भी थे। कवि मीर देवरी के अनेक नवयुवकों के प्रेरणा स्रोत भी थे। ''मीर के समय देवरी में साहित्य विषयक चर्चा जोरों से चलती रही है। इसके फलस्वरूप यहां के नवयुवक तथा विद्यार्थियों की रुचि साहित्य की ओर आकर्षित हुई।''[32] जब तक मीर साहब देवरी में रहे, देवरी में नियम से कवि सम्मेलन व काव्य गोष्ठियाँ आयोजित होती रहीं। मीर के समय में ''देवरी एक तरह से बुन्देलखण्ड की काव्यधानी थी। इन सबके पींछे सैयद अमीर ''मीर'' का व्यक्तित्व एवं रचना धर्मिता थी।''[33]

मीर साहब के नेतृत्व में हिन्दी साहित्य संसर के समक्ष मीरमंडल के कवि अपनी पहचान बनाने में सफल हुए।

पं. देवीदयाल चतुर्वेदी ''मस्त'' के शब्दों में- ''मीरमंडल '' की स्थापना कर इन्होंने देवरी में जिस साहित्यिक हलचल को प्रारंभ किया था, यद्यपि वह आज नहीं किंतु ''मीरमंडल '' के अनेक साहित्यकारों ने अपनी साहित्य सेवाओं की जो छाप छोड़ी है, उससे देवरी का साहित्याकाश सदा जगमगाता रहेगा। जब कभी देवरी के साहित्यकारों का स्मरण किया जाएगा, ''मीरमंडल'' उसकी पृष्ठभूमि पर एक मूल्यवान नींव के पत्थर की तरह अविस्मरणीय रहेगा।''[34] सत्य तो यह है कि ''कवि मीर'' व उनके द्वारा संस्थापित ''मीरमंडल'' का देवरी की गौरवमय परम्परा में अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। बुन्देलखंड अथवा मध्यप्रान्त की साहित्यिक सेवाओं की चर्चा

करते हुए ''मीर'' व उनके ''मीरमंडल'' का नाम आदर से लिया जाता है।

उपाधियाँ-

मीर साहब को हिन्दी साहित्य के लिए उन्हें ''साहित्य रत्न'' व ''काव्य रसाल'' आदि उपाधियों से सम्मानित किया था।

राष्ट्रीय आंदोलन और कवि मीर-

मीर साहब जब तक देवरी में रहे स्वदेश और स्वदेशी के गौरव की रक्षा के लिए अपना प्रत्यक्ष योगदान देते रहे। मीर देश की आजादी के स्वप्नद्रष्टा थे। ''ग्राम में रहते हुए भी इनकी दृष्टि राजनीतिक आन्दोलन में यथाशक्ति सहयोग देने की रहती थी। सन् 1905 से 1908 तक जब जनता वन्देमातरम् और स्वदेशी आंदोलन से चौकती थी वे अपने ग्राम देवरी में स्वदेशी वस्त्र और शक्कर का प्रचार करते थे।''[35] मीर देवरी की राजनैतिक चेतना के मूल में विद्यमान प्रेरणा के स्त्रोत भी रहे हैं। स्वदेश और स्वदेशी का जैसा प्रचार उस समय देवरी में मीर साहब ने किया वह तत्कालीन परिस्थितियों में अत्यंत महत्वपूर्ण था।

मीर साहब ने स्वदेश के गौरव और समृद्धि का स्वप्न देखा था। एक बार उन्होंने ''मेरा स्वप्न'' नामक लेख लिखकर स्वाधीन भारत का कल्पना चित्र प्रस्तुत किया, जिसकी ओर तत्कालीन अंग्रेज कमिश्नर का ध्यान आकर्षित हुआ। उसने भविष्य में इस प्रकार के लेख न लिखने की इन्हें चेतावनी दी, पर मीर का स्वदेश और स्वदेशी वस्तुओं से प्रेम कम नहीं हुआ। राष्ट्रीयता उनके व्यक्तित्व और कवित्व का अभिन्न अंग बन चुकी है। ''वस्त्र रूप के शक्कर गाँव की इस ओर मीर के कर्म जीवन के दो सिद्धान्त थे। इन्हीं दोनों सिद्धान्तों पर अडिग रहने के कारण मीर साहव को सन् 1908 ई. में. देवरी अपनी प्यारी देवरी छोड़नी पड़ी। मीर का देवरी का जीवन विदेशी सत्ता से असहयोग और अन्याय से संघर्ष की एक गाथा है।''[36]

देवरी से मीर खंडवा पहुंचे, जहाँ उनकी भेंट श्री जगन्नाथ प्रसाद जी ''भानु'' से हुई। ''भानु जी'' से मीर साहब पूर्व परिचित थे। उन्हीं के आफिस में मीर साहब को रैवेन्यु इन्सपेक्टर की नौकरी मिल गई। खण्डवा में मीर साहब का परिचय पं. माखनलाल चतुर्वेदी से हुआ। मीर साहब और माखनलाल जी का यह परिचय प्रगाढ़ स्नेह संबंधों में बदलता गया। माखनलाल मीर साहब को अपना काव्य गुरू मानकर सदैव आदर और सम्मान देते रहे। परन्तु खंडवा से भी मीर साहब का संबंध टूटा। और सागर डिस्ट्रिक्ट में शिक्षकीय कार्य किया। फिर मीर साहब ने छत्तीसगढ़ के पिटकुली ग्राम में करघा उद्योग में कार्य किया तत्पश्चात् वे धर्मजय गढ़ पहुंचे।

धर्मजयगढ़ जमींदारी में मीर साहब पहले हेडमास्टर, फिर जज, फिर पुलिस अफसर, और फिर शायद दीवान हो गये। यहीं से मीर साहब ने माखनलाल जी की गिरफ्तारी पर पत्र भेजा और फलस्वरूप उन्हें नौकरी से हटा दिया गया।[37]

धर्मजयगढ़ से हटाये जाने के बाद मीर साहब ''न्माटापारा'' पहुंचे। वहाँ किसी तालुकेदार के यहाँ मैनेजर नियुक्त हुए। अपने अंतिम समय में वे भाटापारा में इसी कार्य को कर रहे थे।

मृत्यु- सैयद अमीर अली ''मीर'' की मृत्यु सन् 1937 में एक दुर्घटना में हुई। उनकी विधवा पत्नी ने श्री जहूरबख्श जी के पूछने पर मीरसाहब की मृत्यु का हाल इन शब्दों में बताया ''एक दिन जमींदार महोदय यात्रा से लौटकर आने वाले थे। मीर साहब उन्हें लेने स्टेशन की ओर चल दिये। गाड़ी आने में विशेष विलम्ब था। ''मीर साहब शीघ्र प्लेटफार्म पर पहुंचने के विचार से पटरियाँ लाँघते हुए आगे बढ़े। पटरियों पर एक मालगाड़ी पहले से ही खड़ी थी। मीर साहब उसके निकट से निकल ही रहे थे कि वह वेगपूर्वक पीछे हटी। इसके साथ ही एक डिब्बे में उनका ओवरकोट टकरा गया। बस वे झटके से पटरी पर आ गिरे और पहियों ने उनका शरीर कुचल कर रख दिया।[38] मीर साहब की मृत्यु के पश्चात् उनकी विधवा पत्नि को

बहुत परेशानियों का सामना करना पड़ा। डॉ. विनयमोहन शर्मा ने लिखा है कि ''मीर साहब की मृत्यु के पश्चात् वर्षों उनकी विधवा पत्नी हैदराबाद के किसी नबाब के घर जूठे बर्तन माँजकर अपना उदर पोषण करती रही। सन् 1954 में स्व. जहूर बख्श जी ने हिन्दी जनता का ध्यान उनकी ओर आकर्षित किया था। उस समय उनकी अवस्था 90 वर्ष की थी।''[39]

मीर की काव्य-कृतियां -

मीर साहब ने साहित्य क्षेत्र में सर्वप्रथम बृजभाषा में काव्य रचना की थी। प्रारंभ में मीर साहब ने समस्यापूर्ति एवं मध्यकालीन कवियों के अनुसरण पर श्रृंगार, भक्ति व नीति आदर्श संबंधी विविध मुलकों की रचना की है। तत्पश्चात् युगानुरूप खड़ी बोली हिन्दी को काव्यभाषा के रूप में अपना कर अनेक स्कुर कविताएँ भी आपने लिखी हैं। खड़ी बोली हिन्दी में लिखा गया खंड काव्य ''बूढ़े का ब्याह'' आपकी प्रसिद्धि का प्रमुख आधार है। मीर साहब ने हिन्दी पघ के अलावा हिन्दी गद्य की समृद्धि में भी अपना सार्मथ योगदान दिया है। आपने अनेक स्फुट लेख, निबंध-कहानियाँ आदि लिखी हैं जो तत्कालीन विविध पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। आपकी प्रकाशित कृतियों को तथा स्फुट रचनाओं को गद्य व पद्य साहित्य अंतर्गत दो भागों में बाँट सकते हैं।

पद्य साहित्य-

प्रबन्धात्मक कृतियाँ -(1) बूढ़े का व्याज। खंड काव्य।
(2) अन्योक्ति शतक। अप्राप्य।

स्फुट - (1) समस्यापूर्ति। अप्रकाशित।
(2) ॠतु वर्णन। अप्रकाशित।
(3) चाँदनी वर्णन। अप्रकाशित।

(4) समस्या पूर्तियाँ ।

(5) होली वर्णन ।

(6) चाँदनी वर्णन ।

(7) कवित्त ।

(8) सवैया ।

(9) ज्यादती है । कविता ।

(10) सूरज। कविता ।

(11) राजभक्तयादर्श । लंबी कविता ।

(12) श्री कृष्णचन्द्र जन्म । लंबी कविता ।

(13) नवयुवक कर्तव्य । कविता ।

(14) ब्रिटिश जर्मन युद्ध । कविता ।

(15) भारतीय छात्रों से नम्र निवेदन । कविता ।

(16) उत्पादता पंचक

(17) मोती

(18) अन्योक्ति सप्तक

(19) दशहरा । कविता

(20) संध्या । कविता ।

गद्य साहित्य -

प्रबंधात्मक स्फुट - (1) नीति दर्पण की भाषा टीका । अप्राप्य ।

(2) काल स्ववन

(3) लक्ष्मी की लहर

(4) मन की मौज

(5) प्रान्तीय हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की भाषा पर सम्मति

(6) जय का ''ज'

(7) मुहर मीमासां

(8) मातृभाषा की महत्ता

(9) हिन्दी साहित्य और मुसलमान

(10) हिन्दी और मुसलमान

(11) मेरा स्वप्न, आदि।

रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन-

बुढ़े का ब्याह (खण्डकाव्य)

सैयद अमीर अली ''मीर'' कृत ''बूढ़े का ब्याह'' नामक खण्ड काव्य ''हिन्दी कविता के द्विवेदी प्रख्यान की उल्लेखनीय कृति है।'' वह खंडकाव्य सन् 1915 ई. में हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई से प्रथम बार प्रकाशित हुआ।[40]

तत्कालीन साहित्य जगत में अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त मासिक पत्रिका ''सरस्वती'' में इस पुस्तक की समीक्षा करते हुए लिखा है कि - ''इसके लेखक सैयद अमीर अली ''मीर'' ने एक कल्पित कथा के द्वारा सात परिच्छेदो धरा में वृह विवाह का दुष्परिणाम योग्यतापूर्वक दिखाया है। कविता भावपूर्ण है। लेखक मुसलमान है यह बात पुस्तक की महत्ता को वढ़ाने वाली।''

''मीर'' साहब ने इस कृति में जागरण व सुधार की विविध प्रवृत्तियों का प्रतिनिधित्व किया है। श्री लोचना प्रसाद पाण्डेय लिखते हैं- ''बूढ़े का ब्याह नामक संचित खण्डकाव्य रचकर आपने भारतीय समाज का बड़ा हित साधन किया है।''

समस्या पूर्तियाँ- (अप्रकाशित)

समस्या ''दरसै'' की पूर्ति-

तुहि अम्बुद में अभिराजे धरा पर, धार हो,
वारि तुहि बरसै।

तुहि मानवदेव कुरग, विहगान में अतिरग,

इयो हरसै ।

दुम बेलिन मीर प्रसून में, तुहिलाल

प्रपालन में सरसै ।

दिलराज दिवाकर दामिनी करवा में, दैव सदेव

तुम्ही दरसै ।।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने प्रकृति के कण-कण में व्याप्त ईश्वर की अज्ञात सत्ता की ओर संकेत किया है ।

''निशा जागवे की छवि नैनन में, अनुराग के रूप बनी दरसै ।

उर लागिबै की परतीति खरी, मुकता की निरी उहरी लरसै ।।

परमात यौ माषते आये घरे, लख प्यारी मसूस तस्यों परसो ।

अति आदर से परलान धर यो, चुप सामुहे मीर सू आदत सै ।।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने दाम्पत्य श्रृंगार का सुन्दर चित्रण किया है-

समस्या ''तलवार की धार पै धापयो है की पूर्ति -

''कवि मीर, विलोचन सोरत ही, कुल कारन करेयो करायवो हैं ।

विन नीर के त्यौ सकरी के समान, शरीर सही तलकायबो हैं ।।

नहिं चैन परै दिन रैन हि ये कैह, घायल सो कल्पापषो हैं ।

परदार सों प्यार प्रचाखों हीं, तरवार की धार पै धायवो है ।''

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने परकीया नायिका के प्रति प्रेम-प्रदर्शन तलवार की धार पर चलने के समान कठिन बताया है । इस प्रकार की अनेक समस्या पूर्तियां इस कृति में है ।

ऋतुवर्णन - (अ) शरद वर्णन

''जो बांध आवे कहूं, घोर धन घोर धन, तोर मोर ताको देत, राख तन चीन्हों है।
सिरिवन की सेखी नहिं, परे अवरेखी अब, मेकी और मंकन ने, मूंद मुख लीन्हों है ॥
पन्थभ हुलसा ने सर, कंज विकससे मंजू, ''मीरज, चकोर कहें,चैन चन्द दीन्हों है।
सावस सरद तूने, परबस पापस को, सरवस छीन के, अपन बस कीन्हों है ॥''

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने वर्षा के गमन और ''शरद'' ऋतु के आगमन से प्रकृति में हुए परिवर्तनों का सुन्दर चित्रण किया है। वे शरद ऋतु को शाबासी देते हुए कहते हैं कि तुमने उसका सर्वस्व छीनकर अपने वश में कर लिया है।

''आनन को वा छबीली छटा, सुछपाकर तें ठहरी परै टूटी।
रंजन लोचन खंचन है, कुच कंचन की प्रभा फैली अटूटी ॥''
''मीर, टुकूल सो चाननी ते, दुति भूषन तास की परैफूटी।
कासन के सित आसन पै, मनो राजत शारदी नौल वहूटी ॥''

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शरद ऋतु को नायिका के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रकृति में इसी शरद रूपी नव वधु का सौंदर्य बिखरा हुआ है।

''कासन हौं निस दरद कहूँ, दीन्ह शरद ऋृतु जौन।
मीर कियो उत्पात जो, ज्योति चंद्रवन मौन ॥
ज्योति चन्द्र वन मौंन, जौहि सुर कीवै भौंरै।
धन बिन गगन निहार, विकल लै चातक बौरे ॥
बहुरै खंजन तौक दिया कहँ, मिलो सुपासन।
झूले सखी विलास, देख महि फूलै कासन ॥

शरद ऋतु का आगमन अनेक सुखद परिवर्तनों का संकेत है लेकिन विरहिणी नायिका के लिए शरद का सुखद सौंदर्य व्यवस्था का कारण बन गया है।

''मिटियो भ्रमनिशि दिवस को, हरसै, चकवा गोत।

त्यौ चकोर प्रभुदत लखत, नव विधु विकल उदोत ।।''

शरद का आगमन चन्दा और चकोर दोनों के लिए सुखद रहा है।

''विमल वारि सरवर मयो, अंकुरे अमल सरोज।

मनहूं चढ़ाये चांप पै, शय्यक विषम मनोज ।।''

सरोवरों के स्वच्छ जल में खिले कमल पुष्प मानों कामदेव के धनुष पर चढ़ाये विषम वाण हैं।

''कीन्ह काँस ने फूल सब, महितल विराद इकङ्क।

मनु मनोज बैठो विछा, ओजमयी परयङ्क।।''

काँस के फूलों में ओजमयी विस्तृत आसन पर कामदेव विराजमान हैं।

''फूलै सर अरविन्द यल, पर पूरित मकरन्द।

मनु पताल ते विधु सुधा, पढ़यो काज मलिन्द ।।''

तालाब में खिले पराग पूरित कमल पुष्पों को देव ऐसा लगता है मानों चन्द्रमा ने पाताल से परों के हित अमृत भेजा हो।

''कंज कोप तैं लै अलि, करत पान मकरन्द।

गुन गावत आवत मनो, जाँचक बने मलिन्द ।।''

कमल रूपी खजाने से पराग का पान कर रहे भवरों की गुंजार से ऐसा लगता है कि वे पराग की जाँच करते हुए उसका गुणगान कर रहे हैं।

''शरद निशा को शशि उओ, सोरह कला समेत।

मुदित संवोगी होत है, विरही होंहि अचेत ।।

शरद कीं रात्रि में जब चन्द्रमा अपनी सोलह कलाओं के साथ उदित हुआ तो लेवोगियों की प्रसन्नता में वृद्धि हुई और विरही रूपों के दुख में।

> ''विशद कौमुदी ते लगत, मन्जुल, अवनि अकास ।
> मनहूं रजत लै हेतु रीति, विरचौ मदन अवास ।''

धरती से आकाश तक चाँदनी का साम्राज्य फैला देख, ऐसा लगता है मानों कामदेव रति के लिए चाँदी का उपहार ले अपने आवास जा रहे हैं ।

> ''वन वागन सों अनुराग तजै, अबलो अलि की सर डोलती है ।
> कवि ''मीर, निशङ्कचंकी चकवान सों, चाव भरै वच बोलती है ।
> अविलोक सुधवनी चन्द्रिका चन्द्र, चकोर चकोरी कलोलती है ।
> अठथाम पिया सँग कामिनी त्यौं, सुखमां के खजानहिं खोलती हैं ।''

शरद ऋतु में संयोगिनी के हित अति सुखद वातावरण निर्मित हो गया है । प्रकृति में सुख के खजाने खुले हुए हैं ।

> ''बहरै लगे खज्जन कानन लौ, अखियाँ उत काम, कान लौ धावती हैं ।
> अलि श्यामता मंजू हिये सर में, कुच कन्ज कली अंकुरावती है ।
> कवि ''मीर, जू पंङ्कघेरे लगो त्यौं, शिशुता के मते वे धरावती हैं ।
> शरदागमन् चन्द कला सैगरी, नवला को कला सदी आवती है ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने प्रकृति को नव यौवना नायिका के रूप में चित्रित किया है । शरद के आगमन के इस प्रकृति में सुन्दरी नवयौवना के सौन्दर्य को अत्यंत मनोहर रूप प्रदान किया है ।

> ''निलमा सुखद अधिमाई नीर पाई तैसी, मंजू ललाई, कंकन कमाल ने ।
> भौ पियराई पाई, आम हरयाई और रंगत गुलाबी पाई, पाटल विशाल ने ।।
> नारंगी निकाई पाइ, गेंदा के सुमन मीर, बैजनी बहार पाई, बैगन भाल ने ।
> इन्द्र धनुषी के रंग-भंग कर वाँट मानो, विरद, अनोखी पाई, सरद भुवाल में ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने प्रकृति में हुए उल्लासमय परिवर्तनों की ओर

संकेत किया है। ऐसा लगता है शरद ऋतु में प्रकृति ने इन्द्र धनुष के रंगों को भंग कर आपस में बाँट दिया हो।

''जगह मगर महि, गगन भयो है मीर, खुल हौ अमन हार, पहुँधा डगर के।
प्रीतम न आये तौऊ, दरद बढ़ौ है यासों, शरद अवाई, मोहि, कारन त्यों खटके ।।
गूँजत भँवर मासै, साहूकार जालिम ज्यौ, अभय निकासै मंत्र, वंशीकर वर के।
कलिका न सरसिज सर में बिलोक आकी, निसर रहे हैं, सर ये तो पंचसर के ।।

शरद ऋतु का उललिसत सौंदर्य और प्रिय का वियोग विरहिणी के लिए अति दुखद स्थिति उपस्थित कर रहा है।

''अम्बु भयो अबदात सरोवर, मन्जुलता पसरी चहुं कोने।
तामे सरोज प्रपूल उठे, सुरभि लै समीर ची सुध बोने ।।
मीर मलिन्द बसै तिन पै, कुछ ऐसे लसै मन मेरे सलोने।
मानो बिछौने विछा मखतूल के, मौज से पौढ़े मनोज के छौने।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने तालाबों में खिले कमल पुष्पों के सौंदर्य का वर्णन किया है। उन पर गुनगुनाते भंवरों को कामदेव के सुन्दर सलोने बालकों की संज़ा देते हैं।

''अम्बुज आसनी पै अभिराज कै, मड़ल पाठ लगै अलि बाँचे।
चन्द की हेर अनन्द मरीचै, चकोर अनन्द भरै लगै नौचे।
त्यौंहीं विदेशी स्वदेशी भये, कवि ''मीर, विनोद का लागयौ पै।
मौन रही राज एक तुही मुही, कौनहु हेतु मिले नहिं जाचे।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शरद के सौंदर्य को चित्रित किया है। विदेशी भी इस ऋतु में स्वदेश लौट आये, प्रसन्नता की सृष्टि करने वाली विविध कलाओं में संलग्न हो गये किंतु एक ''राह''ही है जो मौन है।

(ब) हेमन्त वर्णन -

''सलिल में पैठ के, कमलन पताल पैल्यौ, कैल्यौ गिरि भूमि द्रुम,

बेलिन के तन्त में।

अनल में अनिला में, भूर सरसानों सूर, चन्द हूँ में तास में,

अम्बर के उन्त में ॥

कहै कवि मीर ढौर ढौरन में देखी परै, हिम की

मुहिम थल जल जीवन जन में।

निरखि दिगन्तन में, काम तन्त कामिनी को, हिप सो लगावे कन्त

हरखि हिमन्त में ॥

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने हेमन्त ऋतु में हिम के व्यापक प्रसार को चित्रित किया है।

''मखतूल सौ अरस्तूल न सो, पर तेल तमूल मसाकन सों।

बिन धूम की आग की जवालन सों, रूई मालन साल दुशालन सों।

कवि मीर मृगम्मद पालन सो, अति दीपंति दीप की मालन सों।

इन ख्पालन सो न हिम्मत को सीत, मिटे पै उरोज विसालन सौं।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने हेमन्त ऋतु की शीत को दूर करने के लिए विविध उपकरणों को विश्लेषित किया है।

''परै सीरी लगी किरनै रवि कीं, रजनी दिनकी कला जोरेलगी।

ससि कौमुदी औसनि चोरे लगी, गति नीर की सीत के ठौर लगी

कवि मीर जू मौन के कोरे लगीं, झख पौनहिमन्त हिलोरे लगी।

अब माननी मानहि छोरे लगीं, पिय जानु सों जानु जोरे लगी।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने हेमन्त ऋतु की शीतलता का चित्रण किया है

उनका कहना है कि अब तो माननी नायिका भी मान नहीं करती ।

''सांसति सिसिर सही आसा लै बसन्त हूँ मैं, अैहो जो न, मन्द

निज मागन मान वी ।

बीती सोई ग्रीष्म ने, आन कै तचायो, तब सोचो मीर पावस

में, यत्न कहु ढान वी ।

दाव लै गयौ तो तोलो, सरद सताई जासों, सिसक रही है

अबौ, मेरी कंही मानसी ।

रेहौ कन्त जो पै अनत, बसि कै हिमन्त में त्यो कस्सन

लौ गति, मेरे आनन की जानवी ।।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने प्रिय से अनुरोध करती नायिका को चित्रित किया है। सिसिर, बसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद आदि ऋतुओं में तो प्रिय के वियोग का कष्ट वह नायिका उठा ही चुकी है। अब हेमन्त ऋतु में प्रियतम का वियोग उसे अत्यंत कष्टदायी होगा ।

''मखतूल की सेज संजोय के दीय, फिरी रंग मौन में रंग, रंगी ।

कवि मीर तमूल की वीरी लगाप, धरी बिन धूम अगीठी जंगी ।

पिय आवत जान कै सोय रही, न हिं बोली बुलावै पै प्रेमवगी ।

मिस सीत सों सी करकै हखै, कर चातुरी अङ्ग, सो जावलगी । ''

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने हेमन्त ऋतु की शीतलता तथा माननी नायिका की विवध मनोदशाओं का चित्रण किया है ।

''अलि माल बिहाल घिरै वन मैं, गलि भूल गई अब कौलन की ।

रूचि मीर मुहम्मद की बढ़ि लोक में मोदक तेज अमोल की ।।

गुल गोलन की है बहार कबी, मरण तुलन तूल तमोलन की ।

पसमीना निलोचन गोल उरोसन, और हूं कपोलन की ।।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने भँवरों के माध्यम से नायिका के अंग प्रत्यंगों का श्रृंगारिक चित्रण किया है ।

(स) शिशिर ऋतु

''खावे ना गसाला औन, यावै चित्रशाल हंहा, छोर कै दुशाला,
भाला, पौन के सहत है ।
मृगमद प्याला मद, जाने सम हाला बाल चल है कर
बिहाला बिरहागि में दहत है ।
कहिये कसाला कौन, ताकी स्वांस ज्वाला सन् पाला हूँ बिहल
कर नाला है बहत है ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शिशिर की शीतलता में वियोगिनी की अधयत्मक दशा का चित्रण किया है ।

''बीतो हिमन्त कसामस में, शिशिरागम् आयो मनो हूँ गवालो ।
जांसतिशीत उकूत करी, रजपूत धरो री रवा पै सवा सो ।।
'मीर जू, सौत समीर करेसो कै, रैसे करे कहॅा घाले घवासों ।
हूँ है मवासो मसालन को कहूं, पै है मसालन को, इते वासो ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शिशिर ऋतु में शीत के प्रकोप को चित्रित किया है ।

शिशिरागम जान मनोहर भीर, समानता को रचरथ लियो ।
तन तेल तमोल सो ओप करी, मृदुता मैं मनो मजबूर कियो ।
कुच सम्पुट मीजौ मृगम्मद के, मधुरो अधरा सब क्यों न वपियो ।
चल मंजन लाल करो किननादकर पाल में राखो ध्यान हियो ।

शिशिर के मनोहर आगमन को जान नायिका विविध श्रृंगारिक उपकरणों

तेल, इत्र आदि का प्रयोग कर शरीर की कोमलता एवं सौंदर्य में वृद्धि करती है, प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने इसी सौंदर्य के प्रति नायक की आसक्ति को प्रकट किया है ।

आहसी मकान ताके, हास मुंदाप कर मृगमद धूम
तामे, पहुं प्रसरायो है ।
गुलगुली गिलमौ पै, ओढ़ि कै दुशाला पौढे, शीतलता,
शीत तौआ हिय हराया है ।
पानी अरु पौन की, चलावे कौन बात मोर पाला सम
औनि लग, लोक सियरामो है ।
सिसिर सपेटन सों, आग विसराओ तेज, तसकै मसेस अब,
सूर सिसराओ है ।

शिशिर ऋतु में सभी अने घरों के दरवाजे बंदकर शाल दुशाले ओढ़े आरामदेह बिस्तरों में दुपे हैं तो भी शीत का प्रकोप अत्याधिक है यहाँ तक कि सूर्य की प्रभा भी शीतल हो गई ।

''गिन तो ऋतु राज सों धौंस हिमक्त लौ, मो अंगुरीन में छाले परै ।
नहिं जाने धौं लाल कितै अटके किन सौतन कन्द हवाले परै ।।
उपचार के ''मीर', मसाले धरे, अलि भोगवे के तउलाले परै ।
हम पाले मनोज हुते कवते, अब पाले के हाथ री पाले परै

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि विदग्धा नायिका के संभाषण को प्रस्तुत करते हैं, जो हेमन्त ऋतु से ही प्रिय के आगमन के दिनों को गिन रही है, किंतु शिशिर के आगमन ने तो उसकी प्रिय मिलन की आशा पर भी तुषारापात कर दिया ।

''दीजै मसालै इते कखणानिधि, आय लगो अब शीतल काल ।
तेल तमूल।मृगम्मद।मादक, मानिक मन्दिर दीपक माल ।।
धूप बसी हों अंगीठी अधूम, गलीचे महा मृदु शाल दुशाला ।
विद्रुम को परयङ्क हो मीर, माङ्क गुब्ली लगी उङ्गमें बोला ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शिशिरागम को सुखद बनाने वाले भोग उपभोग के विवध उपकरणों को विश्लेषित किया है ।

चाँदनी वर्णन-

''बिमल बहाली अलबेली बीच लोक फैली, अजब प्रभा की तैसी,

तास के रन्द की ।

परम पमोद पाय, चहक चकोर रहे, चहुँ ओर कूटी मनो, सरिता

अनन्द की ।।

मेन के मसेज सेज,दम्पति सफाई मीर, शीत काई हाई का,

नैंन सुख कन्द की ।

चैन को दुचन्द कीन्हें, प्रतिभा अमन्द ली है, चन्द्रिका

छिटकरही, शरद के चन्द की ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शरद ऋतु की चन्द्रिका का श्रृंगारिक एवं मनोहारी रूप प्रस्तुत किया है ।

''चैन के चरित दिन, रैन ही कुरत रहै, कोली प्रतिमा सी मनो, रस

के करद की ।

सुमन पलित महि, ललित मई हे मीर, कलित डगर बिन,

पङ्कऔर गरद की ।।

जगर मगर दुति, वगर रही है चहुं झगर रही ना कहुँ,

परिन्थन दरद की ।

नरद के मन मन, सिज की सरद वादी, जब तै सरद

आई, चाँदनी शरद की ।।''

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शरद ऋतु के आगमन से प्रकृति में हुए सुन्दर

सुलभ परिवर्तनों का चित्रण किया है। मानषी हृदयों में भी इस सौंदर्य के काम भावों को उत्पन्न कर दिया है।

''तारन के सह अम्बर की, अमिरामता चौगुनी सी दरसावै।
त्यौं सुरभी सुत मन्द समीर में, नौ गुनी शीतलता सत्सावै ।।
''मीर, जू सौगुनी सी मुदिताहिं, प्रदान के लोग हिये हरसावै।
चन्द मयूखै विमूख भरीं, कितै हेरो तितै सुषमां बरसावै।

शरद ऋतु के चन्द्रमा की चन्द्रिका मानों अमृत वृष्टि कर संसार को प्रमुदित कर रही है।

''ससि की अवदात मरीचै गली, अपनी पर ऐसी प्रमानै परै।
उदया चलतै जगजीवन हेतु, खुले मनो मोद खदानै परै ।।
कवि मर अचम्भौ बड़ो तिहि पै, गिरि मौन पयोधि न करने परे
अनुमानै परै सब सेतहि सेत से, करने परै। पै मसुदै पहिचाने परै।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने शरद ऋतु के चन्द्र की चंद्रिका का अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन किया है। इस धवल चाँदनी में पर्वत, भवन, समुद्र सभी एकाकार है। उनमें भेद कर पाना अति कठिन है।

''समस्यापूर्ति - समस्या ''खूनरी करैगी लाल चूनरी
पहिरि कै'' की पूर्ति-
''चरन अरजता की लगता करेगो कौना फुटैना आ सरोज
सामुहे ठहरि कै।
अधरान चारु काली की क्हाली छत हाली सी रहत
हीय कुंदरत कहरि कै ।।
मीर जू कहत गणड मण्ड की ओष हेर रवी कै
गिरै हौनी पै ठहरि कै।

लालिमा में दूनरी तजू सहमै नही उठरी कब खूनरी

करैगी लाल चुरी पहिरि कै ।[42]

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने अनुपम सुन्दरी श्वेतवर्णी नायिका के सौंदर्य को चित्रित किया है। नायिका के श्वेत वर्ण के साथ रक्तवर्णी अधर, चरण, गण्ड, मण्डल आदि अदभुत सौंदर्य की सृष्टि कर रहे हैं। उस पर उसका लाल चुनरी पहिनना प्राणों का हरण कर रहा है।

कवि के ऋतु वर्णन के साथ-साथ प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का परिदृश्य व्यापक है। सैकड़ों छन्दों में स्वतंत्र व समस्यापूर्तियों के रूप में वसन्त, होली, प्रभात, सूर्यास्त, ग्रीष्म, पावस आदि की मनोरम छटा कवि ने बिखेरी है।

कवि, मात्र प्रकृति में रमने वाला नहीं है। सामाजिक चेतना भी उसके काव्य में स्पंदित होती है। ऐसी कुछ रचनाओं का उल्लेख किया जाना आवश्यक है :-

सूरज कविता -

यह कविता सन् 1904 में प्रकाशित हुई थी। इसमें तुकबन्दी और गद्यात्मकता का प्राधान्य है। तत्कालीन परिस्थितियों के अध्ययन की दृष्टि से इस रचना का महत्व हो सकता है क्योंकि इसमें कवि मीर ने इस खेत्र विशेष की कवाडतीयों का चित्रण किया है। इसकी कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य है -

''राज्यों में विद्रोह की सन्यासियों में मोह की

इग्लैंड में एज्युकेशन की, भारत में न्यु फैशन की

स्वतंत्रता में अमीरों की, पराधीनता में अजीरों की।[43]

''सूरज'' (कविता)

विद्यार्थियों के लिए उपयोगी सामग्री से सम्बन्धित यह कविता जुलाई सन् 1911 में हितकारिणी नायक मासिक पत्रिका में प्रकाशित हुई थी। कवि ने भौगोलिक, वैज्ञानिक व प्राकृतिक ज्ञान को सरल सुबोध भाषा शैली में काव्य मय कर अपनी प्रयोग शीलता का परिचय दिया है। प्रकृति में सूर्य के आगमन से अनेक उल्लासमय परिवर्तन हुए -

'' खिलखिलाकर हँस पड़ी, कलियाँ कमल क्यों ताल में
दे रहे चटकारियों है बाग वन किस ख्याल में,
चहचहा चिड़ियें रही हैं, क्यों द्रुमो की गोद में,
कर रहे गुणगान किस का भौर गन है नंद के।[44]

''ज्ञान और विज्ञान'' की चर्चा करते हुए भी काल में नीरसता व शुष्कता का अभाव है, निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं

'' देख पड़ता हे निकलते, छू रहा वह भूमि छोर।
दूर है पर दूर हमते, मील साढ़े नव करोर॥
जान पड़ता वह हमें है, लर्वदा चलता हुआ।
चल रही है भूमि सचमुच, वह रही ठहरा हुआ॥[45]

कविता में सूर्योदय प्रकृति में हुए परिवर्तन, सूर्य का अन्य ग्रहों, मौसम, ऋतु वनस्पति आदि से संबंधों की जानकारी दी गई है। भाषा व शैली सरल सुबोध है।

''राजमम्त्यादर्श'' (लंबी कविता)

जार्ज पंचम और साम्राज्ञी मेरी के भारत आगमन पर देश में राजभक्ति की जो लहर उठी थी उसी में मीर साहब ने इस कविता की रचना की।

कविता में मीर साहब ने विभिन्न वर्गों के राजभक्तों के आदर्शों की चर्चा की है। प्रारंभ में ''परिचय'' शीर्षोन्तर्गत अंग्रेज शासन व्यवस्था का गुणगान करते हुए वे लिखते हैं।

''मही का पंचम भाग, हाथ में जिनके अब है
जिनके भज से सुलभ, गया मुहइत सेदब है ।।
देकर विद्यादान जिन्होंने हमें जगाया।
एक दृष्टि से देश, कलह से हमें बचाया ।।
यहाँ एक विस्तार, तार का आना जाना।
और सुमीता डाक, सड़क का है मनमाना।
चलते अभयजहाज, मदरसे ज्ञान सिखाते।
अस्पताल से स्वास्थ्य, हजारों रोगी पाते।[46]
है नहर-नहर सीचती कृषि सदा, न्यायालय में न्याय हो।
तब क्यों प्रजा की बुद्धि धन चैन वृद्धि व्यवसाय ।।

कविता केअंत में कवि अपनी देशभक्ति पूर्ण भावना को अभिव्यक्ति करता है -

''बढ़े कला कौशल, प्रजा में विद्या चर्चा।
बढ़ परस्पर प्रेम, घटै भारत का खर्चा।[47]

''श्री कृष्ण चन्द्र जन्म। लंबी कविता।

इस कविता में श्रीकृष्ण जन्म से लेकर कंस वध तक की कथा वर्णित है। अहिन्दू होते हुए भी कवि मीर ईश्वर में गहन आस्था रखते हैं -

''जिनने गज की आह श्रवण कर
ग्राह दुष्ट से बचा लिया

शिला अहिल्या को पद रज से

जिसने मानव रूप दिया

कौन सहायक अपना होगा

होगे तो वह दया निधान ।[48]

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने वसुदेव और देवकी के आर्द्र स्वरों में अपने युग की आस्था को भी व्यक्त किया है। इस कविता में कवि ने हिन्दू धार्मिक आदर्शों की योजना तो की ही है, नैतिकता का उपदेश भी दिया है, निम्न पंक्तियाँ द्दष्टव्य है-

''अवधि वही तक है जब तक निज घड़ा पाप का भरा नहीं''

पुण्य तेल चुक गया बुझा तब, दुष्ट केस का प्राण चिराग।

बात सोचने की है भाई। कहाँ गये उसके वे राग।

यह स्मारक इसलिए है, पढ़े सुने सब कृष्ण चरित्र।

जिनका अनुशीलन कर कर के स्वयं आचरण पवित्र।[49]

वस्तुतः यह कविता मीर साहब की धार्मिक सदाशपता को उजागर करती है। कवि मीर ने हिन्दू धर्म ग्रंथों का गहन अध्ययन किया था, उनकी कविता में यत्र-तत्र ग्रंथों व पुराणों की कथाओं का उल्लेख इस तथ्य का प्रमाण है। धार्मिक भाव भूमि पर आधारित इस कविता में कवि ने युगीन प्रवृत्तियों व चेतना से भी अपना संबंध बनाये रखा है। जो उनकी प्रतिभा का परिचायक है। मीर साहब भावानुरूप भाषा व शैली काप्रयोग करने में सिहहस्त है।

नवयुवक कर्त्तव्य -

इस कविता में कवि ने नव युवकों को उनके देश व समाज के प्रति आवश्यक मंतव्यों व दायित्वों को पूरा करने की प्रेरणा प्रदान की है। राष्ट्रीयता सुधार नैतिकता व उपदेशत्मकता द्विवेदी युग की प्रधान प्रवृत्तियाँ रही हैं।

मीर साहब की यह रचना भी युगीन प्रवृत्तियों का प्रतिबिम्ब है। भाषा सरल सुबोध है, कवि की नीति धार्मिता सर्वत्र व्याप्त हुई है।

कु छ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

" जहाँ जन्म है हुआ तुम्हारा, जहाँ पले हो जहाँ बड़े हो
जहाँ मिला है तुम्हें सहारा, आकर आदिक जहाँ पड़े हो
सुपूजग्र माँ भू पुकार कहती, तखण सपूतों उठो सम्हलकर
करो समुरूप विशाल कहती सुकीर्ति मेरी कलंक दलकर
स्वजाति सेवा, स्वधर्म सेवा, स्वदेश सेवा, स्वरूप सेवा।
सुराज सेवा, सुकर्म सेवा, करो तनय के सबरूप सेवा।[50]

आज और कल -

"आज और कल" की विविध समस्याओं पर दृष्टि डालते हुए कवि नैतिक उद्‌बोधन इस कविता के माध्यम से देते हैं। कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं।

"दयासिन्धु की दया प्राप्त कर,
हुए अजर तुम धनशाली।
बनो बिनत पाओगे शोभा,
जैसी डाली फलवाली।[51]

"ब्रिटिश जर्मन युद्ध" (कविता)

युद्ध जन्य विभीषिका और उसके परिणामों की चर्चा मीर साहब ने इस कविता में की है। ब्रिटिश जर्मन युदान्तगति भारतवासियों की सहज सहानुभूति अंग्रेजों के प्रति थी। मीर साहब भी इस युद्ध में अंग्रेजों की विजय की कामना करते देखे जाते हैं -

इस कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं -

''भारतवासी राजभक्ति के मूर्तिमान सुन्दर अवतार,

सैन्य भेजते चन्दा देते बने सहायक सभी प्रकार।

धन्य राजभक्ति है इनकी प्रेमसुधा है सरसाता,

लोभ द्वेष से रहित सकर सो धर्मयुद्ध है कहलाता।[52]

भारतीय छात्रों से नम्रनिवेदन'' (कविता)

नामानुरूप यह रचना नैतिम कलात्मक उदबोधन है। मीर साहब ने इस रचना में सांस्कृतिक गौरव, हिन्दी मुस्लिम समन्वय, धर्मनिरपेक्षता, राष्ट्रीयता, जागरण एवं सुधार आदि विविध भावनाओं की सकल अभिव्यक्ति की है। यह रचना त्यौहार राजेंद्रसिंह द्वारा संपादित संग्रह नक्षत्र में संकलित है।

कविता की कुछ पंक्तियाँ दृष्ट्रव्य है -

''बेश बदलना कभी न अपना होती रहे जाति पहचान।

भोजन में भी भारतीयता रक्खो तब पाओगे मान।

आलोच्य रचना की भाषा द्विवेदी युगीन शुद्ध परिष्कृत खड़ी बोली हिन्दी है।

''उलाहना'' पंचक

इस रचना के भारतीय संस्कृति में महत्वपूर्ण स्थान रखने वाले स्थायित्व के प्रतीकों हिमगिरि, गंगा, हिन्द महासागर, भरतभूमि, विश्वरक्षक को कवि ने देश की तत्कालीन दुर्दशा के लिए जिम्मेदार ठहराया और उन्हें उलाहना दिया है। यह रचना सन् 1923 में ''माधुरी'' (मासिक पत्र) में प्रकाशित हुई थी। कवि की राष्ट्रीयता भावनाओं का प्रखर स्वर इस रचना में कुंजरित हुआ है। वे माता रूप में पूज्य पवित्र

नदी ''गंगा'' को संबोधित कर कहते हैं -

''तारीफ सुनते है तुम्हारी हम बहुत,

सार्थक करती नहीं क्यों नाम को

मात गंगे। पाप और को दो बहा,

शुद्ध कर दो हिंद के हहाम को।[53]

इसी तरह वे ''विश्व रक्षक को'' संबोधित कर कहते हैं-

''विश्व-रक्षक। क्या नहीं हम विश्व में ?

क्यों नहीं देते हम को तुम स्वराज्य ?

गैर है आजाद, घर में हम गुलाम,

क्या यहीं इंसाफ है वंदहन बाक ?[54]

''मोती''

''मोती'' शीर्षक यह रचना सन् 1928 ई. 'महारथी' पत्रिका में प्रकाशित हुई कवि ने जीवन में सुख और दुख के निपत्रित एवं अखेद क्रम को इन शब्दों में विश्लेषित किया है -

''कुछ थोड़े से मुक्ता देखे राजमुकुट में जड़े हुए।

असंख्यात् हैं, सिंधु गोड के अन्धकार में पड़े हुए॥

है अभाग्य मुक्ताओं का यह, या विधि को विधि इसे कहें।

है अत्यल्प जौहरी जग के, पा दुर्लभ निधि इसे कहें।[55]

मीर साहब जीवन की यथार्थता की अभिव्यक्ति इन शब्दों में करते हैं -

''कुछ चढ़ते है सिर पर सुर के, कुछ के बनते है, हदहार।

फूल फूलकर मुर्झा जाते, वन वागों में अपरम्पार॥

जाना उन्हें हवा ने केवल, मानव कुल ने दिया विसार

क्या है दुख की बात नहीं है, हो जीवन उनका निस्खार।[56]

अन्योक्ति सप्तक -

इस रचना में मीर साहब की सात कुंडलियाँ हैं जो उनकी हास्य व्यंगात्मक प्रवृत्ति की घोतक हैं। मीर साहब का दृष्टि कोण सुधारवादी था वे सहवृत्तियों की आवश्यकता व महत्व समझते थे। अपनी इस कुंडलियों में वे अपने सुधारवादी दृष्टिकोण को लेकर उपस्थित हुए हैं और इस हेतु व्यंग्य को अपना सराग्र माध्यम बनाया है। ''अन्योक्ति सप्तक'' नामक यह रचना त्यौहार राजेंद्रसिंह द्वारा ''नक्षत्र'' में तथा वार्षिक ईसुरी 2/84-85 में संग्रहित है। इस रचना की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य है -

'' मैना तू वनवासिनी, पर्व पींजरे आन,
जान दैवगति ताहि में, रहे शान सुखमान।
बगला बैठा ध्यान के, प्रात: जल के नीर,
मानो तपसी तप करै, मलकर मस्क शरीर।

''दशहरा''-

मीर साहब की यह कविता परतंत्र भारत में मध्यप्रदेश एवं बरार शिक्षा मंडल द्वारा स्वीकृत हिन्दु कुसुमावली'' (प्रथम भाग) में संकलित थीं।

इस कविता में ''दशहरा'' पर्व से जुड़ी कथाओं का उनसे मिलने वाली शिक्षाओं का वर्णन कवि ने किया है। कविता के प्रारम्भ में कवि उल्लाद और उल्लास के साथ घोषणा करते हैं -

''आ गया प्यारा दशहरा, छा गया उत्साहवल,
मातृ पूजा, शक्ति पूजा, वीर पूजा है विकल।'[57]

''दशहरा'' कविता में ''हिन्दुत्व और भारतीयता'' कवि के व्यक्तित्व के आविभाजक अंग प्रतीत होते हैं। उनके विचारों में तथा बुद्धि में मानव कल्याण की भावना निहित है। कविता के अंत में ये संदेश देते हैं -

''इन्द्रियों की वासना ही है असुर शंका नहीं,

ज्ञानशर से जीतते हैं लोभ की लंका नहीं।

हन्त जो कुविचार रावण है उसे तजते नहीं,

क्यों हमें सुविचार श्रीवर राम को भजते नहीं।

नाशकर कुविचार का सहबुद्धि सीता लाइये,

नृष विभीषण की तरह सन्तोष को अपनाइये।

शान्त हो प्यारी अवध, फिर राज उसका कीजिए,

''मीर विजया को विजय का इस तरह वश लीजिए।''[58]

''सन्ध्या''-

यह कविता प्रसिद्ध साहित्यिक मासिक पत्र ''सरस्वती'' के हीरक जयंती विशेषांक में सन् 1911 में प्रकाशित थी। इस कविता में खड़ी बोली हिन्दी का परिष्कृत एवं परिनिष्ठित स्वरूप विद्यमान है। प्रकृति चित्रण के साथ नैतिकता एवं आदर्श का सुन्दर समन्वय मीर साहब ने इस कविता में किया है। कविता की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य है, कवि ने प्रकृति और नीति का समन्वय किया है -

''छिप गया सूरज तदापि है कुछ प्रभा छाई अभी,

न्यायी नृपति के बाद की जाता न उसका यश कभी

देखकर उसकी प्रभा को यों उठी जी में तरंग

छोड़ जाते हैं बड़े जनअन्त यश अपना अभंग।[59]

प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति भी इस कविता में द्रष्टव्य है -

''यह अखंणता भासती मानो निशा की लहचरी

देखकर रवि का पराभव हँस रही सुखसे भरी।[60]

भाषा -भाव एवं कल्पना का सुन्दर समन्वय कवि ने इस कविता में किया है।

स्फुट गद्य साहित्य-

"काल स्तवन" (निबंध)

यह निबंध सन् 1904 में मासिक पत्र श्री लक्ष्मी उपदेश लहरी में प्रकाशित हुआ था। इस निबंध में लेखक ने सर्वशक्तिमान "काल" के व्यापक प्रसार की चर्चा की है। "काल" के विश्वव्यापी वृहत स्थूल शरीर, उसकी तीव्रगति कार्य विविध नाम आदि की चर्चा करते हुए भारत की पराधीनता, दुखद्वन्द, अवनति, आदि का चित्रण भी मीर साहब ने इस रचना में किया है। भाषा, भाव, शैली, प्रत्येक दृष्टि से यह रचना पठनीय है। निबंध की कुछ पंक्तियाँ दृष्टव्य है- जिसमें तत्कालीन परिस्थितियों का भी चित्रण लेखक ने किया है- वे काल को संबोधित कर लिखते हैं- "आप को हम बालक कहैं कि युवा कहैं अथवा बृह सोहराव, ठीक नहीं ठहरता पर तौ भी कर्तव्य देखकर हम आपको कट्टर कठोर अविचारी युवा कह सकते हैं, गदर के समय उन्मत्त सिपाहियों ने जैसा हत्याकांड किया था, बाल और स्त्री हत्या करने में भी वे जैसे कुंठित नहीं हुए थे। तद्धत आप की कार्यक्षमता है, तभी तो हम प्रार्थी है कि हे नृशंस शिरोमणि। तनिक सुदृष्ट से भी काम लिया करो।"[61]

नक्कारखाने में तूती की आवाज (लेख)

यह लेख सन् 1904 ई. में श्री लक्ष्मी उपदेशलहरी, मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ था। इस लेख में "काशी" नागरी प्रचारिणी सभा की ग्यारहवीं वार्षिक रिपोर्ट, नागरी हितैषी पत्र, खड़ी बोली हिन्दी को राष्ट्र भाषा बनाने के संबंध में नागरी प्रचारिणी सभा के प्रयत्न, सभी की विविध कार्यवाहियाँ आदि से संबंधित अपने विचारों व सुझावों को व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत किया है। अपने विचारों व सुझावों को मीर साहब ने नक्कार खाने में तूती की आवाज कहा है। इस लेख में मीर साहब की निष्पक्ष आलोचक दृष्टि का परिचय मिलता है।

"लक्ष्मी की लहर" (लेख)

यह लेख श्री लक्ष्मी उपदेश लहरी मासिक पत्र में जुलाई सन् 1904 और जनवरी सन् 1905 के अंकों में क्रमश: प्रकाशित हुआ। इस लेख में लेखक ने भारत की तत्कालीन व्यवस्था और हीनावस्था के विविध कारणों का उल्लेख किया है। लेखक ने भारत की संस्कृति एवं प्राचीन गौरव का आख्यान किया तथा अवनति की ओर पाठकों का ध्यान अग्रेषित किया है।

"मन की मौज"

यह निबंध मासिक पत्र रसिक मिद्ध में 25 फरवरी सन् 1902 में प्रकाशित हुआ था। इस निबंध में लेखक ने "विधा" शब्द का विश्लेषण किया है। विषय को युग विशेष से जोड़कर लेखक ने साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी के प्रचार प्रसार, नवीन कवियों की भूमिका, गुरू की महिमा, करण परिशोधन की आवश्यकता आदि विविध तथ्यों का भी वर्णन किया है। उनका मानना है "जगत्कर्ता" ने समस्त प्राणियों में मानव मात्र को ही बुद्धिशाली और वक्ता सिरजा है तो अवश्य ही मनुष्य को अपनी बुद्धि और वाक्य शक्ति विघाभ्यास के काम में लाना लाभकारी है और यही जग में जन्मने का प्रतिफल है।[62]

निबंध में शास्त्रों व पुराणों व संस्कृत के विविध ग्रंथों के उध्रण लेखक की प्रतिभा के परिचायक है। प्रांतीय हिन्दी पाठ्य पुस्तकों की भाषा पर सम्मति यह लेख हितकारिणी मासिक पत्र में सन् 1915 ई. में प्रकाशित हुआ। तत्कालीन भाषा संबंधी विविध समस्याओं पर मीर साहब ने अपनी सम्मतियाँ इस लेख में प्रस्तुत करते हैं। इस लेख के निम्न उद्धरण दृष्टव्य है- वे लिखते हैं "ब्रज भाषा की कविता को मान देना हम लोगों का परम कर्तव्य है और उसको उसी रूप में रहने देना चाहिए जिस रूप में हमने उसे पाया है।"

''हिन्दी में उर्दू शब्दों का समावेश रहने से मुसलमान जाति। जिसको हिन्दी प्रेमी, हिन्दी को शत्रतु जाति कहा करते हैं। हिन्दी की ओर प्रेम प्रदर्शित कर सकेगी, धीरे-धीरे उसकी ओर बढ़ सकेगी।''[63]

मीर साहब का यह लेख उनकी सुलझी और साफ-सुथरी विचार धारा और निष्पक्ष आलोचक दृष्टि को उद्घाटित करता है।

जय का ''ज'' (लेख)

हितकारिणी मासिक पत्र में मार्च सन् 1916 में यह लेख प्रकाशित हुआ था। इसमें लेखक ने ''जय'' शब्द के ''ज'' विश्लेषण और विवेचन करते हुए तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण किया है।

मुहर मीमासां (निबंध)

मीर साहब ने इस निबंध के संबंध में पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने लिखा है- ''जिन लोगों ने मर्यादा में प्रकाशित मीर साहब के खोज पूर्ण लेख ''मोहर मीमांसा'' को पढ़ा वे प्रभावित हुए बिना न रहे। क्या यही अच्छा होता यह विध्ता साहित्य क्षेत्र की सेवा लगाई जा सकती है, पर दुर्भाग्यवश ऐसा नहीं हो सका।''[64]

''मातृभाषा की महत्ता'' (निबंध)

''द्विवेदी मेला समिति'' द्वारा अयोजित निबंध प्रतियोगिता के लिए मीर साहब ने ''मातृभाषा की महत्ता'' नामक यह निंवंध लिखा था। मीर साहव को पं. महावीर प्रसार द्विवेदी ने सर्वोत्तम लेखक के रूप में सौ रूपये का पुरस्कार भी प्रदान किया था।

''हिन्दी साहित्य और मुसलमान'' (निबंध)

यह निबंध विशाल भारत पत्रिका में प्रकाशित हुआ था।

‘‘हिन्दी और मुसलमान’’ (निबंध)

यह निबंध ‘‘सम्मेलन’’ पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। मीर साहब ने हिन्दी और मुसलमान नामक इस निबंध में मुसलमान साहित्यकारों की हिन्दी साहित्य सेवाओं क़ा उल्लेख किया है।

‘‘मेरा स्वप्न’’ (लेख)

देवरी ने रहते हुए मीर साहब स्वदेश और स्वदेशी आंदोलन में प्रत्यक्ष रूप से भाग लेते थे। ‘‘मीर साहब स्वदेशी वस्त्र और स्वदेशी शक्कर के ही प्रेमी नहीं थे, वे स्वदेश के गौरव ओर समृद्धि के भी एवस द्दष्टा थे। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ‘‘एक अद्‌भुत अपूर्व स्वप्न’’ की तरह मीर साहब ने भी ‘‘मेरा स्वप्न’’ नामक एक लेख लिखा था। इस लेख में उन्होंने अपनी कल्पना से स्वतंत्र भारत का खाका खीचा था।[65]

‘‘काव्य का चमत्कार’’-

यह निबंध सन् 1905 में श्री लक्ष्मी उपदेश लहरी नामक मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ था। इस निबंध में लेखक ने काव्य विषयक मीमांसा नहीं की अपितु काव्यात्मक प्रतिमा के मूल की ओर संकेत किया है। वे लिखते हैं -

‘‘मैं उस काव्य का वर्णन करता हूं जो स्पात् काव्य न कहा जाय, कारण कि न तो उसमें छंद शास्त्र का विचार किया गया है और न व्याकरण ही पर ध्यान दिया है, परन्तु तो भी उसमें ध्वनि है, अर्थ है, यमक है, अनुप्रास है और सरसता है, अतिरिक्त चिदत विनोद की उसमें शक्ति है।[66] लेखक का तात्पर्य यहां ग्रामीण जन द्वारा निर्मित काव्य से है। मीर साहब ने और भी लेख, निबंध, कहानियाँ आदि लिखी हैं जो विविध पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं।

समीक्षा

काव्य सौष्ठव- भावपक्ष

वर्ण्य विषय-

''मीर ब्रजभाषा की उस काव्य परम्परा के कवि हैं जो भारतेंदु, नाथूराम शर्मा, शकर देवी प्रसाद आदि के काव्य माध्यम में प्रस्तुत शताब्दी के दूसरे दशक तक निरन्तर प्रवाहमान रही ।[67] मीर साहब की ब्रजभाषा की रचनाओं में श्रृंगार भक्ति, नीति आदर्श एवं प्रकृति प्रमुख कार्य विषय हैं ।

श्रृंगारान्तर्गत संयोग व वियोग दोनों पक्षों को उन्होंने वर्णित किया है । प्रेम, सौंदर्य, नखशिख वर्णन भी उनकी रचनाओं में मिलता है । श्रृंगार के अतिरिक्त व्यक्ति भावना भी उनकी रचनाओं का प्रमुख प्रति पाद्य है । वे अहिन्दू होते हुए भी ईश्वर में गहन आस्था रखते हैं । मीर साहब द्विवेदी युगीन कवि हैं, अत: नैतिकता एवं आदर्शों का आख्यान् भी उनकी रचनाओं में सहज रूप से विघमान है । प्रकृति वर्णन के अन्तर्गत उन्होंने ऋतु वर्णन एवं चाँदनी वर्णन प्रस्तुत किये हैं । वस्तुत: उनके ब्रजभाषा की रचना को वर्ण विषयों पर रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट देखा जा सकता है ।''

मीर साहब ने युगानुरूप खड़ी बोली को काव्यसाधना का माध्यम बनाया। चंद्रमयी पं. मुकुटधर पाण्डेय लिखते हैं - ''मीर कवि ब्रजभाषा काल के कवि थे, पर समय की पुकार को सुनकर हरिऔध और पूर्ण कवि की तरह वे भी खड़ी बोली की ओर झुके ।''[68] मीर साहब की खड़ी बोली की रचनाओं में राष्ट्रीयता की भावना का प्राधान्य है, भक्ति भावना, नैतिकता एवं आदर्शा दार्शनिकता आदि भावों की अभिवंदना भी उन्होंने की है ।

राष्ट्रीयता-

मीर साहब की राष्ट्रीयता का मूलस्वर सामाजिक उत्कर्ष और राष्ट्रोन्नति की भावना है। उन्होंने अपनी रचनाओं में भारत गौरवशाली अतीत का शक्ति, शौर्य, धन, वैभव, धर्म, भक्ति का आख्यान किया है। देश के युवकों व तरुणों को स्वदेशाभिमान एवं सहवृत्तियों की प्रेरणा प्रदान की है। वर्तमान दशा में क्षुब्ध हो अतीत के उज्जवल पृष्ठों की ओर देखते हैं। सामाजिक रूढ़ियों व कुप्रथाओं का वे विरोध करते हैं। इनका ''बूढ़े का ब्याह'' खण्डकाव्य सुधारवादी चेतना से संयुक्त अनुपम कृति है। मीर साहब ने राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी का समर्थन एवं प्रचार किया है। मीर साहब की व्यक्तित्व और कृतिका राष्ट्रीयता के उच्चादर्शों के प्रति समर्पित रहा है। हिन्दी संसार उन्हें ''स्वदेश स्वदेशी और राष्ट्र भाषा'' के विकास लेखक के रूप में स्मरण करता है।

रस-

मीर साहब के काल में प्राय: सभी रसों का प्रयोग हुआ है। रीति कालीन भावाभिव्यंजना पर आधारित ब्रजभाषा की रचनाओं में श्रंगार, शांत, करण रसों के अतिरिक्त अद्भुत रस की योजना भी हुई है। राष्ट्रीय भावभूमि पर आधारित रचनाओं में वीर रस की योजना भी कवि ने की है। भक्ति व दार्शनिक पृष्ठभूमि पर आधारित रचनाओं में रस की निष्पत्ति हुई है।

प्रकृति चित्रण-

मीर साहब ने प्रकृति को आलंबन व उद्दीपन दोनों ही रूपों में प्रस्तुत किया है। प्रकृति के वर्णनात्मक चित्रण भी आपने किये हैं। प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति को भी आपकी रचनाओं में देखा जा सकता है।

युगीन यथार्थ का अंकन-

मीर साहब का युग राष्ट्रीय आंदोलन का युग था देश राजनैतिक स्वतंत्रता प्राप्ति की ओर तीव्र गति से अग्रसर हो रहा था। आर्थिक व सामाजिक परिस्थितियाँ अनुकूल न थीं। सामाजिक क्षेत्र में अनेक कुरीतियाँ फैली हुई थीं। यद्यपि महात्मा गाँधी व अन्य महापरुषों के नेतृत्व में सांस्कृतिक पुर्नजागरण की प्रवृत्तियाँ भी संचालित थी और सामाजिक विषमताओं के विरूद्ध जंग जारी थी। मीर साहब के जीवन और कृतित्व पर इन विभिन्न परिस्थितियों का गहरा प्रभाव पड़ा था। उन्होंने युगीन यर्थाथ को अपनी कृतियों में अंकित किया है। ''बूढ़े का ब्याह'', खण्डकाव्य तत्कालीन सामाजिक विषमताओं व उनके खिलाफ जाग्रत हुई चेतना को उपस्थित करता है ''कलियुगाष्टक'' नामक रचना में कवि ने पुत्र की विविध समस्याओं को विश्लेषित किया, उनके निदान प्रस्तुत किये हैं। वे सद्वृत्तियों के पोषक है। युगीन बिडम्बनाओं के प्रति उनके मन में रोष है वे समाज के उत्कर्ष के आकांक्षी है। युगांकन करते हुए उनका दृष्टिकोण मानवतावादी होता है, वे मानवता के संदर्भ में देश व समाज की उन्नति व उत्कर्ष की कामना करते हैं।

गाँधीवाद का प्रभाव-

गाँधी युग से उनका व्यापक प्रभाव देश व समाज की राजनैतिक, धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक परिस्थितियों पर रहा है। मीर साहब का जीवन व साहित्य भी गाँधी जी के दृष्टिकोण के निकट प्रतीत होता है। स्वदेश, स्वदेशी और राष्ट्रभाषा के प्रति आग्रह, हिन्दू मुस्लिम ऐक्य का समर्थन, धर्म निरपेक्षता उन्हें विचारधारा से जोड़ती है। मीर साहब की राष्ट्रीयता भी गाँधीवादी आदर्शों से प्रभावित है।

दार्शनिकता-

मीर के काव्य में दार्शनिकता के स्फुट स्वर भी मिलते हैं। मीर साहब ने

ईश्वर की सत्यता, जगत की नश्वरता, जीवन की क्षणभंगुरता की तथा सुख दुख आदि की अभिव्यक्ति अपनी रचनाओं में की है। ईश्वर में उनकी अगाध श्रद्धा है, चराचर में ईश्वर अद्वैत सत्ता में वे विश्वास रखते हैं। जीवन और जगत तो नश्वर हैं, ईश्वर ही एक मात्र सत्य है, ऐसा भाव वे अपनी काव्य रचनाओं में व्यक्त करते हैं। मीर साहब के दार्शनिक विचार भारतीय मनोयन व दर्शन के अनुरूप है।

''तुलसी'' और उनके ''रामचरितमानस'' का मीर पर प्रभाव -

मीर साहब ''हिन्दी'' से ही नहीं हिन्दू धर्म से भी गहरा लगाव रखते हैं। हिन्दू धर्म ग्रंथों व पुराणों का आपने गहन अध्ययन मनन किया था। पं. लोचनप्रसाद पाण्डेय इस संदर्भ में लिखते हैं ''आपकी विद्या, बुद्धि प्रतिभा और हिन्दू शास्त्र पुराणों के कथा प्रसंगों की जानकारी बढ़ी चढ़ी है।''[69] मीर साहब को ''तुलसी और उनके प्रसिद्ध ग्रंथ रामचरित मानस ने सर्वाधिक प्रभावित किया। श्री ब्रजभूषण सिंह आदर्श ने भी लिखा है कि ''राम चरित मानस'' के प्रति इनका विशेष अनुराग था।''[70] मानस के अनेक पद चौपाइयाँ आपने अपनी रचनाओं में उद्धृत की है।

मीर साहब की ब्रजभाषा काव्य रचनाओं का अनुशीलन करने पर यह तथ्य सहज ही स्पष्ट होता है कि ''मीर साहब'' तुलसी दास जी से प्रभावित थे। मीर साहब के काव्य का पठन करने पर अनायास ही मानस की पंक्तियाँ याद हो आती हैं, विशेषकर वहाँ जहाँ मीर नीति, भक्ति अथवा आदर्शों की व्याख्या करते हैं।

''मीर साहब'' तुलसीदास जी एवं रामचरित मानस पर लिखने की इच्छा रखते थे। मीर साहब अपनी इस इच्छा की पूर्ति कर सके, अथवा नहीं किंतु लोग ते अमि के अहिं चढ़यों जात चंद पे '' नामक जिस समस्या से उन्हें साहित्य क्षेत्र में प्रतिष्ठा मिली, उसकी पूर्ति की प्रेरणा उन्हें ''रामचरित मानस'' से ही मिली थी। इस बात का प्रमाण ''मानस'' की निम्न लिखित पंक्तियाँ हैं।

''प्रमुदित मुनिन्हँ भाँवरी केरी, नेग सकिहत सब रीति निबेरी ।

राम सीय सिर सेयुर देहीं, सोभा कहि न जाहि विधि केही

अपन पराग जलल भरि नीके, ससिद्धि भूष अहि लोक अभी के

वरिष्ठ दीन्हि अनुसासन, बरण दुलहिनि बैठे एक आसन ।[71]

मीर का कृतित्व हिन्दुत्व के उच्चादर्शों से संप्रक्त है । वे जातिगत भेदभावों से परे धर्म निरपेक्ष दृष्टिकोण रखते हैं । हिन्दू रीति-रिवाज, पर्व त्यौहार, देवी-देवताओं, शास्त्रों, पुराणों सभी में उनकी आस्था है । वस्तुतः वे प्रथक भारतीय हैं, भारत भूमि उनकी मातृभूमि है और मातृभूमि की सरूपता, संस्कृति धर्म, दर्शन सभी में उनकी श्रद्धा है ।

भक्तिभावना-

मीर साहब की रचनाओं में भक्ति भावना भी उल्लेखनीय तथ्य हैं । हिन्दी साहित्य में मुसलमान भक्त कवियों की परम्परा पुरानी है । ''वैष्णव रसखानि श्रीकृष्ण की रूप माधुरी पर इतने विमुग्ध थे कि उस ऐश्वर्य के समक्ष मणि माणिन्य उन्हें धूलि के तुल्य प्रतीत होते थे । ताजमुगलानी थीं पर उन्होंने नन्दकुमार के आकृति सौंदर्य पर सर्वस्व अर्पित कर हिन्दुस्तानी बनकर रहने का संकल्प किया ।''[72] मीर साहब ने भी इसी परंपरा का पोषण किया है । उनकी ''कृष्णचन्द्र जन्म'' नामक कविता कृष्ण के प्रति गहन भक्तिभावना से संयुक्त है । इसी तरह ''दशहरा'' नामक कविता में उन्होंने राम के प्रति अपनी आस्था व्यक्त की है ।

विविध विचार धारायें और जीवन दर्शन-

मीर साहब का जीवन अभावों और संघर्षों की अथक कथा है तो अनुकणीय आदर्शों की प्रेरणा भी । कठिन परिस्थितियों से जूझते हुए भी उनकी रचनात्मक आस्था अडिग रही, वे कभी हिन्दी व हिन्दी साहित्य सेवा से विरत् नहीं हुए । मीर साहब को

आर्थिक कष्टों के पराभव हेतु जगह-जगह नौकरियाँ करनी पड़ीं। अपने प्रियजनों का वियोग सहना पड़ा परंतु इसे उन्होंने ईश्वर की इच्छा माना। मीर साहब धर्म, ईश्वर साम्प्रदायिकता आदि पर भी निष्पक्ष एवं सार्थक विचार रखते थे। उनका मानना था कि साम्प्रदायिकता के विषवृक्ष उस समय तक हरे-भरे बने रहेंगे जब तक उन्हें वर्तमान शासन की उर्वरा भूमि आश्रय देती रहेगी और धर्म नाम की नदियों से, नालियों से कहना अधिक उपयुक्त होगा। पानी मिलता रहेगा, निकट भविष्य में इसके सूखने के लक्षण दिखाई नहीं देते। वे स्वयं सांप्रदायिक सद्भाव के साथी थे और सदैव इसी दिशा में प्रयासरत् रहे।

उनका ''धर्म'' संबंधी दृष्टिकोण उदार था। उनका मानना था कि धर्म शान्ति प्रदायक होना चाहिये, जिसका पालन सत्य के बिना नहीं हो सकता और ''सच केवल एक ईश्वर है; अतः सत्य ईश्वर रूप है, अतः धर्म को ईश्वरमय होना चाहिए। ईश्वर सर्वव्यापी है, अतः धर्म सार्वभौमिक होना चाहिए स्वदेशीय नहीं। वास्तव में वे धर्म के मर्म को समझते थे। 'ईश्वर' और धर्म उनके लिए सम्प्रदायिक विद्वेष को भड़काने वाले कारण न थे अपितु प्रेम और शांति प्रदायक तथ्य थे।''

मीर साहब के स्वयं के विचार इस प्रश्न पर अत्यंत सुलझे और निष्पक्ष थे। वे मुसलमान होते हुए भी उर्दू के हिमायती नहीं थे। वे राष्ट्रभाषा के रूप में हिन्दी की प्रतिष्ठा चाहते थे। लेकिन उस समय तो बहिष्कार की लहर चल रही थी, उससे वे दुखी थे। इसे वे साम्प्रदायिक व सामाजिक दृष्टि से हानिकारक मानते थे। उनका मानना था कि -

''उर्दू के प्रचलित शब्दों की अवहेलना करना, अथवा उनके प्रति घृणा प्रकट करना बुद्धिमानों का काम नहीं है। यदि उर्दू शब्द समूह का, जिसका अधिकार हिन्दू नारियों की भाषा पर भी त्याग किया जावेगा, तो दूसरी तरफ से उसका यह अर्थ होगा कि हिन्दी भाषा के पक्षधर एक वहुत बड़ी जाति मुसलमान को, जिसकी संख्या भारत की लोक संख्या का एक पंचमांश है, अपने को प्रथक रखना चाहते हैं तथा

अपने विचारों का लाभ न तो उन्हें उठाने देना चाहते हैं न उन के विचारों से वे ही लाभान्वित होना चाहते हैं।''[73] वस्तुत: मीर साहब का जीवन दर्शन और विचार धारा सुलझी हुई हैं। वे निष्पक्ष ओर तटस्थ दृष्टि से समरूपता का हल खोजना जानते हैं। उनकी यह विद्वता और प्रतिभा उनके काव्य व साहित्य में भी सर्वत्र व्याप्त हुई है।

कलापक्ष -

मीर साहब ने प्रारंभ में ब्रजभाषा को काव्य रचना का माध्यम बनाया तत्पश्चात् युग बोध के अनुरूप खड़ी बोली हिन्दी को काव्य माध्यम के रूप में प्रस्तुत किया।

मीर साहब की ब्रजभाषा में बुन्देली शब्दों का प्रचुर प्रयोग मिलता है। वे अरबी, फारसी, उर्दू के भी विद्वान थे, अत: यत्र-तत्र इन भाषाओं के शब्दों का प्रयोग भी उनकी रचनाओं में मिलता है। खड़ी बोली हिन्दी का प्रारंभिक सामर्थ रूप तथा शुद्ध परिष्कृत रूप दोनों के ही दर्शन उनकी काव्य भाषा में मिलते हैं। खड़ी बोली की रचनाओं में उर्दू, अरबी, फारसी, अंग्रेजी आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों के अतिरिक्त ईराक, तत्सम व अदभव शब्दों के प्रयोग भी मिलते हैं।

भावानुरूप भाषा का प्रयोग मीर साहब की विशेषता है, भाषा पर उनका अच्छा अधिकार है।

मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग-

मीर साहब की रचनाओं में मुहावरों व लोकोक्तियों का प्रयोग भी यत्र-तत्र हुआ है, जो भाषा व भावों को प्रभावशाली बनाने में सहायक हुए हैं।

अलंकार योजना-

मीर साहब ने परम्परागत अलंकारों की योजना की है। अनुप्रास, यमक,

श्लेष, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, अतिश्योक्ति, दृष्टान्त, विरोधाभाष, आदि विविध अलंकारों का प्रचुर प्रयोग आपकी रचनाओं में हुआ है।

छन्द योजना-

मीर साहब ने अपने काव्य में वर्णित व मात्रिक दोनों तरहों के छन्दों की योजना की है। कुछ प्रमुख छंद है। दुर्मिल, मातजायन्द, मनहर, अरसात, कुन्डलियाँ, दोहा, कवित्त, सवैया इत्यादि।

काव्य शैली-

मीर साहब ने प्रबंधात्मक व मुक्त दोनों तरह की काव्य रचनायें की हैं। प्रबंधात्मक में ''बूढ़े का ब्याह'' खंडकाव्य और युक्तम रचनाओं में ब्रजभाषा के विविध पद, कवित्त, समस्यापूर्ति आदि तथा खड़ी बोली की विविध कविताएँ आती हैं।

उपलब्धियाँ एवं मूल्याँकन-

सैयद अमीर अली (मीर) द्विवेदी युगीन सहित्यकारों में महत्वपूर्ण स्थान के अधिकारी हैं। मीर साहब ने हिन्दी साहित्य की गद्य व पद्य दोनों विधाओं की समृद्धि में अपना योगदान दिया है। इनकी रचनाओं में अपने युग की प्रवृत्तियों का स्पष्ट प्रतिबिम्ब दीख पड़ता है। इनमें समाज के प्रति तीखा व्यंग है। ये हिन्दू आदर्श से सर्वथा प्रभावित हैं जिस भूमि और संस्कार में ये सांस ले रहे थे, उसी को अपनी कविता में निरन्तर उच्छवालित करते रहते थे।[74] वे जीवन के उदात्त मूल्यों के प्रति निष्ठावान थे। उनका समस्त साहित्य राष्ट्रीयता और समाजोत्थान के मूलभूत आधारों पर निर्मित हुआ है।

मीर साहब ने प्रारंभ में रीतिकालीन परम्परा का अनुगमन करते हुए ब्रजभाषा

में मुक्तक रचनाओं की बृजभाषाओं की रचनाओं में भी ''समरूपपूर्तिया'' तत्कालीन साहित्य जगत की लोकप्रिय काव्य शैली है। ''समस्यापूरण का वैशिष्ट्य कवियों की सूझबूझ उक्ति वैचित्र्य और आशुकवित्व में होता है।[75] मीर साहब की समस्या पूर्तिया प्रथम श्रेणी की होती थी तथा तत्कालीन काव्यपत्रों में सम्मानपूर्वक छापी जाती थी। वस्तुतः सृजनात्मक चेतना के प्रारंभ में मीर साहब ने परम्परा गत भाषा भाव व शैली को अपनाया।''

द्विवेदी जी के नेतृत्व और मार्गदर्शन में खड़ी बोली हिन्दी को काव्य भाषा के रूप में जो आन्दोलन प्रारंभ हुआ उसमें मीर साहब ने भी अपनी सक्रिय व सार्थक भूमिका निभाई। मीर साहब द्विवेदी जी के संपादकत्व में निकलने वाली पत्रिका ''सरस्वती'' के जाने माने लेखक व कवि थे।

विपरीत परिस्थितियों के कारण मीर साहब हिन्दी साहित्य जगत से पत्यक्ष संबंध बनाये न रख सके तो वे अपनी सृजनात्मक आस्था को जीवित रखे रहे और जीवन भर हिंदी साहित्य की सेवा में संलग्न रहे। मीर साहब को अपनी साहित्यिक सेवाओं का उचित प्रतिदान जीते जी न मिल सका साहित्यकार के रूप में उन्हें जो वस्तु प्रापत हुई थी ''उपेक्षा'' साहित्य जगत में उपेक्षा व शोषण का शिकार होते हुए भी वे लेखन कार्य से विमुख न हुए। डॉ. क्रान्तिकुमार जैन लिखते हैं -

''उनके जीवन के तीन पड़ाव हैं- बुन्देलखण्ड, निमाड़ के खण्डवा में चाहे छत्तीसगढ़ के धतियागढ़ या भाटापारा में न तो उनकी गरीबी कम हुई न ही राष्ट्रीयता की उनकी आँच कम पड़ी और न कभी वे साहित्य लेखन से विरत हुए।[76] सैयद अमीर अली के जीवन काल में पं. लोचनप्रसाद जी पाण्डेय ने हिन्दी जगत का ध्यान उनकी ओर आकर्षित करने का प्रयत्न किया था। उन्होंने लिखा है- हमें इस बात का हर्ष और गौरव है कि हिन्दुस्तान का सर्वप्रधान आधुनिक मुसलमान हिन्दी कवि हमारे म. प्र. का सुपुत्र रत्न है। पर परिताप का विषय है- शत्चार खेद का विषय है कि हिन्दी साहित्य संसार अन्य भाषा भाषी हिन्दी सेवाओं के आदर सत्कार व्यापार में दुःखमयी

उपेक्षा का व्यवहार करने में अपने को लाभवान् समझता है, अन्यथा ''हिन्दी को विद् रलमाका'' के दूसरे भाग की तो बात ही नहीं प्रथम भाग में हम ''मीर'' महोदय के चित्र चरित्र को संकलित पाते और ''मित्रबंधु विनोद'' में आप पर कई पृष्ठ लिखे जाकर उनकी सरस मधुर कविताओं का उध्रण होता है।[77]

पं. बनारसीदास चतुर्वेदी ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन इन्दौर के अधिवेशन की अध्यक्षता हेतु मीर साहब का नाम प्रस्तावित किया था जिसे अधिवेशन के कार्यकर्ताओं ने अस्वीकर कर दिया। चतुर्वेदी जी लिखते हैं- ''वह बूढ़ा साहित्यलंबी कम से कम इतनी उपेक्षा के योग्य न था। जब हम ख्याल करते है कि यह उपेक्षा एक ऐसे मुसलिम सज्जन के साथ की गई जो जिन्दगी भर निर्धनता के साथ युद्ध करते हुए भी हिन्दी साहित्य की सेवा करता रहा, तो और भी खेद होता है।''[78] मीर साहब ने रसखान, ताज, तानसेन, नजीर, रहीम, आदि की परम्परा की अगली कड़ी के रूप में हिन्दी गत के समक्ष उपस्थित हुए थे। ''उनकी काव्य भाषा शुद्ध हिन्दी और भावविन्यास भारतीय नीति के क्षेत्र में है। यद्यपि मीर की कविता में आधुनिक काव्यगत् विशेषताएँ उतनी नहीं मिलेगी फिर भी उनके उन सजीव प्राणों का स्पन्दन है जो देश के सुख और समृद्धि के लिए अपना उत्सर्ग कर सकते हैं।''[79]

श्री कालिका प्रसाद दीक्षित लिखते हैं- ''रसखान और आलम की भाँति, हिन्दी कविता को अपनी साधना का आधार बनाया और अपने जीवन को सांप्रदायिक भावनाओं से सदा दूर रखा ।''[80]

श्री जहूर बख्श जी के शब्दों में- ''वे एक प्रकार से हिन्दी संसार में मुस्लिम समाज के प्रतिनिधि कवि थे। जब मुसलिम समाज में हिन्दी के प्रति विद्रोह की भावनाएँ जोर पकड़ रही थी, तव वे उसकी सेवा के लिए अग्रसर हुए थे और उन्होंनें यथाशक्ति उस विद्रोह का मुकाबला किया था।''[81]

निष्कर्ष-

हम कह सकते हैं कि मीर साहब का व्यक्तित्व व कृतित्व अनुकरणीय आदर्शों व प्रेरणाओं का मूर्त रूप है। तथा आवश्यक शोध व अनुशील की संभावनायें रखता है।

मुन्शी खैराती खाँ 'खान'

परिचय एवं पृष्ठभूमि-

देवरी के मीर मंडल कवि समाज के कवियों में मुन्शी खैराती खाँ ''खान'' का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। आधुनिक युग में विद्यमान, ब्रजभाषा की रीतिकालीन काव्य परम्परा की समृद्धि में आप अपना योगदान देते रहे हैं।

कवि ''खान'' ने मुस्लिम समाज में जनम लेकर मीहिर धर्म त्यौहार पर्व, एवं धार्मिक महापुरुषों के प्रति ब्रह्म एवं भक्ति प्रकट कर अपनी व्यापक एवं विशाल दृष्टि का परिचय दिया है। वे धर्म निरपेक्षता के पक्षधर है। कवि खान द्विवेदी युगीन कृतिकार है अतएव द्विवेदी युगीन समस्त प्रवृत्तियाँ उनके काव्य में विद्यमान है। रीतिकालीन काव्य शैली काव्य एवं भावव्यंजना के साथ भारतीयता, सुधारवादी चेतना, मानवता वादी दृष्टि एवं नीति आदर्श आदि प्रवृत्तियाँ उनके रचनाकौशल एवं बुद्धि की गहनता की परिचायक हैं।

कवि ''खान'' मीर मंडल कवि समाज के प्रारंभिक सदस्यों में से एक थे। आपकी रचनायें भी मीर साहब एवं मीर मंडल के अन्य कवियों के ''रसिक मित्र'', कसपुरा तथा ''सुकवि'' आदि पत्रों में प्रकाशित होती थी। आपकी रचनायें मुक्तक शैली में हैं। आप समस्यापूर्तियाँ भी बहुत अच्छी किया करते थे। ''मीर मंडल'' कवि समाज के कवियों की रचनाओं के अप्रकाशित काव्य संग्रह ''काव्यकुंज'' प्रथम भाग में कवि खान की मुक्तक रचनायें भी लोकप्रिय है। मीर

मंडल कवि समाज की स्थापना सन् 1895 में हुई, अत: ये रचनायें 1895 के बाद की ही हैं। ''रसिकमित्र'' मासिक पत्र के सन् 1901 व सन् 1902 के अंकों में भी आपकी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं, जो उनके प्रतिभा सम्पन्न कवि रूप का प्रकाशन करती हैं।

जीवन एवं व्यक्तित्व-

मुन्शी खैराती खाँ का जन्म देवरी ग्राम में, सन् 1898 ई. में एक धुनिया परिवार में हुआ। आपके जीवन व परिवार संबंधी अधिक जानकारी प्राप्त नहीं हो सकी है। 20 वर्ष की अल्पायु में ही आपका निधन हो गया। इस संबंध में डॉ. ब्रजभूषण सिंह आदर्श लिखते हैं- ''इनका जन्म एक धुनिया परिवार में संवत 1935 में हुआ था। अट्ठाइस वर्ष की अल्पायु में ही वे गोलोकवासी हुए।''[82] पं. बैजनाथ प्रसाद जी दुबे आपके जीवन और व्यक्तित्व के संबंध में लिखते हैं- ''आपका जन्म सन् 1878 ई. में देवरी कस्बे में हुआ। अध्यापक की ट्रेनिंग लेने के वाद आपकी नियुक्ति देवरी म्युनिस्पिल स्कूल में तृतीय सहायक शिक्षक की जगह पर हुई। आप थोड़े समय जीवित रहे। 19 जनवरी 1907 में आपकी मृत्यु हो गई। आप एक अच्छे अध्यापक थें। मीर मण्डल कवि समाज के आप एक उत्तम कवि थे।''[83] ''डॉ. कांतिकुमार जैन 'मीर ओर उनका मंडल' निबंध के अंतर्गत लिखते हैं- मुंशी खैराती खाँ 'खान' मीर मंडल के प्रमुख रत्न थे।''[84] ''डॉ. बल भद्र तिवारी ने भी सागर जिलान्तर्गत देवरी ग्राम की साहित्यपरंपरा का उदबोधन करते हुए मुंशी खैराती खाँ 'खान' का स्मरण किया है।''[85]

कवि 'खान' प्रतिभा सम्पन्न सरस, भावुक एवं सुरुचि संपन्न कवि हैं। उनका काव्य यद्यपि प्रचुर मात्रा में उपलब्ध नहीं है। फिर भी उपलब्ध रचनाओं में रचनाकौशल एवं सुरूचिसंपन्नता दर्शनीय है। साहित्य जगत में वे अधिक देर तक अपनी भूमिका का निर्वाहन न कर सके और अल्पायु में ही उन्हें इस लोक का त्याग करना पड़ा, लेकिन उन्होंने जो भी लिखा उसमें अनुभूति तथा अभिव्यक्ति का सुन्दर समरूप उनके लेखन की सक्रियता का घोतक है।

कृतित्व-

कवि ''खान'' ने मुक्तक शैली में काव्य रचना की। आपकी मुक्तक रचनायें समस्यापूर्ति, ऋतुवर्णन, चाँदनी वर्णन आदि श्रेणियों में वर्गीकृत की जा सकती हैं। कवि ''खान'' की प्रकाशित रचनायें कम ही हैं, और समस्यापूर्तियों के रूप में है। अप्रकाशित मुक्तक छन्दों में पर्याप्त विविधता है। आपकी रचनाओं को निम्नशीर्षों में वर्गीकृत कर सकते हैं -

(1) प्रकाशित रचनायें।

(2) अप्रकाशित रचनायें।

(1) प्रकाशित रचनाओं के अंतर्गत- 1. समस्यापूर्ति, 2. होली वर्णन।

(2) अप्रकाशित रचनाओं के अतंर्गत- 1. समस्या पूर्तियाँ, 2. ऋतु वर्णन, 3. चाँदनी वर्णन।

रचनाओं का परिचयात्मक अनुशीलन :-

(1) प्रकाशित रचनायें- 1. समस्यापूर्ति-

1. समस्या- ''खूनरी करैगी लाल चूनरी पहिरि कै'' की पूर्ति-

''लोचन विलास ही में लास करिपे की शान वान के लगे से
केते गिरै री कहरि कै।
चोखी चन्द्रहास आसै तेरी मुहुहास एरी। हास हवै रहैरी सूर सामुहे दहरि कै।
तेरी बतरान ''खान'' बसीकर मंत्र माने छैल छल भूल
रहजात री। हहरि कै।
तै पै गजब का व कसायनी विचारे हीय खूनरी करैगी
लाल चूनरी पहिरि कै।[86]

कविवर खैराती खाँ खान के उपर्युक्त पद में ब्रजभाषा का लालित्य है। इस पद में नायिका के सौंदर्य को लेकर सुंदर विशाल नेत्र, मृदुल मुस्कान, बातचीत के ढंग से वशीकरण मंत्र की भाँति वश में करने की पूर्वक्षमता और इतने पर लाल चाक रंग की चुनरिया मानो छैल छबीलों के प्राण लेने पर आमादा है।

2. समस्या ''चले गये'' की पूर्ति-

केतक भूपर भूप भए बलबीर धनी पछताए चले गए।
तैसहि कीरतवान सबै गुणवान जहान बिहाय चले गए ।।
रे नर जानके भुलो कहा पुनि आन को तू कहै हाय चले गए।
दूसरे काल कहैंगे तुम्हें सो जग सों वह आज विलाय चले गए।[87]

प्रस्तुत पद में मनुष्य की सुनिश्चित नखरता की ओर संकेत किया गया है। कविवर खान का मानना है कि इस पृथ्वी पर बड़े-बड़े शूरवीर राजाओं ने जन्म लिया है और संसार छोड़कर चले गए। कीर्तिवान, गुणवान आदि कोई भी कालचक्र से नहीं बच सका। इसलिए हे मनुष्य तू मृत्यु को निश्चित मानकर चल।

3. ''समस्या'' ''तारन में'' की पूर्ति-

''बलि एकते एक लरें बलवीर अमीत रहें से हजारन में।
घबरा धर कावर भाजि गए किरपान के वार प्रहारन में ।।
कवि खान भौ बूर को युद्ध महा विकराल अनील सेहारन में।
अनुमान रहो नहि लोथन को वहि शोनित की सरितारन में ।।[88]

प्रस्तुत समस्या पूर्ति में कवि खैराती खाँ ''खान'' ने युद्ध की विभीषिका का चित्रण किया है। अनेक वीर युद्ध भूमि में लड़ते हैं, लेकिन हजारों में कोई एक शूरवीर भयरहित होकर लड़ता है। अनेक वीर पुरूष ऐसे होते हैं जो तलवार के भीषण प्रहार को देखकर कायरों की भाँति मैदान छोड़कर भाग जाते हैं। कवि इस पद में आगे

अतिशयोक्तिपूर्ण पूर्ण शैली में युद्ध की विकरालता का चित्रण करता हुआ युद्ध में मारे गए लोगों के खून की नदी रणक्षेत्र में प्रवाहित होने का संकेत करता है। भावार्थ- विपत्तिकाल में व्यक्ति को पलायनवादी नहीं बनना चाहिए।

2. होली वर्णन-

मन मोद सों मंजू अवीर सही बलवीर पै धाय उड़ाय रही,
अरू केसर रंग सबै मिलनै बरसा सो धनो बरसाय रहीं ॥
कवि ''खान'' गुलाल गिरायकै त्यौं चित्त चौगुनो चाव बढ़ाय रहीं
मनुराग सों गाय बजाय रहीं घनश्याम को बान रिसाय रहीं ॥[89]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने होलिकोत्सव का प्राकृतिक चित्रण प्रस्तुत किया है। काली घटाओं के साथ विघुत की छेड़खानी का दृश्य मानो अबीर केशर तथा गुलाल के रंगों में उपस्थित होकर होली का दृश्य प्रस्तुत कर रहा है।

3. अन्य-

एक में विचित्र कुंज कौतुके बिलोकि आई,
लाल जू प्रबाल भूमि तापै कुंज है मरंद।
केलि कुंज तापै सिंह, हेमफूल तापै मंजू,
तावै गंगधार ताके तीर चक्रवाक वृन्द ॥
कोकिला कलाप तापै विम्व करि ''खान'',
तावै मीन तापै गुंज चंचरीक भेद भेरु।
चन्द सी अमन्द चंद्रिका तहाँ प्रकाशवान,
हो हुगे अनंद हीय हेरि ताहि नंद नंद।[90]

यह पद कविवर खान के भक्तिपरक गीतों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। प्रस्तुत पद में शिव महिमा एवं श्रीकृष्ण की मनोहरी आभा का प्रस्तुतीकरण भक्ति

भाव से किया गया है ।

2. अप्रकाशित रचनायें :

1. समस्या पूर्तियाँ-

समस्या ''दरसै'' की पूर्ति-

पिक पंकज ''खान पराग पलास, प्रसून पहासते परसै ।
सुखमा सर सौरभ साज समाज सों, सोंभ अकासन कौ सरसै ।।
वन वागन वीथिन वैहर ते, ये बसन मलिन्दन ते वरसै,
द्रुमदीन दिगम्बर अम्बरतें, दर देश दिगम्बर ते दरसै ।। अप्रकाशित ।

प्रस्तुत पद में कवि ने बसंत ऋृतु के आगमन पर प्राकृतिक परिवर्तनों की छटा को प्रस्तुत किया है ।

2. विरधान पुरातन को फल है, पर मान फिरो कवि के परसै ।
सुनो काचो अतीव सुहावनो यौ, मन हारनौ देख हियो हरसै ।।
सुनि गादर आदर सिन्धु भयो, कवि ''खान'' सुधा रस सो सरसे ।
वह कौन पहेली बतायो जरा, जु पके तब माहुर सो दरसै ।। अप्रकाशित ।

दरसै नामक समस्यापूर्ति में कवि ने पहेली के अंदाज में पके हुए अनार फल का चित्रण कर अपने अंदर छिपी सूक्ष्म बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है ।

समस्या ''तलवार की धार पै धारावों है'' की पूर्ति-

3. धनु मौह, मनो बरर्ली शर है, उन कारक हीरा विदारवो है,
सिसिकै दिन रैन कितै वलबीर, महाँ दुख तासन छायबो है ।।
''कवि खान'' गिनावै किती महिमां, अट येतो पंपारो बगारवो है ।
पसैवो मनो तेरी कठाहन में, तरवार की धार पै धापवौ है ।। अप्रकाशित ।

प्रस्तुत पंक्तियों में कविवर खान ने सौंदर्य एवं भक्ति का समन्वित दृश्य प्रस्तुत किया है। कवि ने नारी प्रेम और ईश्वर प्रेम दोनों ही स्थितियों को खतरनाक मानते हुए तलवार की तीक्ष्ण धार पर दौड़ने के समान कष्टदायी माना है।

समस्या ''गई सो गई अब राखा रही को'' की पूर्ति-

4. ''खानजू'' ज्यौं इक ओरहि काल, खगो है विनासवे कान नहीं को।
त्यौं द्रव कोंप सो प्लेग भरी, मटपै निशा ही प्रान निकेतन ही को॥
औ लख आलस में परो मारत, माजै रमां हूं विदेशन ही को।
सन्तति सम्पति यौ प्रभूजू, सो गई सो गई अब राख रही को॥ अप्रकाशित

प्रस्तुत पद में कविवर खान का मानना है कि काल इस पृथ्वी पर विनाशशीलता खेल रहा है। सन्तति और सम्पत्ति दोनों ही काल के चंगुल से बच नहीं पाते, सब कुछ विनाश हो जाता है।

समस्या ''जीवन को फल है'' की पूर्ति-

5. करतों न सुकर्ग करै कषहूं, पग सों न चलै मगओ मल है।
तुनि कानन सों न सुनै कब्हूं रसना सों उचारें नहीं पल है॥
चख सों न चितोवत दीनन पैं, तरसों पर स्वारथ ना बल है।
मन सों ''कवि खान'' न ध्यावतरे, प्रभु जो जगजीवन को फल है॥

(अप्रकाशित)

कवि कहता है मनुष्य इस संसार में जन्म लेकर व्यर्थ की आपा-धापी में पड़ा रहता है। मनुष्य उस प्रभु को कभी स्मरण नहीं करता जो उसे सुकर्म, सुमार्ग, मधुरवाणी, दीनों पर दया करना, परमार्थ करने आदि का पाठ सिखलाता है।

समस्या ''बरसानो'' की पूर्ति-

6. काम कला कर रजिव गातनी, बैठी थमी है हियो करवानो ।

चित्र सी राजत बोलत ना, कहूँ, हेरत ना दुख पौ सरसानों ।।

स्वेद झरो भ्रम को सुखते, तन भीजों सो ''खानजू'' यौ दासानो ।

मानहुं वाटिका कंज जिवावैं, चन्द सो वन्द सुधा बटलानो । अप्रकाशित

कविवर खान ने उपर्युक्त पंक्तियों में ''कामकला'' की महिमा का चित्रण किया है। काम कला रूपमूर्ति को कवि ने जीवन दायिनी सुधा के रूप में प्रस्तुत किया है।

समस्या- ''वावल प्रचंड भौ'' की पूर्ति-

होरन सों आई घिर, गहरी घटान ''खान'' विजु की छटानकर जो वरिबंद
भौ ।

चातक की टेरें कै, हियरो विहाल तापै, दनदुर दरेरे जासो,
दूनो दुशा चंद मौ ।।

कोकिल की कूकै प्रान, लैन सों न चूकै आली, छूटगो समाज सुध, सास
सब खंड गौ ।

बरसे अखंडधार, देखो छरा मंडल पै, ग्रीष्म गये पै बैरी, वावस प्रचंड भौ ।

(अप्रकाशित)

उपर्युक्त पद में ग्रीष्म ऋतु के अवसान और सावस-ॠतु के आगमन का समन्वयकारी रूप प्रस्तुत हुआ है। एक ओर जहाँ ग्रीष्म ऋतु की प्रचंड ताप के झुलसाने वाले अवशेष और दूसरी ओर पावस की अखंड धार का त्रासदायी दृश्य प्रस्तुत किया गया है।

समस्या ''कैसे फल पाओगे'' की पूर्ति-

८. सुन्दर सरोज ओज, कदली कतार अरू, सरके सरिस नहिं पैहो पछताओगे।

कोकन की जोरी जब, देख हौ न ऐसी कहूँ, यहोय के विहाल हाल, लाल लौट आओगे ।।

कोकिन कपोल कीर, माँस की मीर ऐसी, छोर कै बहार मन, कहाँ वहलाओगे ।

पाटल रसाल ''खान'' विम्बा फल ऐसे आन, देखि हौन ऐसे तब कैसे फल पाओगे ।। (अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में कविवर खान ने नायिका के सजीव सौंदर्य का चित्रण किया है। इस पद में रीतिकालीन कवियों में नखशिख का प्रभाव स्पष्टत: परिलक्षित होता है।

9. गौन कर लाये तीय, तीन हू दिना न भए, गौन परदेशठान,

कौन पाल पाओगे ।

तौन माँ बताओ सांची, मौन हो रहे हो कहा व तनक विचारो

किन वपीछे पछताओगे ।

वाढंगों मदन जबै, जरेगो बदन बाको, करेगी रुदन तासो, सदन नसाओगे ।

ढोरनै छबीली अल, बेली या नवेली प्यारे, ऐहो गरपीले छैल,

मैले पल पाओगे । (अप्रकाशित)

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि खान ने उस वियोगिनी नारी का चित्रण द्वारा उसके पति को चेतावनी दी है, जो व्यवहार या गोने की विदा के पश्चात् अपनी पत्नि को छोड़कर परदेश चला गया। कवि वियोगिनी नारी के पति को समझाइश देता हुआ कहता है कि यौवन चिरस्थायी नहीं होता, वह आज है कल नहीं रहेगा।

समस्या ''भौवरी'' की पूर्ति-

10. फूली रहै नित वागन में, अनुरागन सों अलि मालती रावरी।
देवे सुगन्ध अनन्द घनो, निरहन्द निहावत नेह को भावरी ।।
''खान जू'' आदर सादर देत, निरादर को नहि, जाको सुझापरी।
लो तज मूंठ मलिन्द कहो, किन दैव रहे, जो करीर पै भौवरी ।।

(अप्रकाशित)

इस प्रस्तुत पद में कविवर खान उस मूर्ख भँवरे पर व्यंगोक्ति की है जो मालती के सुगंधित पुष्प की खुशबू को छोड़कर, कटीली शाखाओं में सुगंधहीन दायरे में भटक जाता है। सार को छोड़कर व्यक्ति असर वस्तु से प्रभावित हो जाता है।

11. मोहनी मंत्र सो डारत सांझ, सकारै कठे करे मो कहँ वावरी।
हौ न चहौ तिहि देखो तऊँ, अखियाँ खुरै जाप बढ़े जियचावरी ।।
या रसखान को खोज करो नहिं, कौन धौं गाँव को का व अहै नोवरी।
भेद न जान परे, किहि कारण, देत रहै मम मौन की भाँवरी ।।

(अप्रकाशित)

कविवर खान इस पद में उस आकर्षण का लावण्र्य मयी सौंदर्य की चर्चा करते हैं, जिसकी तरफ न चाहकर भी वरवस आकर्षण बढ़ जाता है।

समस्या ''ताकी'' की पूर्ति-

12. रे। मन भूलकै तूं जग जाल में, भूलो आराधना विश्वपिता की।
स्मृति एक पिता की तऊँ, लखै जाति कुजाति गुरू लघुता की ।।
''खान'' जो चाहै कृपा प्रभु की, गह लीजिए सीख हिये सकता की।
देत प्रभा इक सी सब ठौर जथा देख चहूं प्रभुता सविता की।

(अप्रकाशित)

इस उपर्युक्त पद में कवि सूर्य की समदर्शिता की महत्ता को प्रतिपादित करता है। कवि मनुष्य को शिक्षा देता हुआ कहता है कि, हे मूरख मनुष्य तू संसार के मायाजाल में फंसकर ईश्वर को विस्मृत कर चुका है। ईश्वर तो सूर्य की भाँति समदर्शी है जो सभी को एक समान समदृष्टि से देखता है।

13. ताकी पै ताकी न ताकी चहूं, गुप्त्सा की अलौकता मंजुलता की।
ताकी विशालता की छवि या, हख्ता नर ही जिहि में शिशुता की ।।
ताकी समानता की उपमा जुरे, चैतन ताकी और न जड़ता की।
ताकी कहा व प्रभुता कहै ''खान'' विशेषता जो वृषभानु सुता की ।।

(अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में वृषभानु की पुत्रि राधिका की महत्ता को प्रकाशित किया गया है। इसकी गणना इनके श्रेष्ठ भक्ति परक गीतों में की जा सकती है।

समस्या ''आसन मारी पै आस न मारी'' की पूर्ति-

14. मुंड मुड़ाय कहा भयो, ''खान'' कहा भयो बांधे जरा सिर भारी।
तैसहि चीर रै गाये कहर भयो, अंग भूत कहा भयोधारी
मौन धरै जवै माला कहा व कहा धूनी लगांये भयो अधिकारी।
वादि गयो धरो जोग अनारी, सो आसन भारी पै आस न भारी।

इस पद में कविवर खान निर्गुण पंथी कवि कबीर की भाँति उन बनावटी वेशधारी भक्तों को फटकारते दृष्टिगोचर होते हैं जो साधु, तपस्वी, भोगी एवं योगी होने का केवल दिखावा करते हैं।

15 सन्तत समृति सम्पति प्रेम में, पागें रहैं कलि के अविचारी।
स्वारथ देख विजारत आनहि, भूल न ध्यावै प्रभु सुधकारी ।।
''खान'' कहां करतूत कहै, अस कूढ़न की जग में जो निहारी।
चेते न आज लौ बीच में आय कै, आसन भारी पै आसन न भारी

(अप्रकाशित)

इस पद में मूर्ख मनुष्य को चेतावनी देता हुआ कवि कहता है कि हे मनुष्य तू इस संसार में जन्म लेकर व्यर्थ ही संसार, संपत्ति, आदि के भूमण्डल में उलझकर रह जाता है। तुझे यह ज्ञात है कि मृत्यु आकर दस्तक दे रही है फिर भी तू सांसारिक मायामोह को त्याग नहीं पाता है।

समस्या ''लगायबो'' की पूर्ति -

16. जान कै अजान होत, वाम पूत मातु बन्धु अन्त काल काम के न, वाद है भ्रमायषो।

छोड़ काम धर्म के, अधर्म में पगाय हाथ रात घौस सूझे तोह, पाप को कमायवो ।।

कोऊ आज कोऊ आज कोऊ काल, काल के अधीन होत, त्यौ ही मूंढ़ एक रोज, विश्व सों है जायवो।

देह है असार एक, सार सों विचार ''खान'' सत्य दीन बन्धु संग नेह को लगायतो ।।

प्रस्तुत पद भक्ति परक पद है। प्रभु दीनबंधु से स्नेह जोड़ने की बात इस पद में की गई है। हे मनुष्य जानकर भी अन्जान क्यों बना है। तू यह भली भाँति जानता है कि एक दिन सभी को संसार छोड़कर जाता है।

17. बीच में बैठियों पावक के, बस वारि में ग्राह सों वैर ढायवो।
ज्यों मृगराज के जाय परै मुख, पन्नग पोस के छोर पिलायवो ।।
''खानजू'' और बतावे कहा लग, आँखन देखत नाही को खायवो।
त्यौ दुखड़ा वहु लोकन में, परनाइन सों दिन प्रेम लगायवो।

(अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में कविवर खान का नीति परक पद है। कवि कहता है कि,

आग की गोद में बैठना, पानी में रहकर मगर से बैर करना, सिंह के मुख के सम्मुख जाना, नाग को दूध पिलाना, आँखों से देखकर मक्खी का भक्षण करना और परनारी से स्नेह बंधन जोड़ना ये सभी त्रासदायी होते हैं।

समस्या ''प्रानी'' की पूर्ति-

18. प्रानी जग जेते रचे, प्रभु एक थल के मांहि।
तिनमें तन नर वर दियो, बुधि बल सों अवगाहि ।।
बुधि बल सों अवगाह, अमित रसना गुन भारी।
त्यौं ही सुमति विचार, यहां मुद मंगलकारी ।।
''खान'' गनत यश जान, न मानत से विज्ञानी।
वे पशु समनित, चरत मरत मर तनु धर प्रानी ।।

(अप्रकाशित)

कविवर खान का वह पद भी नीति से संबंधित है। जो मनुष्य होकर भी मानवता से जीवन यापन नहीं करता है और जीवन भर अपनी अज्ञानता का परिचय देता रहता है। वास्तव में मानव जीवन सभी प्राणियों में श्रेष्ठ माना गया है।

19. केतक मारिवै सिंहन के, फिरै शूर गरूर भरे अभिमानी।
त्यौं करि,. कुंभ विदारवे को, कितै ठोकत ताल करै मरदानी ।।
''खान'' लखे बलवान किते, बलवान पछारत है प्रणढानी।
पै दलवै कुसुमाधर के, अविलोके कहूं विरले जाप्रानी ।।

(अप्रकाशित)

कविवर खान प्रस्तुत पद में शिक्षात्मक ढंग से कहते हैं भले ही शेर से लड़ने को, हाथी को पछाड़ने को और शूरवीरों को दमन करने को अनेक लोग ताल ठोकते हैं। परंतु ऐसे बिरले ही होते हैं जो प्रेमयुद्ध में विजय का दावा कर सकते हैं।

20. चंचलता लख जाय हुरें, सफरी जलबीच अती घबरानी ।
''खानजू'' त्यौहि कुरंजन की अवली बन माझँ फिरै सकुचानी ।।
औ मनोरंजन खंजन की, अविलोकत वीर मती अकुलानी ।
तेरे विलेचन की सुरमां सन्, केते विहाल भये जग प्रानी ।।

(अप्रकाशित)

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि अद्वितीय सौंदर्य की चर्चा करता हुआ कहता है कि इस सौंदर्य ने अनेक लोगों को बेहाल कर दिया है ।

समस्या ''मन जाय सको न इतै न उतै'' की पूर्ति-

21. मनि मौन में संग सहेलिन के, अलबेली नबेली विराजेनितै ।
अति आनंद सो दिन सोच सकोच के, खेलती खेल सुझावै नितै ।
दिन एक अचानक आयोपिया तऊ लाज करी नहिं ''खान'' चितै ।
पँस आपुने राग ही मै वा रही, मन जाप सको न इतै न उतै ।।

(अप्रकाशित)

प्रस्तुत सवैया में कवि ने प्रेम की दीवानगी और अंधेपन का जिक्र किया है । वास्तव में प्रेम के प्रबल वेग में लज्जा की अनुभूति के लिए तनिक भी गुंजाइश नहीं होती ।

22. शिशु ताई विती सब खेलन में, कवि ''खान'' सो धूमौ कितौ और तितै ।
तखनाई के आवत वैरन के दल, बीच परै लगै आय नितै
तन हीन भयो जबहीं तबहीं, करनी लखै नाथ भयो दुचितै ।
हहा । तौ लग मीच ने कंठ धरो, मत जाय सकोन इतै न उतै ।। (अप्रकाशित)

प्रस्तुत सवैया में कवि मनुष्य की बाल्यावस्था, यौवनावस्था एवं वृद्धावस्था की चर्चा करता हुआ इन सभी अवस्थाओं में बाल्यावस्था को ही सर्वश्रेष्ठ ठहराता है जिसमें स्वच्छंद विचरण की स्वतंत्रता होती है ।

समस्या- "लाज को जहाज आज बूढ़नि चहत है" की पूर्ति -

देख धमासान घोर, जुह को अथोर चहुं, कठिन कृपान चलै रूधिर बहत है।
लाल लाल लोचन तें एकन ते झरें ज्वाल, एकन के होय धीर नेकु ना रहत है ।।
खानजू प्रचंद विखंड कोऊ कोंपे तहां कोऊ कर जोर यो निहोर सों कहत है।
दीना नाथ हाय मेरो, सागर समर बीच, लाल को जहाज आज बूढ़न चहत है ।।

(अप्रकाशित)

उपर्युक्त भक्ति परक छन्द में कविवर खान संसार सागर की चर्चा करते हुए कहते है कि इस संसार रूपी समुद्र में चहुं ओर युद्ध की स्थिति निर्मित हो गई है। हे प्रभु दीनानाथ आप ही इस युद्ध से मेरी ललक रूपी नौका को डूबने से बचा सकते हैं।

समस्या "मिलि चाँदनी में ललि न दिखरानी" की पूर्ति -

24. चन्द्रमुखी उर में सहजै कवि खान अनंग तरंग समानी।
भूषिन के सिगरे अंग भूषन, सुन्दर मोतिन हार अमानी ।।
त्यौं पर सेत ढुकूल अमूल, सुप्रीतम के नव प्रेम पगानी ।।
साज सुराज चली मिलवै, मिलि चांदनी में ललि न दिखरानी ।।

(अप्रकाशित)

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने चन्द्रमा की सुंदर चाँदनी की तुलना प्रेमी और प्रियसी से की है जिस प्रकार चन्द्रमुखी नायिका अपने समस्त अंगों में आभूषण पहिनकर अपने प्रियतम के प्रेम में डूबी जाती है उसी प्रकार चन्द्रमा से चाँदनी निकलकर एकाकार हो जाती है।

25. कंचुली सेतलरी कटि किकंणि सेत कसी महारानी।
त्यों मुकतान की माँग बनाय के, चंदन को छिरको तमपानी।
हेल के मौन चली गज गामिनी, संग बसलि के अतिस्यानी।
दूसरी चाँदनी सी छटकी, मिलि चाँदनी में ललिन दिखरानी ।।(अप्रकाशित)

उपर्युक्त पंक्तियों में श्रृंगारयुक्त नारी का चित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है नायिका महारानी का रूप धारण कर वस्त्राभूषणों से सुसज्जित होकर कमर में करधनी, माँग में मोतियों की माला और सुगंधित चंदन का सुगंधित जल अंग प्रत्यंगों पर छिड़ककर जलगामिनी चाल से चाँदनी रात में निकल पड़ी है और महारानी का श्वेत वर्ण श्रृंगार और उसकी उज्जवलता चाँदनी के रंग में मिलकर एक हो गई है ।

समस्या ''आयो री हिमन्त पर, कन्त नहिं आयोरी'' की पूर्ति -

26. वारिज विनासनी सो, चलै लगी सीरी पापु, चहुँ ओर ठौर ठौर,

शीत भी न छापोरी

त्यौही सविता की लीरी, लगन भरी चै खान, चाँदनी सो धाम

शीत लावो अधिकापोरी ।।

दिन दिन दिन भान, घटत बढ़त रैन, मैन सरसाप त्यौंही चैन को

घटायोरी ।

दुख सरसन्त शीत, वन्त ये अनन्त मोहि, आयोरी हिमन्त पर

कन्त नहीं आयोरी । (अप्रकाशित)

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि नें हेमन्त ऋृतु के आगमन का जिक्र करता हुआ कहता है कि शीत ऋृतु में शीतल वायु का संचरण होने लगा है और सूर्य का ताप भी चाँदनी की भाँति शीतल हो गया है और हेमन्त ऋृतु के आ जाने परी भी वियोगिनी का प्रियतम नहीं आता ।

समस्या - ''साँवरे के छवि जाल पैसे, मन मीन व चापलो काम न थोरो'' की पूर्ति-

27. ज्ञान अलीम पयोनिधि पौ, गहरो डबलाज को अम्बु अथोरो ।

चंचलता की तरंगे घनी, अद मौर सों है मुसकायबो तोरो ।।

भूला कहा यह जान के वावरी खानजू के कहवो सुन मोरो ।

सांवरे के छवि जाल फसे, मन मीन बचाव वो काम न थोरो ।।

(अप्रकाशित)

उपर्युक्त पंक्तियों में समस्यापूर्ति के अंदाज में कविवर खान वियोगिनी नायिका की विरह दशा का चित्रण प्रस्तुत करते हुए कि वावरी नायिका अपने प्रियतम के वियोग में दुखी है और कह रही है कि मेरा सांवरिया पता नहीं कहाँ किसके प्रेमजाल में फँस गया है । यहाँ मेरी मनरूपी मछली के प्राणों को बचाने के लाले पड़ रहे हैं ।

(2) ऋतु वर्णन :

1. शरद वर्णन-

28. ओस सों सिंचानी सारी, अवनी प्रथम तापै, चन्द्रिका उलास
मानों, परस विद्वापो है ।
आँगन तड़ाग वापी, वने है वितान कुंज, पावड़ो परैन पत्र अमित सुधायो है ।
सिपाही सरोज सोहे, कौन के विरदवारे, गूंज गूंज वाजो शुभ भौरन बजायो है ।
चोपदार चातक सु. गावै यश देखयो चढ़, चावलों शरद भूप,
पावस पै आयो है ।।   (अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में कविवर खान ने पावस ॠतु के पश्चात् शरद के आगमन का दृश्य प्रस्तुत किया है । शरद ॠतु के आगमन से प्रकृति जो जो परिवर्तन हो रहे हैं उनका यर्थाथ परमचित्रण कवि ने प्रस्तुत किया है ।

29. चहुं ओर अटा पर शारद चन्द की, सुन्दर चन्द्रिमा छाय रही ।
तिमि शीत समीर सुगन्ध सनी, सरलीख्ह सो सरसाय रहीं ।।
सुषमां अति उज्जवल जोंम की जों, कवि "खान" धनी दरसाए रही ।
तहां बैठी वियोगिनी लाज भरी, अंचरा असुओं सो मिलाय रही ।।

(अप्रकाशित)

इस उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने शरद ॠतु की सौंदर्य से परिपूर्ण रात्रि का चित्रण किया है। कवि कहता है शरद रात्रि में वियोगिनी अपने प्रियतम के अभाव में लज्जायुक्त भाव से बैठकर आँसुओं से अपना अंचल भिगो रही है।

30. छाई ओज सरोज सर, सरिता तरल तरंग।
चन्द्र चन्द्रिका कुंज वन, चन्द्रमुखी नव अंग ॥
चन्द्रमुखी नव अंग, पंचशर पै मन रंजन।
त्यौही चमेलिन कुन्द, कोस अवली वर खंजन।
लसत "खान" चहुं ओर, कहां तक देहु गिनाई।
जल थल अम्बर मांझ, शरद सुबला अति छाई ॥

प्रस्तुत पद में कविवर खान ने शरद ॠतु के वैभव का चित्रण किया है। शरद ॠतु की उज्जवल आभा पाताल, पृथ्वी एवं आकाश तीनों लोगों पर आच्छादित दृष्टिगोचर हो रही है।

31. पङ्कसन दादुर कटक, आपुधि वारिद गाज।
"खान" धरत पग शरद के दिन सो पार्प रास ॥ (अप्रकाशित)

कविवर खान का कथन है कि शरद ऋतु के आगमन से पावस ऋतु का वैभव विनष्ट प्राय हो चुका है।

32. धीर धरो कैसो अलि, रही पीर सरसाय।
अवधि विगत खंजन मिले, शरद बाल सों आप ॥ अप्रकाशित।

प्रस्तुत पद में कवि ने वियोगिनी नायिका की संगति शरद ऋतु से बिदाई है। शरद ऋतु के आगमन से वियोगिनी प्रियतम के अभाव में दुखी है।

33. गरज गरज ज्यौं महि मिले, अप्तहि जल्द अनन्त।
त्यौ दलहै खलपर दरप, कहत 'खान' वुधिवन्त ॥ (अप्रकाशित)

कवि का कथन है कि बादल गरज-गरज कर वर्षा ऋतु में बरसे और समूह मे समाहित हो गए। जैसे शरद ऋतु ने पावस ऋतु के घमंड को चूर-चूर कर दिया है।

34. चहुं गूंज कै मौर सजावन खंजन, 'खानजू' बोल सुनाकर मो।
अरविन्द बैठ मकिन्द घने, सुध लूटै संयोग दिखाकर मो।
मुखसों नहिं जात बखानी पिया, दिन जैसो कटे दुख आकर मो।
सजनी छिपौ कौन की छांह निसा, हिय आप विहारै छपाकर मो।।

(अप्रकाशित)

शरद ऋतु में बाग बगीचों और फूलों पर भौरे मंडरा रहे हैं। चारों दिशायें संयोगावस्था से सुसज्जित हैं और ऐसे में वियोगिनी किसी प्रकार दिन तो गुजार लेती है पर रात उसे प्रियतम के बिना त्रासदायी लगती है।

35. नहिं पंडूख धूल रही अवनी, जल आपहिं सो कस्सान लगो।
बिछुरै जैह जेते हते सो मिले हा हा। खंजन हूं हरसान लगो।।
पर खान जू पाती हूँ आई न कौन, कहो दुख जो सरसान लगो।
अब कंत बिना अलि अन्त शरीर को, साज चहुँ दरसान लगो।।

(अप्रकाशित)

उपर्युक्त पंक्तियों में कविवर खान ने शरद ऋतु के आगमन का दृश्य प्रस्तुत करते हुए कहा है कि पृथ्वी पर अब कभी भी धूल एवं कीचड़ के अवशेष नही है। प्रकृति चारों ओर से सुहावनी लग रही है लेकिन वियोगिनी अपने प्रियतम के विछोह में दुखी होकर किसी भी तरह प्राण एवं शरीर की रक्षा करने में अपने आपको असमर्थ पा रही है।

36. देख धरा मण्डल पै, पावस प्रचण्ड पाप, सीमा अधिकानीजान,
दरपविदारो है।
पंक न दिखावै सहि, वारिद दिलाने नम, दादुर पराने तिमि, कोकिल कतारो है।

तारन समेत चन्द, गगन स्वच्छन्द डोले, दीन्ही सुख खान और, खेजन
अपारो है ।

देत हौं असीस यासों, रावरे शरद भूप, सीपो चिर फैले जग सुजल तिहारो है।

इस पद में कवि ने शरद को राजा के रूप में प्रस्तुत किया है । जिस प्रकार राजा अपने राज्य का विस्तार करता है वैसे ही शरद ॠतु में शरदराज का राजप मण्डल में चारों तरफ सरसा रहा है ।

37. दिनसे दल दंस पतंगन के, चहुं जीव महा मन पैन करे ।

मंहु शीत न ग्रीष्म पावस की, अधिकाई सो खानजू देख परै ।।

बिन चन्द हू आछो उजेरो रहै, औ पसूनन सों मकरन्द झरै ।

सुध दायक शारद काल यहै जगनाथ कमूं नहिं अन्त धरै ।। (अप्रकाशित)

यह शरद ऋतु अत्यंत सुखदायिनी है इसलिए इसका वैभव कभी समाप्त न हो ऐसी कामना उपर्युक्त पद में की गई है ।

(2) हेमन्त ऋतु-

39. बासर घटानी हदद रैन अधिकानी त्यौंही, पीर सरसानी मैन, देख किन
लीजैना ।

अनिला सिरानी अंगु भावक दिनेश त्यौंही, अमित बढ़ानी सीत, सोई
दीजैना ।

मेखे कसाले ताके, कीजै उपचार कछू, छोर कै अकेली यो, अनीति केत
कीजै ना ।

एहौ प्रान प्यारे कर, जोर यौ निहोर कहाँ आवत हिमन्त अन्त अवै पग
दीजै ना ।। (अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में कविवर खान ने हेमन्त ॠतु के वैभव का चित्रण किया है। इस ॠतु में दिन घटने लगे हैं और रातें बढ़ गई हैं। चारों ओर शीत का साम्राज्य फैला है। पृथ्वी पर कहीं भी हेमनत का अन्त नहीं दृष्टिगोचर हो रहा है।

40. नहिं ठहरै युग याग की ठौर पै, टाक्र की चाल रसातल जात।
सुवेग सों चारू हिमन्त की बीच, हिमाकर सो अति शीतल जात ।।
सिरानी मरीचें प्रभाकर की इमि, ताहु सों कौतुक मौ जल जात।
कहे तिन को प्रभुदायवों कौन, सरोवर हू में खरे गलजात ।। (अप्रकाशित)

कवि खान ने प्रस्तुत पद में शीत ऋतु की अत्यंत कष्टदायी शीतलता का वर्णन किया है। शीत ऋतु में अंग-प्रत्यंग जैसे जले जा रहे हैं।

41. पहिले कर प्रीतअरी सजनी, वर जोरी लगा कुल दाग गये।
कवि ''खानजू'' वेगहिं आवहिगे, कहि ऐसी बढ़ा अनुराग गये।
अब पावस शरद बीत गई,और हिमन्त के दिन लाग गये
पर ना अब लौं अलि प्रीतम आये, तो फूट हमारे ही भाग गये ।।

(अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में कवि पावस और शरद ॠतु के वीतने की चर्चा करता हुआ शीतल हेमन्त ॠतु की चर्चा करता है और कहता है कि वियोगिनी की प्रतीक्षा इस शीत ऋतु में बढ़ती जा रही है।

42. मोहन को हमरी सजनी, जब नेक अरी सुधि आवत हू है।
औ दिन रैन में जौन घरी, मलो मैन धनो उमगावत हू है।
त्यौं कवि खान जू आय हिमन्त की, सीरी समीर सतावत हू है।
कूवरी सौत तठौ उन को, गह प्रेम सों अंक लगावत हू है ।।अप्रकाशित।

उपर्युक्त पंक्तियों में राधिका के अनुराग की कृष्ण के प्रति चर्चा की गई है। राधिका कहती है कि हे सखी जब मोहन को मेरी सुति आती होगी और कामाग्नि

के बढ़ने पर वे कूबरी को प्रेम सहित गले लगा लेते होंगे। इस पद में कवि ने प्रेमाभाव की ईर्ष्या का सफलता पूर्वक चित्रण किया है।

(3) शिशिर वर्णन-

43. कोऊ मखतूल कोऊ, शाल औ दुशाला ओढ़, तोसक गढेला,
यकोऊ गाले भरे आते हैं
कोऊ लपटाने रहे, दावा के नवल अंग, तापस अंगीठी कोऊ,
बैठके निराले हैं।
खान कवि देखे केते, खाय के मसाले हाने, कोटि उपचारकर,
मेरे दांव पाले हैं।
धन्य उन नर जों, पानी पैठ वस्त्रहीन, बैठ खुले ठौरन में, सहत कसाले हैं।।

कवि शिशिर ऋतु की सम्पन्नता की चर्चा कर कहता है कि इस संसार में वैसे तो लोग विविध प्रकार से अपने लिए शीत का बचाव करते हैं, लेकिन वे पुरुष विरले से होते हैं जो पानी के मध्य बैठकर खुले स्थान में भी शीत से अपना बचाव कर लेते हैं।

44. तन कांपत लाज बनी उठ भोर ही, नम्बहिं बोल सुनाये लगी।
लख भीषम शीत को हों दिन हूं दिन, उधम संज सजाने लगी।।
अरू ताहु पै जारत आराहती ठिग, तुहि बिथा अधिकाने लगी।
क्यों बाई जू क्यों कह फेर कहू, मुलकाने लगी सकुचाने लगी।

(अप्रकाशित)

प्रस्तुत पंक्तियों में एक लज्जाशील नारी के द्वारा शीत ऋतु की रात्रि का वर्णन कराया गया है।

45. शीत कसाले के मेखे, मौन, तको जहाँ पौन को गोन न हौवे।
उषम चारह दुकलन लों, तहाँ गोद मयी सुचि सेज संजोवै।।

केल किलोलन की अमिलाषा में, एक घरी सगलाख वितो वै ।

यौं नवला पिय खान मिलै कहं, वरहि वेर ही दारहिं जावै ।

प्रस्तुत पद में कविवर खान ने शिशिर ऋतु के वर्णन के अंतर्गत संयोगावस्था का सफलापूर्वक चित्रण किया है ।

46. खानजू सनन्द राखे, सन्नत वसन्त काल,ग्रीषम निदाध दूर,
छाहे पै कराई है ।
पावस न दीन्हों दुख, वरसों अचोर जऊ, मोद लों शरद त्योंही
बीतों चहुँ थाई है ।।
कछुक हिमन्त साँचो, केतन सताओ कहूं, शिशिर अपारपर,
भीत सरसाई है ।
हाय, रैन वैरिन ये, सीत को समेट पल, लमौ पाय
दीनन पै, करत चढ़ाई हे ।।

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि का कथन है कि पावस, बसन्त, ग्रीष्म और हेमन्त ऋतुएँ तो किसी प्रकार गुजर जाती हैं, लेकिन शिशिर की अतिशय शीतलता गरीबों एवं दीनों को अत्यंत कष्टदायी होती है ।

47. कुंज थली रस पुंज की खानजू, पावस में बढ़ती छवि पाई ।
देख के हौं सरसाई हिमन्त लौं, सींच सदा अरू और बढ़ाई ।।
हाय सों पाले के पाले परै, अंग अंगन सों सिगरी मुरझाई ।
शिशिर कैसे कठोर छिपो तुवु नासतता हिदया नहिं आई ।

(अप्रकाशित)

कवि कहता है पावस और हेमन्त ऋतु निश्चित तौर पर दया का भाव होता है किंतु शिशिर ऋतु बड़ी निदर्ययी होती है ।

48. परदा मखतूलन के चहूं डारत, मांझ सों आग घनी दहती ।
तिमि तोशक और दुशालन आलन, ओढ़त रोज मनै चहती ।।

तलकौ तऊ शिशिर सो परयंक, परी सिगरी निशि हू कहती ।

नहिं ठानती रारि जुपै अलि हा । दुख दारून तो किमि ये सहती । (अप्रकाशित)

शीत ऋतु के कष्टदायी स्वरूप का दृश्य वर्णन इस पद से किया गया है। कितने भी वस्त्रयों से शरीर को क्यों न ढक लिया जाए किंतु शीत ऋतु की शीतलता घटती नहीं है। शीत ऋतु तो मानों मनुष्यों के साथ युद्ध सा ठान लेती है।

(3) चाँदनी वर्णन -

49. सर पै सरोजन पै, नवला उरोजन पै, कमला ओजन पै

अमित फरद की ।

भानुजा सुकूलन पै, ओढ़नी दुकूलन पै, विविध सुकूलन पै

रहित गरद की ॥

रागन पै पागन पै, खान अनुरागन पै, की पै विरहागन पै

रंगत करद की ।

पारद सी दर्पन सी, बगरी वरफ सी है, कैधों अवरक सीये,

चाँदनी शरद सी । (अप्रकाशित)

प्रस्तुत पद में कविवर खान की शरद ऋतु की रात्रि के चंद्रमा की चाँदनी के वैभव का चित्रण अनुप्रास अलंकार से संगति वैठाकर सफलतापूर्वक करते हैं। सहज ही इस पद में कवि पद्माकर का स्मरण हो आता है।

50. सारी लसै नभ नील सी सुन्दर, तारन की दुति मोतिन माला ।

सोहत चन्द अमन्द सो आनय, कुन्द कली सग दन्त पियाला ।

रूप अनूप दिपै तन पै, छिति फैल रहयौ जिमि चन्द उजाला ।

खान जू दीन चुकी सुधमा, ऋृतु शारद रैन कीये नब वाला ॥

(अप्रकाशित)

उपर्युक्त पंक्तियों में कविवर खान ने शरद ऋतु की चाँदनी की अज्जवलता की चर्चा की है। शरद ऋतु की रात्रि में प्रकृति रूपी वाला सौंदर्य से सुसज्जित दृष्टिगोचर हो रही है। कवि ने शरद ऋतु की रात्रि में बसुन्धरा पर बिखरी चाँदनी रूपी सुन्दरी से संगति बिठाने पर अत्यंत सफलता हासिल की है।

समीक्षा -

श्रृंगारिकता-

श्रृंगारिकता की प्रवृत्ति वस्तुतः जीवन के प्रति रागात्मक दृष्टिकोण का ही परिणाम है। कवि खान की रचनाओं में व्याप्त रीतिकालीन, श्रृंगारिकता जीवन के प्रति रागात्मक संबंधों की ही परिणति है। श्रृंगार रस के विभिन्न अंगों का सफल निर्वाह, मुंशी खैराती खाँ ''खान'' के काव्य में हुआ है। रूप चित्रण, नख शिख वर्णन, संयोग तथा वियोग दशाओं का चित्रण, ॠतुवर्णन, प्रकृति के विविध रूपों के चित्र आदि के सुन्दर चित्र आपने श्रृंगारान्तर्गत चित्रित किये हैं। वार्सव में कवि खान आधुनिक युग की वृजभाषा काव्य परम्परा के कवियों में प्रमुख स्थान के अधिकारी है। यह उनकी रचनाओं के अध्ययन से स्वतः सिद्ध हो जाता है। श्रृंगार उनके काव्य का मूल स्वर है। उनकी श्रृगारिक रचनाओं में रीतिकालीन कवियों की सी घोर श्रृंगारिकता भी विद्यमान है।

आपकी प्रारंभिक रचनाओं में सरसता है, मादकता है, मृदुलता है। भाव-भाषा, शैली पर रीतिकालीन प्रभाव स्पष्ट है। साथ ही रचनाओं में बुन्देली शब्दों का प्रयोग व अभिव्यक्ति की सरलता उल्लेखनीय है।

प्रकृति वर्णन-

प्रकृति को काव्य का विषय बनाते हुए कवि खान ने प्रकृति चित्रण के अंतर्गत शरद, शिशिर, हिमन्त आदि ॠतुओं के सुंदर चित्र अंकित किये हैं। चाँदनी

का भी सुंदर चित्रण किया है। कवि खान ने प्रकृति को आलंबन व उद्दीपन दोनों ही रूपों में चित्रित किया है। कवि ने प्रकृति की शीतलता, स्निग्धता, एवं उसका मनमापन वर्णन किया व श्रृंगारान्तर्गत उसके उद्दीपनात्मक स्वरूप को चित्रित किया। लेकिन इसके अतिरिक्त जो अधिक महत्वपूर्ण है, वह है सामान्य जनजीवन से प्रकृति के माध्यम से जुड़ना। शिशिर ऋतु का शीतल सुखद समय, रसिकों व धनिकों की श्रृंगारिक वृत्तियों को उद्वदीप्त करता है। तरह-तरह की सुख-सुविधायें, ऐशो-आराम, उपचार उन्हें सुलभ रहते हैं, लेकिन कवि अनायास इन सबसे दृष्टि हटा कर जनसामान्य के दुख दर्दों से दारतम्य स्थापित कर कहता है - ''धन्य उन नरन को, पानी पैठ वस्त्र हीन, बैठ खुले ठौरन में, सहत कसाले हैं।'' कवि की इस अभिव्यक्ति से जनकवि के रूप में प्रसिद्ध ''नजीर'' की स्मृति हो जाती है। कवि खान के प्रकृति चित्रण पर रीतिकालीन भाषा शैली भाषा भिधंजना का स्पष्ट प्रभाव पड़ा है तो नवयुग की प्रवृत्तियाँ भी प्रस्फुटित हुई है।

भक्ति भावना -

कवि ''खान'' का हृदय भक्ति भावना से ओत-प्रोत है। वे भारतीय मुसलमान हैं। हिन्दू संस्कृति, धर्म, धार्मिक महापुरूषों उनके लिए श्रद्धा व आस्था के विषम है। अनेक मुक्तकों में कवि ने कृष्ण के प्रति अपनी भक्ति भावना को प्रकट किया है तथा कृष्ण के मनोरम रूप को, उनके जीवन के कथाप्रसंगों को काव्य का माध्यम बनाया है। कृष्ण भक्ति के इन मुक्तकों में विषय की सरल स्वाभाविक प्रस्तुति कर माधुर्य और सरसता का सुन्दर समन्वय कवि ने किया है। भक्ति के क्षेत्र में वे पाखंड और आडबंरों का विरोध करते हैं। इस संबंध में ''कबीर'' उनके आदर्श हैं। कबीर के समान खान कवि ने बाहयाडम्बर को स्थान नहीं दिया है। राम नाम की माला फेरने या सिर मुड़ाने से भक्ति नहीं मिलती। सन्त कबीर के रूप, छाया, माला, तिलक का विरोध कर मन को पवित्र करने का सन्देश दिया है। कवि खान की इसी विचार धारा

के पोषक कवि है। वे भारतीय भक्ति परंपरा का निर्वाह करते हुए ईश्वर के प्रति गहरी आस्था व्यक्त करते हैं- ''देह है असार एक सार सो विचार ''खान'' सत्य दीन बंधु संग नंद को लगायतो।'' वस्तुतः उनकी भक्ति रचनाओं में भक्त की सरल सुकोलमल भावनाओं की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है।

नीति एवं आदर्श -

कवि ने नीति एवं आदर्श संबंधी मुक्तकों के अंतर्गत उन्हीं विषयों को लिया है, जो भारतीय चिंतनधारा एवं व्यवहारिक जीवन से संबंध है। नीति एवं आदर्श द्विवेदी युगीन कवियों का प्रमुख प्रतिपाद्यथा। कवि स्थान युगीन चिंतन धारा से जुड़े हुए कवि थे। युगीन परिस्थितियों और आवश्यकताओं को वे महसूस करते हैं। साम्प्रदायिक भेदभावों से परे तो वे थे ही, समानता के भी पक्षपाती थे। उनका दृष्टिकोण आदर्शवादी है। वे कहते हैं -

''सन्तति एक पिता की तऊँ करवै जात कु जाति गुरूलघुता की ।।''

= = =

देत प्रभा इक सी सब ठौर जपौ देख चहूंप्रभुता सविता की ।।

उनकी नीति संबंधी उक्तियों में उपदेशात्मकता नहीं है, अपितु सहज भाव से हृदय को छू लेने का गुण है। वे बड़ी स्वाधार्मिकता से अपनी बात कह देते हैं। उनकी नीति संबंधी उक्तियौं की सरसता से परिपूर्ण है। ''जान के अजान होत, दाम पूत मातु बंधु, अन्त काल काक के न, बाद है म्रगापलो।'' ऐसी पंक्तियाँ कवि के भारतीय जीवन दर्शन से गहरे संबंधों की भी द्योतक हैं।

भारतीयता -

कवि अपने विचारों व अभिव्यक्ति शैली में पूर्णतः भारतीय है। मुसलमान होते हुए भी हिन्दू धर्म, त्यौहार, धार्मिक महापुरुषों के प्रति जो गहन श्रद्धा प्रकट की है

वह ''हिन्दू, मुस्लिम, सद्भाव'' के लिए निश्चित ही महत्वपूर्ण है।

कवि मीर की तरह आप भी राष्ट्र और राष्ट्रीयता से सम्बद्ध थे। ''भारतेन्दु'' की तरह ''कवि खान'' भी देश की दुर्दशा पर व्यथित है। डॉ. बृजभूषण सिंह आदर्श लिखते हैं ''देवरी के खैराती खान की कविताओं में भारतीयता का चमकदार रंग मिलता है।'' देवरी में रहते हुए भी वे देश व समाज के लिए चिंतित हैं ''आलस में परो भारत, भालै रमा हूं विदेशन ही को।''[91]

कवि खान की मुक्तक रचनाओं के ये विविध कार्य विषय उनके रचनाकौशल की अभिरामता के परिचायक हैं और राष्ट्र और राष्ट्रीयता से जुड़े व्यक्ति रूप के भी। शैलेश वैदी लिखते हैं ''कवि यदि भारतीय है तो उसकी रचना में भारतीय आत्मा की ध्वनि भी मिलनी चाहिए।[92] इसके अनुसार खान की आत्मा भारतीय ही है। भाषा, भाव विचार मान्यता प्रत्येक क्षेत्र में उनका दृष्टिकोण भारतीय आदर्शों और परम्परा के अनुमूल हैं। उनके विषयों में, शैली में हिन्दुत्व के ही दर्शन होते हैं जो निश्चित ही महत्वपूर्ण हैं। ''नजीर'' की तरह जनसामान्य से भी वे जुड़े हुए हैं।

कृष्ण भक्ति का समाज और साहित्य पर अद्वितीय प्रभाव पड़ा है। ''मध्ययुग से आज तक कृष्ण संकीर्तन की मधुर ध्वनि प्रात: सायं वैष्णव भक्ति के मंदिरों में समूचे भारत में गुजरित होती रही है। इस धारा के ही पुन्य प्रताप से रसखान, रहीम जैसे विधर्मी कवि कृष्ण की विमल माधुरी पर मुग्ध होकर आनंद से नाच उठे।[93] इन्हीं की परम्परान्तर्गत देवरी के सैयद अमीर अली ''मीर'' तथा मुंशी खैराती खाँ ''खान'' के नाम उनके समीप हैं। प्रकृति तथा श्रृंगारिक वर्णनों में वे पूर्णत: रीतिकालीन भाषा विभंजना से प्रभावित हैं। द्विवेदी युगीन सामाजिक सुधार की भावना आदर्श और नैतिकता का सुन्दर सामंजस्य की आपकी रचनाओं में हुआ है।

कवि खान के काव्य के श्रृंगार और भक्ति रूप की धारा का प्रवाह है तो नीति, आदर्श, राष्ट्रीयता के स्वर की मुखरित हुए हैं।

काव्य शैली एवं भाषा -

कवि खान ने रीतिकालीन मुक्त शैली की काव्य रचना का माध्यम बनाया है। मुक्तक रचना करते हुए दुर्मिल, मनहर, आजातु भक्तगण, दोहा, कुन्डलियाँ, सवैया आदि छन्दों का प्रयोग किया है। कवि खान के काव्य में छन्दों की विवधता उनके पिंगला शास्त्र संबंधी अध्ययन की परिचायक है। समस्यापूर्ति के अंतर्गत उक्ति वैविन्य, चमत्कार, आशुकविता, अलंकार योजना तथा छंद योजना आदि विशेषताएँ उल्लेखनीय है। आपकी रचनाओं में रीतिकालीन काव्यव्यंजना व सरस कोनलकान्त पदावली का निखारा हुआ रूप देखने को मिलता है। रस, छंद, अलंकार की इनके काव्य में सुंदर योजना है। काव्य भाषा शुद्ध बृज है, जिसके यत्रन्तत्र बुन्देली शब्दों का भी प्रयोग हुआ है। भाषा, सरस, सुमधुर, कोमल, तथा सरल तथा स्वाभाविकता से सम्पन्न है। वे भावानुकूल भाषा का प्रयोग करने के सक्षम है।

निष्कर्ष -

''कवि खान'' का निधन 28 वर्ष की आयु में ही हो गया था, लेकिन तब तक वे मीर मंडल कवि समाज के अनुपमरत्न के रूप में मध्यप्रान्त के कवियों में अपना स्थान निर्धारित कर चुके थे।

कवि खान ने मीर मंडल कवि समाज की गतिविधियों में सदैव उत्साह और उल्लास के साथ किया। उन्होंने मीर मंडल की प्रसिद्धि का चरमोत्कर्ष देखा है। सन् 1907 के आसपास आपका स्वर्गवास हुआ। और उसके बाद '''मीर साहब' को राजनैतिक कारणों से देवरी छोड़नी पड़ी, ''प्रेमीजी'' बम्बई चले गये और ''मीर मंडल'' कवि समाज भी विखरता चला गया। प्रचार तथा प्रसार की असुविधा, सीमित साधनों, आर्थिक समस्याओं के कारण मीर मंडल के कवियों की रचनाएं संग्रहित रूप से प्रकाशित न हो सकी। स्थानीय सहयोग के अभाव में इनका अधिकांश साहित्य यहाँ-वहां पड़ा है अथवा नष्ट हो गया है।

कवि खान हिन्दी के मुसलमान कवियों की परम्परा के आधुनिक युगीन कवि हैं। भारतीयता उनके काव्य की आत्मा है। रीतिकालीन प्रवृत्तियों से प्रेरित तथा द्विवेदी युगीन प्रवृत्तियों से संपन्न उनकी रचनायें उनकी प्रतिभा सम्पन्नता व भावप्रवणता की घोतक हैं। परिमार्जित, परिष्कृत भाषा-शैली, सरल भावनुकूल, छन्दोदन, काव्य प्रकाशन में योग देने वाली अलंकार योजना उनके काव्यातर्गत कला पक्ष की परिपुष्टि करती है।

''हिन्दी साहित्य के इतिहास में ही ऐसे कई मुसलमानों की गाथायें उल्लिखित हैं जिन्होंने हिन्दू और मुस्लिम संस्कृतियों को अनिर्वायत उपस्थित समन्वय वेला को देखा है समझा है और धर्म की उदात्त व्याख्या करके दोनों संस्कृतियों के बीच की दूरी पर समन्वय का पुल खड़ा किया है।'' ऐतिहासिक संदर्भों में भी उनका यह योगदान महान है। भारत निश्चित रूप से उनका ऋणी है और रहेगा।[94] इन कवियों में खुसरों, जायसी, कबीर, रहीम, रसखान आदि मुख्य है तो आधुनिक युग के प्रारंभिक चरणों में हिन्दी उर्दू विवाद एवं हिन्दू मुस्लिम संप्रदायों के बीच उनके भेदभावों में रहते, हिन्दी साहित्य की सेवा, हिन्दुत्व के प्रति आदर भाव, भाषा, भावशैली प्रत्येक दृष्टि से भारतीयता की अभिव्यक्ति आदि विशेषतायें उन्हें खुसरों, रहीम, रसखान, कबीर आदि की परम्परा से जोड़ती है। इसी श्रृंखला में कवि खैराती ''खान'' का नाम भी आदर के साथ परिगणित होना चाहिए।

संदर्भ सूची

(1) मुसलमानों की हिन्दी सेवा - डॉ. कमलधारी सिंह, पृ. 116

(2) प्रेम पराग- सं. विद्यासागर शर्मा, पृ. 12

(3) वही, पृ. 13

(4) वही, पृ. 16

(5) वहीं, पृ. 17

(6) वहीं, पृ. 18

(7) हेमलासत्ता - मुंशी अजमेरी, पृ. 48

(9) गोकुलदास - मुंशी अजमेरी, पृ. 15

(10) मुसलमानों की हिन्दी सेवा - डॉ. कमल धारीसिंह, पृ. 176

(11) मधुकरशाह - मुंशी अजमेरी, भूमिका पृ. 04

(12) म. प्र. के मुसलमान हिन्दी कवि- श्रीचन्द्र जैन, पृ. 28-29

(13) वही, पृ. 31

(14) वही, पृ. 33

(15) वही, पृ. 35

(16) वही, पृ. 37

(17) वही, पृ. 38

(18) वही, पृ. 39

(19) वही, पृ. 40

(20) सेंवढ़ा (दतिया) की डॉ. कामिनी से 'फलक' तथ्य और काव्य का संचयन

(21) पत्रिका- विंध्याशिक्षा (रीवॉ) वर्ष : 3 अंक 02 पृ. 80

(22) वही, पृ. 81

(23) वही, पृ. 81

(24) बिहारी-बिहार: बिहारी लाल, पृ. 26

(25) छतरपुर के श्री सईद बख्श ख्यायम से तथ्य ओर कथ्य प्राप्त

(26) हिन्दी साहित्य का इतिहास: सम्पा. : डॉ. नगेन्द्र: पृ. 511

(27) नक्षत्र: संपा.: त्यौहार राजेंद्रसिंह : पृ. 34

(28) 'ईसुरी' सम्पा.: डॉ. कांतिकुमार जैन, 1/83-84, खण्ड-एक: पृ. 13

(29) हिन्दी मिडिल स्कूल देवरी के दाखिल रजिस्टर के आधार पर

(30) सरस्वती (मासिक) हीरक जयंती विशेषांक, सं. : महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 803

(31) वे दिन: वे लोग: डॉ. विनय मोहन शर्मा: पृ. 23

(32) कविता-कौमुदी (द्वितीय भाग): सम्पा.: रामनरेश त्रिपाठी

(33) ईसुरी (2/84-85) सं.: कांतिकुमार जेन: पृ. 24

(34) पं. देवीदयाल चतुर्वेदी (धन्वंतरिनगर, जबलपुर) से दि. 27.7.92 को ली गयी, भेंटवार्ता।

(35) ईसुरी (1/83-84) सं.: कांतिकुमार जैन: खण्ड 1, पृ. 14

(36) 'प्रेमीजी की जन्मभूमि देवरी (लेख): पं. शिवसहाय चतुर्वेदी (प्रेमी अभिनंदन) ग्रंथ' पृ. 86

(37) कर्मवीर (20 जन. 1937) सम्पा.: पं. माखनलाल चतुर्वेदी

(38) वे दिन वे लोग: विनयमोहन शर्मा: पृ. 21

(39) वही: पृ. 28

(40) ईसुरी (85-86) संपा.: डॉ. कांतिकुमार जैन: पृ. 114

(41) सरस्वती (मासिक) जनवरी, 1915: संपा.: महावीर प्रसाद द्विवेदी: पृ. 62

(42) रसिक मित्र (मासिक) अक्टू., 1901, पृ. 6

(43) लक्ष्मी उपदेश लहरी (मासिक) नवं. दिसं. 1904: पृ. 23

(44) हितकारिणी (मासिक): जुलाई, 1911, पृ. 292

(45) वही:

(46) हितकारिणी (मासिक): जन.-फर. 1912: पृ. 212

(47) वही, पृ. 293

(48) वही: सितंबर 1914, पृ. 293

(49) वही: सितंबर 1914, पृ. 294

(50) वही: जनवरी 1916,

(51) वही :

(52) वही: अक्टू. नवं. 1914

(53) माधुरी: पाक्षिक: 14 दिसं. 1923, पृ. 627

(54) वही: पृ. 627

(55) महारथभ (मासिक) : मार्च 1928

(56) वही :

(57) नक्षत्र: सम्पा. त्यौहार राजेंद्रसिंह: पृ. 36

(58) वही :

(59) सरस्वती (मासिक): सम्पा. आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृ. 44

(60) वही: पृ. 41

(61) लक्ष्मीउपदेश लहरी (मासिक): नवं.-दिसं. 1904: पृ. 05

(62) वही: अक्टू. 1904, पृ. 10

(63) हितकारिणी (मासिक): दिसंबर, 1915: पृ. 372

(64) ईसुरी: सम्पा.: डॉ. कांतिकुमार जैन: 2/84-85, खंड-ऋपृ. 18

(65) समय के पाँव: माखनलाल चतुर्वेदी: पृ. 124

(66) लक्ष्मीउपदेश लहरी (अप्रेल-नवं. 1905) पृ. 27

(67) ईसुरी: संपाद. डॉ. कान्तिकुमार जैन 10/83-84: खण्ड-एक

(68) वही: 3/85-86: खण्ड एक: पृ. 17

(69) अन्यभाषा भाषियों द्वारा की गयी हिन्दी सेवा: पं. लोचनप्रसाद पाण्डे, (सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन जबलपुर: कार्य विवरण लेखमाला भाग - 2 : पृ. 3

(70) महाकौशल के साहित्यकार: ब्रजभूषणसिंह आदर्श: पृ. 54

(71) रामचरित मानस: तुलसीदास: पृ. 268 (बालकाण्ड)

(72) मध्ययुगीन हिन्दी के सूफी दूत (मुसलमान कवि: डॉ. उदयशंकर श्रीवास्तव: पृ. 418

(73) हितकारिणी (मासिक) दिसंबर, 1915: पृ. 368

(74) वे दिन: वे लोग- विनय मोहन शर्मा: पृ. 23

(75) हिन्दी साहित्य का इतिहास: डॉ. नगेन्द्र: पृ. 468

(76) ईसुरी, संपा.: डॉ. कान्तिकुमार जैन: 1/83-84, खंड क्तपृ. 16

(77) अन्य भाषा, भाषियों द्वारा की गयी हिन्दी सेवा लोचन प्रसाद पाण्डे (सप्तम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, जबलपुर: कार्यविवरण लेखमाला, दूसरा भाग, सं. 1974, पृ. 3-4)

(78) मीर साहब (लेख): पं. बनारसी दास चतुर्वेदी (ईसुरी, 2/84-85) से. : डॉ. कांतिकुमार जैन, खण्ड-क्तपृ. 21

(79) नक्षत्र: संपा. त्यौहार राजेंद्रसिंह, पृ. 34

(80) म.प्र. के हिन्दी साहित्य का इतिहास: कालिका प्रसाद खण्ड, पृ. 27

(81) महाकौशल के साहित्यकार: ब्रजभूषणसिंह आदर्श, पृ. 54

(82) वही: पृ. 60

(83) जलज अभिनंदन ग्रंथ: संपा.-लखनपाल गुप्त, उत्तमचन्द गोयल, पृ. 06

(84) ईसुरी-2/83-84 संपा. कांतिकुमार जैन: खण्ड-क्तपृ. 20

(85) बुन्देली काव्य परम्परा (द्वितीय भाग): डॉ. बलभद्र तिवारी: पृ. 37

(86) रसिक मित्र (टकटू. 1901) संपा.: मनोहरलाल मिश्र: पृ. 15

(87) वही: नवंबर, 1901: पृ. 21

(88) वही: फरवरी: 1902: पृ. 19

(89) वही: फरवरी, 1902: पृ. 34

(90) महाकौशल के साहित्यकार: ब्रजभूषणसिंह आदर्श: पृ. 60

(91) वही: पृ. 60

(92) हिन्दी के कतिपय मुसलमान कवि: शैलेश जैदी: पृ. 12

(93) हिन्दी साहित्य की परम्परा: प्रो. हंसराज अग्रवाल: पृ. 208

(94) रहीम की राष्ट्रीयता: कुँ. देवेन्द्र प्रतापसिंह सोलंकी: (भूमिका)
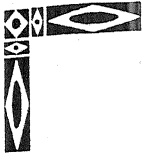
षष्ठम अध्याय

बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी कवि : बीसवीं शताब्दी

वजीर मुहम्मद	परिचय
सादिक अहमद 'सादिक'	काव्यग्रंथ
नसीर परवाज	समीक्षा
मायूस सागरी	
अन्य	
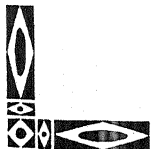
वजीर मोहम्मद

परिचय -

बुन्देलखंड के झांसी, ललितपुर, बांदा, हमीरपुर, छतरपुर, पन्ना, टीकमगढ़, सागर, दमोह, जिलों के ग्रामीण अंचलों में 'सबसे बज्जुर हैं छाती किसान की......' गारी गुनगुनाते हुए सहस्त्राधिक लोग मिल जायेगें। आकाशवाणी छतरपुर की स्थापना (सन् 1975) के बहुत पूर्व से यह गारी जन-जन का कण्ठहार बनी हुई थीं। लोकगीत गायकों द्वारा इसे गाये जाने और आकाशवाणी से प्रसारित होने के बाद इस 'गारी' की लोकप्रियता दुगुनी हो गयी। पर, विडम्बना यह कि, सुनने वाले, गायक को ही इस गारी का रचयिता मानते हैं और रेडियो स्टेशन पर ही इस गारी को गाकर यश लूटने वाले, स्वयं मूल कवि से अपरिचित होते हुए, स्वयं को उक्त गारी के रचनाकार के रूप में स्थापित होता हुआ देखकर आत्मसंतोष प्राप्त कर रहे हैं। यह सब देख सुन कर निश्चित ही इस गारी के मूल कवि वजीर मोहम्मद की रूह तड़पती होगी।

मस्तमौला किस्म के इंसान प्राय: अपने बारे में उदासीन रहते हैं। यही कारण है कि वजीर मोहम्मद की जन्म तिथि के पूर्व 'लगभग' शब्द लगाना पड़ रहा है। ऐसा माना जाता है कि इनका जन्म 'लगभग' सन 1900 में दतिया जिले के नदीगांव (जो वर्तमान में उ.प्र. के जालोन जिले के अतंर्गत है) में हुआ था। इनका कंठ अत्यधिक सुरीला था, इनमें गजब की काव्य प्रतिभा थी और ये अपनी पुस्तकों को स्वयं छपवाकर गा-गाकर बेचते थे। यही इनकी रोजी-रोटी का साधन था। जब

ये अपनी गारियाँ गाते हुए गलियों से निकलते थे, तब किवाड़ों की ओट में छुपकर खड़ी इनकी गारी सुनती हुई नवयुवतियां इनके गायन पर मोहित हो-हो जाती थीं। वजीर मोहम्मद की शिक्षा तो साधारण ही थी, पर ईश्वर प्रदत्त वरदान ऐसा था कि ये शीघ्र ही लोक कवि के रूप में स्थापित हो गये। छतरपुर में बस गये दतिया निवासी वयोवृद्ध साहित्यकार- 'विंध्यकोकिल' भैया लाल व्यास के अनुसार वजीर मोहम्मद का परिचय इस प्रकार हैं - ''सफल नक्काल और नृत्यकार, सदैव हँसमुख और विन्नम छोटा कद, हँसती सी आंखे, सिर पर एक काली किश्तीदार टोपी, मलमल का कुर्त्ता ओर चूड़ीदार पायजामा, पैरों में धूल भरी देशी जूतियां, हाथ में एक छोटी लकड़ी, गहरा गेहुआँ रंग, गोल चेहरा और धर्म संबंधी मान्यताओं में उदार।''[1]

ऐसा संयोग इस धरा पर कभी-कभी और किसी-किसी के साथ होता है जब दो महान विभूतियाँ एक साथ अवतरित हों ओर एक साथ ही उनका अवसान हो। देश के भाग्यविधांता किसान की राजनीति के सिंहासन से प्रथम बार जयकार करने वाले लाल बहादुर शास्त्री का जन्म युग-पुरुष महात्मा गांधी के साथ हुआ , यह एक संयोग था। हिन्दी-साहित्य-सेवी माँ भारती के वरद-सुत और किसान की व्यथा को काव्य-स्वर देने वाले कवि वजीर मोहम्मद का निधन पूज्य बापू के साथ हुआ - (30 जनवरी 1948 को) यह भी एक संयोग था। लगभग 48 वर्ष की छोटी सी अवस्था में ही कवि दुनिया से चला गया।

वजीर मोहम्मद के समय दतिया की राजगद्दी पर महाराज गोविंद सिंह आसीन थे (सन 1907 से 1957)। ये जीवन भर शिकार,सुरा और सुन्दरी की त्रिवेणी में आप्लावित रहे, फलतः जनता के दुख-दर्दों से उदासीन रहे । समाज की जनता की आवाज बुलन्द करने वाला सदैव शासकों की आँखों में खटकता है। वजीर मोहम्मद भी अपनी कविता के माध्यम से जनता की बात राजा के सामने रखते थे और उन्हें खूब खरी-खोटी सुनाते थे। परन्तु दतिया-नरेश इनकी वातों का कभी बुरा नहीं मानते थे, अपितु इनकी कविता पर प्रसन्न होकर इन्हें पुरस्कृत करते थे और कविताओं को आदर देते थे।

सांसारिक परिवर्तन तो अवश्यंभावी हैं। छायावाद के प्रमुख स्तम्भ और प्रकृति के चितेरे कवि- सुमित्रानंदन पंत ने भी लिखा है - 'पल-पल परिवर्तित प्रकृति -वेश।' "अब यह बात अलग है कि कोई उस परिवर्तन से लाभ उठाता है। उससे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। कोई नही कर पाता। वजीर मोहम्मद ने, प्रकृति परिवर्तन के साथ हुए सांसरिक परिवर्तनों का लाभ उठाया और अपने अनुभवों को पक्का किया। कवि अपने जीवन में अत्यंत स्वाभिमानी रहा है। और इसी स्वाभिमान की रक्षा करते हुए वह किसी के सामने नहीं झुका।

काव्य -रचनाएँ

कवि स्वयं गारियाँ और बुन्देली लोकगीतों को लिखकर छोटी-छोटी पुस्तकों के रूप में उन्हें छपवाते थे। ये पुस्तकें न्यूनतम बारह और अधिकतम तीस पृष्ठों की होती थीं। इन्हें छपवाना भी आसान रहता था और कम लागत होने के कारण ये सस्ती होती थीं, अतः लेने वाले इन्हें हँसकर क्रय कर लेते थे। इस प्रकार कवि के इन छोटे-छोटे ग्रंथों की संख्या 20-25 से कम न थीं। वर्ण्य-विषय के अनुसार ही पुस्तक का शीर्षक होता था। दुर्भाग्य से कुछ एक को छोड़कर आज सभी कृतियाँ लुप्तप्राय हैं। श्री वजीर के दोनों साहित्यप्रेमी पुत्रों - हफीज तथा वहीद ने अवश्य ही अपने पिता की धरोहर की पर्याप्त देखभाल की पर वे भी उसे सुरक्षित न रख सके। आज हफीज भाण्डेर में व वहीद नदीगाँव में निवासरत हैं।

समीक्षा

वजीर मोहम्मद मूलतः बुन्देली के लोक कवि हैं। परन्तु इनके लोक काव्य में भावों की उत्कृष्टता को जिन प्रभावी शब्दों मे ढाला गया है, वह अपने आप में वेजोड़ है। कहीं-कहीं तो इतनी मिठास और इतना गहन प्रभाव है कि बुंदेलखंड के जयदेव कहे जाने वाले लोककवि 'ईसुरी' भी वजीर मोहम्मद से पीछे रह जाते हैं।

इसका कारण है - इनके काव्य मे अनुभूति की सघनता और तरलता तथा भावों का अनुकूल भाषा के साथ सहज प्रवाह। यह प्रवाह निश्छल है, मंथर-गति है, इसकी परन्तु धार अत्यन्त तीक्ष्ण है। 'किसान' का जो जीवंत चित्र इस गारी में प्रस्तुत किया है, वह पाठक को रोमांचित करने वाला है :

सबसे बज्जुर है छाती किसान की,
खबर रहे नहीं जान की।
देखो काश्तकार को सीना,
जबसे लागो जेठ महीना,
टपके एड़ी तलक पसीना:
खाद-कूरें में भूली सुध प्रान की,
खबर रहे नहीं जान की।
गाड़ी भर-भर के ले जावे,
ठंडी चीज कभउं नहिं खावें।
चाहे लपट भलइं लग जावे।
जा हिम्मत तो देखो बलवान की
खबर रहे नहीं जान की॥
करके वैलन की जब सानी,
रोटी लयं ठांडी सबरानी,
चपिया में भर ठण्डो पानी,
सूखी रोटी पै जिंदगी किसान की,
खबर रहे नहीं जान की।

कवि का जो समय था, वह परतंत्र भारत का था। कण्ट्रोल का जमाना था। हर वस्तु कण्ट्रोल से मिलती थी, जिसमें भारी भ्रष्ट्राचार होता था। जरूरतमंदों को वस्तुएँ मिल नहीं पाती थीं और प्रभावशाली लोगों को ये सहज थीं। मौत थी, तो

बस गरीब की। उपर्युक्त भावों को संजोये निम्नलिखित गारी में तत्कालीन परिस्थितियों का सटीक चित्रण परिलक्षित होता है।

पहले तो गल्ला ने मारे अब कपड़न ने मारे,
बड़िन-बड़िन को लंकलाट है, छोटे फिरत उघारे।
भगती छोड़ी रघुनंदन की,
करते आस पराये धन की,
दुनिया हो गई सब रनबन की।
जैसे करम करेते हमने आगे आये हमारे ।।
जैसे-तैसे मिल गऔ परचा,
उतनौ मिलो न जितनो खर्चा।
भइया करें कौन से चर्चा।
ईश्वर सें अब यही अरज है, कैसे होय गुजारे ।।
काऊ तिरिया पे धोती नइयां।
कपड़ा पूंछत फिरत गमइयां।
लज्जा कैसे रहत गुसइयां।
दद्दा के बखतन के कपड़ा बेऊ पैन फाडारे।
बनकर अफसर आ गये भाई,
सिर में हेट गले में टाई।
करके मूंछन की सफाई।
बिना मूँछ के सबरो लै गये, रै गये मूँछन बारे ।।

बुन्देल खंड में 'ढला-चला' एक स्वांग के रूप में प्रचलित है।

इस स्वांग को प्रस्तुत करते समय जो गीत गाये जाते हैं, उन गीतों की प्रकृति को कवि ने सामयिक संदर्भों से जोड़कर प्रस्तुत किया।

सन्यासी लला बैरागी लला,

जो कलयुग को देख लो ढला-चला।

ढला-चला की सुनो करतूत,

ईसुर को छोड़ के पूज रये भूत,

भये ऐसे सपूत, मों से लागी भभूत.

मालूम परहै पीछे लला। सन्यासी लला...

आना के बियाज में रुपैया बढ़ौ,

रिबियां विचारों दे दै हड़ौ,

अधरम को जुरो सोई डाँको पड़ौ,

काटो बदमासन ने उनको गरो। सन्यासी ...

वजीर मुहम्मद ने केवल व्यवस्थाओं पर ही कटाक्ष कर अपने कवि-कर्म की इतिश्री नहीं की, अपितु समाज राष्ट्र व सर्वाधिक मानवता की गरिमा के लिए भी अपने काव्य को समर्पित किया। मानव जब एक है, तो उसमें फूट कैसी ? मनुष्य को मनुष्य से शत्रुता न कर मित्र भाव लाना चाहिए। मजा फूट में नहीं है। अपितु मेल जोल में है :

हिलमिल के सब चलियों भइया, है यह शान बशर की।

आपस में जो फूट रही तो, फिर न उड़े बेपर की।

ऐसेई कह गये बड़े पुराने,

पण्डित, सज्जन ज्ञानी स्याने।

वेद पुरान सब जोई कहत हैं, जोई कहनात डुकर की।

भइया मजा नहीं फूटन में,

दुश्मन खुशी होत है मन में,

जाँ बिगड़ी, बिगड़ी अनबन में।

पेलां पार बाँध लो अपनी, फिर बांधों सागर की ।।

– गारी की अंतिम पंक्ति में कवि ने सब कुछ कह दिया पहले अपनी सीमा निश्चित करो फिर दूसरों पर दृष्टिपात करो। यदि ससीम ही अपनी सीमा न बांध सका तो वह असीम (परमात्मा) को क्या सीमित करेगा ? अत: पहले स्वयं को अनुशासित मर्यादित किया जाना बहुत आवश्यक है और इसके लिए आवश्यक है मिलजुल कर रहना।

वजीर मोहम्मद को बुंदेलखंड और बुन्देलखंड की लोक संस्कृति से हार्दिक प्रेम था। 'सत्तू' बुन्देलखंड का प्रमुख खाद्य है यह भुने हुए जौ और भुने हुए चने के आटे को मिश्रित अनुपात में मिलाकर बनाया जाता है और शक्कर, गुड़ या नमक के घोल में इस 'सत्तू' या 'सतुआ' को खाया जाता है। स्वादिष्ट होने के साथ साथ यह पौष्टिक और स्वास्थयवर्धक भी होता है। फिर भी यह गरीबों का भोजन माना जाता है और 'लुचई'(पूड़ी) सम्पन्न लोगों का। कवि ने इन्हीं दोनों प्रतीकों को लेकर जिस रचना का ताना बाना बुना है, उसमें पूँजीवाद (लुचई) को हेय दृष्टि से देखा गया है ओर सर्वहारा वर्ग (सतुआ) के साथ सहानुभूति प्रदर्शित की गयी है। कविता में प्रगतिवादी विचारधारा परिलक्षित है :

सतुआ लगे लुचई से प्यारो।
थोरे से टाठी भर जावे,
जो चुटकी भर डारौ।
भोरई प्रेम से ई को खाबें।
का बूढ़ों का बारौ ।
जल्दी घोरो गुठला
परहे धीरे धीरे गारो।
जीभ लगाउतन नीचे जावे,
जामें बड़ौ उआरो।
कहत 'वजीर' जाय कम खइयो,

मानो कहन हमारो

खाबे में जो सहज लगत है,

लगत पेट में भारौ ।।

कवि की दृष्टि केवल बाह्य संसार पर ही नहीं हैं , अंतर्जगत का भी वह सूक्ष्म निरीक्षण करता है । श्रृंगार वर्णन में भी उसका मन रमा है । 'नैनों' को किसी ने 'बाण' कहा, किसी ने 'अग्नि' कहा और किन्ही-किन्ही उदार हृदय वाले कवियों ने अत्यंत संयत शब्दों में मृग और खंजन के नेत्रों से इसे उपमित किया। यह बस कवायद की गयी केवल नारी के नेत्रों के लिए। पुरुषों के 'नैन' किसी कविता में न तो आज तक बाण हुए हैं, न कटार और न ही खंजन व मृगनैत्र। उनके लिए यदि कभी आवश्यक हुआ तो 'कमल' की उपमा देकर उसे (पुरुष को) संतुष्ट कर दिया गया।

विवेच्य कवि 'वजीर' भी कहां चूकने वाले थे ? उन्होनें भी सुन्दरी के नैनों की उपमा 'कटारी' से दे दी। इस 'हत्यारी नैन-कटारी' ने दिल जिगर सबको घायल कर दिया । कवि ने अपनी श्रृंगारिकता इस उक्ति वैचित्य के द्वारा व्यक्त की है -

बिना म्यान के हमने देखी यारो नैन -कटारी ।

लाखों घायल कर डारे हैं फिर भी लगती प्यारी

चलती देखी हैं लाखन में,

लगती तन में घुसती मन में ।

करती जाती काम जतन में ।[2]

दिलो-जिगर जख्मी कर डारे ये ऐसी है हत्यारी ।

कला पक्ष

वजीर मुहम्मद विशुद्धतः लोक कवि हैं । इनकी शिक्षा अधिक नहीं हुई थीं। अतः इनके काव्य में काव्य-तत्वों की तलाश करना व्यर्थ सा हैं। इनकी प्रमुख काव्य-भाषा में बुन्देली हैं। उर्दू-अरबी- फारसी के शब्दो का भी प्रयोग इनके काव्य

में हुआ है। खबर, जान, काश्तकार, सीना, तलक, जिंदगी, दिल, जिगर, जख्मी आदि सैकड़ो शब्द हैं। बुन्देली के विशुद्ध शब्दों का भी प्रयोग इनके काव्य में प्राप्त होता है - कभउं, खबन, लपट, ठांडी, चपिया आदि। बज्जुर (वज्र), अरज (अर्ज) जैसे विकृत रूप भी बुन्देली में समाहित होकर प्रचलन में हैं । इन रूपों के अतिरिक्त संस्कृत तत्सम व तद्भव शब्दों का प्रयोग भी इनकी कविता में हुआ है। कतिपय शब्द है - तन, मन, जतन (यत्न), पण्डित, सज्जन, सागर आदि। हेट, फैशन, लंकलाट, कण्ट्रोल, टाई, अफसर जैसे प्रचलित विदेशी शब्द भी इन्होंने नि:संकोच ग्रहण किये हैं।

कवि की काव्य भाषा अत्यंत सरल व सहज है। कहीं- कहीं चित्रात्मक भाषा का अन्यन्त सटीक प्रयोग हुआ है। 'किसान' कविता में ऐसी ही भाषा प्रयुक्त हुई है।

छन्द

वजीर मोहम्मद ने किसी शास्त्रीय छन्द का सहारा अपनी कविता के लिए नहीं लिया। वजीर मोहम्मद बुन्देलखंड के थे और बुन्देली से उन्हें अत्यन्त प्रेम था। यही कारण है कि अपनी कविता के लिए उन्होंने बुन्देली के लोकप्रिय छन्द 'गारी' का चयन किया। इस छंद के अतिरिक्त अन्य छंदों बनरा, फाग, शैर, खयाल, चौकड़िया, ढिमरयाउ, बाबा आदि का प्रयोग भी इन्होंने किया है, पर प्रमुख छंद गारी ही है।

'सबसे बज्जुर है छाती किसान की ....'' की भांति ''सन्यासी लला बैरागी लला....'' भी अत्यंत लोकप्रिय हुआ। दोनों लोकगीत आकाशवाणी छतरपुर, झांसी, भोपाल व सागर से सैकड़ों बार प्रसारित हो चुके हैं, पर दुर्भाग्य कि इन लोकप्रिय गीतों के कवि को कोई नहीं जानता। वह कवि विस्मृति के गहन अँधेरे में है।

रस

कवि के काव्य का मूल रस 'करुण' है। कवि स्वयं दीन-हीन था। उसने गरीबी की मार झेली है। वह पेट की आग से दग्ध रहा है। यही कारण है कि इनकी कविताओं में करुण रस की प्रधानता है। पर कहीं -कहीं चुटीला व्यंग्य और हास्य भी मिल जाता है। श्रृंगार-वर्णन भी कवि ने किया है। वीर, भयानक, वीभत्स - ये रस इनकी कविता से अनुपस्थित हैं।

अलंकार

कवि को न यह पता है कि रस क्या होता है और न यह ज्ञात है कि अलंकार क्या होते हैं। उसने जो भी लिखा है, भावों के स्वत: स्फुरण के कारण। अन्तर में अनुभूति की तीव्रता ने काव्य-लेखन कराया कवि से। इस सहज लेखन में किन-किन अलंकारों ने आकर कविता को शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया - यह तो समीक्षक जाने, कवि को इससे क्या प्रयोजन ? अनुप्रास, श्लेष, यमक, रूपक, उपमा, वक्रोक्ति, उत्प्रेक्षा, विशेषोक्ति, विभावना, आदि अलंकारो का प्रयोग 'वजीर' की कविता में हुआ है।

प्रदेय

कवि की काव्य-वाणी कुछ न कुछ समाज को देती है। स्वयं दरिद्रता में जीवन-यापन कर लोगों को सदैव हँसते रहने का संदेश कवि ने दिया। हिलमिल कर रहने का उसने आह्वान किया और सबसे अधिक महत्वपूर्ण प्रदेय कवि का जो है, वह है - बुन्देली बोली और बुन्देली संस्कृति के उन्नयन में उसका योगदान, जिसे विस्मृत नहीं किया जाना चाहिए।

सादिक अहमद 'सादिक'

परिचय

सादिक अहमद का जन्म सन् 1908 में छतरपुर जिले में बिजावर तहसील मुख्यालय पर हुआ था। उस समय बिजावर बुन्देल खंड की एक रियासत थी और यहाँ महाराज सावन्तसिंह (सन 1899-1940) राजा थे। इनके पूर्वज कश्मीर के थे। सादिक साहब ने अपना परिचय स्वयं इन शब्दों में दिया है :-

'मेरे आवास इजदाद काश्मीरी सुन्नी मुसलमान पावंद शरीअत ही थे।' मेरा मान और मेरा दीन भी यही है। पूर्वज काश्मीर से शाही लश्कर के तबीतखास होकर देहली तशरीफ लाये और देहली में कई पीढ़ियां बिताईं। वे यहाँ आबाद होकर पेशा-तिवावत (यूनानी चिकित्सा) करते रहे। देहली से किवला दादा मरहूम हकीम हाफिज शायर और लेखक अकबूजान साहिब बालिये रियासत टीकमगढ़ स्वर्गीय महेन्द्र प्रताप सिंह जू देव के तबीबे खास मजिस्ट्रेट दर्जे अब्वल रियासत में रहे। विरासत की शक्ल में यह तिवावत और निजामत (मजिस्ट्रेटी) बड़े चाचा मरहूम हाजिक शायर-लेखक हकीम अहमद जान साहब और वालिद मरहूम हकीम हाजिक शायर अदीव नासिर जान साहब तक मुसलसल कायम रही।

'क़िबला' वालिद हकीम नासिर जान साहब मरहूम महेन्द्र महाराजा साहब बहादुर के छोटे बेटे स्वर्गीय महाराज बिजावर श्री सामंत सिंह जू देव के साथ मय अहलो आयाल बिजावर तशरीफ लाये और बिजावर में ही वफात पायी...। मेरी जन्म भूमि बिजावर है। जब मैं ग्यारह वर्ष का था, तभी वालिद मरहूम की सरपरस्ती सदा के लिए विलीन हो गयी। बिजावर में ही तालीम पायी...। स्वर्गीय श्री देवीप्रसाद जी प्रीतम के सम्पर्क में आया और उनके ही प्रोत्साहन से मेरा कवि हृदय जागा। वे ही मेरे गुरु हैं। पंडित रामदास जी दीक्षित उर्फ पंडित आत्माराम जी मैनेजर स्टेट प्रेस ने मुझे गीता के अध्ययन में विशेष सहायता दी। इनकी सेवा में रहकर मैंने बहुत कुछ सीखा।

सादिक साहब के पूर्वज उर्दू व फारसी के विद्वान थे तथा अच्छे शायर थे। सादिक साहब को शायरी के गुण विरासत में मिले ।

कृतियां

सादिक साहब अत्यंत उदार हृदय थे और नेक इंसान थे । इन्होंने हिन्दू धर्माचार्यों और संतों का सत्संग किया और उनकी प्रेरणा से गीता तथा रामचरित मानस का अध्ययन किया । गीता और रामचरित मानस का इन पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि इन्होंने गीता के अनेक अध्यायों का सुंदर पद्यानुवाद किया । इसके अतिरिक्त अनेक कविताएँ गीत व गजलों का प्राणयन किया, परन्तु कोई स्वतंत्र कृति इनकी उपलब्ध नहीं है । इन्होंने यद्यपि उर्दू में भी काव्य रचना की, परन्तु हिन्दी की अपेक्षा वह कम है । कवि का प्रमुख कार्य गीता का हिन्दी में पद्यानुवाद ही है । इस अनुवाद से सादिक साहब को अत्यन्त लोकप्रियता प्राप्त हुई है । सादिक साहब द्वारा किये गये इस अनुवाद को पढ़कर या सुनकर कोई अपरिचित यह मानने को तैयार नहीं होगा कि यह अनुवाद किसी मुसलमान कवि द्वारा किया गया होगा । इतनी विशुद्ध हिन्दी का प्रयोग इस अनुवाद में हुआ है कि स्वयं हिन्दी वाले आश्चर्यचकित रह जाते हैं । यही बात इनकी कविताओं के संबंध में भी कही जा सकती है ।

समीक्षा

श्री सादिक द्वारा किया गया गीता का पद्यानुवाद अपने आप में अनूठा है । कतिपय उद्धरणों से यह सिद्ध किया जा सकता है ।

मूल पाठ

तं तथा कृपया विष्टमश्रु पूर्णा कुले क्षणम् ।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ।।
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।
अनार्यजुष्टम स्वर्ग्यम कीर्तिकर मुर्जन ।।[4]

अनुवाद

इस भाँति करुणायुक्त-तन,

चख अश्रु पूरित उहडहे ।

अति चित व्यथित लख पार्थ को,

हे पार्थ । यह अज्ञान कुसमय,

प्राप्त तुमको क्यों हुआ ?

अपकीर्ति कारक स्वर्ग हर-

तजते महज्जन अनुछुआ ।[5]

मूल पाठ

मय्यावेश्य मनो ये मां, नित्ययुक्ता उपासते ।

श्रद्धया परयो पेतास्ते, मे युक्ततमा मताः ।।

अनुवाद

मुझमें लगाये मन निरन्तर,

ध्यान श्रद्धा में पगे ।

वह योगियों में श्रेष्ठ योगी,

मान्य मत मेरे जगे ।।

मूल पाठ

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः ।

अनन्ये नैव योगेन माँ ध्यायन्त उपासते ।।

अनुवाद

पर जन हुए जो मत्परायण,

कर्म सब अर्पित करें ।

मुझको अनन्य सुयोग से,

अरु ध्यान से हिरदय धरें ।।

मूल पाठ

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजले चयः ।

हर्षामर्ष भयोद्वेगै र्मुक्तो यः स च मे प्रियः ।।

अनुवाद

पाते न जिससे जीव दुःख,

पाता न जो दुख जीव से ।

भय, त्रास, हर्षामर्ष गत,

वह भक्त मेरे उर बसे ।।

जिस प्रकार 'सादिक' ने गीता का सुरूचिपूर्ण और भावानुकूल अनुवाद किया है, उसी प्रकार इनकी कविताएँ भी अत्यंत मनोरम होती हैं । 'भिखमंगे' कविता में कवि का भावुक हृदय व्याकुल हो उठा है :-

ओ भिखमंगे ।

तुझे न परखा अरे किसी ने,

हुए बहुत भारत में दंगे ।

अपने ही सुख-दुख में बहकर,

जग रोया रे, अपनी कहकर ।

रोई भूख, हँसे; पर चंगे,

ओ भिखमंगे ।

तुझको लकुटि सहारा देती,

तेरी जीवन नौका खेती,

ओ वृद्धा । ओ वृद्धा ।। करुणा -

सुनी न, धन-मद भरे उमंगे ।

ओ भिखमंगे ।

भिखमंगों पर जगती हँसती ,

अरु फबती पर फबती कसती ।

नित विपदा की झड़ी बरसती ,

भीग रहे त्रैताप-तिरंगे ।

ओ भिखमंगे ।

भड़क भूख की ज्वाला उभरी,

फड़क उठी छाती अति दुबरी ।

भरी तोदं की समता कुवरी,

बैठ सड़क पर करते पंगे ।।

ओ भिखमंगे ।

सुख-वैभव पर श्राप यही है,

सभ्य देश संताप यही है ।

यहाँ न धोये पाप किसी ने -

रटते रहे सदा जय गंगे ।।

- इस सम्पूर्ण कविता को इसीलिए उद्धृत किया गया है कि जिससे कवि के कवित्व की गहनता का अनुमान किया जा सके ।

छायावादी कवि व प्रगतिवाद के प्रवर्तक 'निराला' ने भी भिक्षुक को सम्मान दिया था -

वह आता

पछताता पथ पर

दो टूक कलेजे के करता......

पर, जो भावाभिव्यक्ति निराला करना चाह रहे थे, क्या वह 'सादिक' की 'भिखमंगे' में नहीं हुई ? इसका विश्लेषण करना पड़ेगा ।

निराला का 'भिखारी' - पछताता हैं। आखिर 'पछतावा क्यों'? जबकि सादिक का :'भिखमंगा'- कहीं भी 'पछताता' नहीं हैं। क्या शब्द चित्र प्रस्तुत किया है कवि ने भिखमंगे का।-

सादिक साहब की दृष्टि अध्यात्म पर भी है। इस विषय में निबद्ध इनकी रचनाओं में रहस्य भावना है एक उत्सुकता है और जिज्ञासा है। मानव-जीवन को लोगों में अमृत बेला कहा है, परन्तु कवि ने इसे 'बेली' संज्ञा प्रदान की है क्योंकि मानव-जीवन सम्पूर्ण नहीं है। यह अधूरा है, अपूर्ण है :

जीवन की अमृत बेली

कितनी उलझी कितनी सुलझी, पवन झकोरों से खेली,

जीवन की अमृत बेली

जगती कितनी मायावी है, लखती सूरत छाया की है।

भूल कहाँ ? क्या काया की है, मायावी की है चेली।

जीवन की अमृत बेली।

पतली शाखों पर है छाई, पीली-पीली सी मुरझाई।

कहती जगती हरित सुहाई, अद्भुत यही पहेली।

जीवन की अमृत बेली।

हमने इसे संगठित देखा, देखा आंखो किया फरेबा

सुखमय कितनी, अरे न लेखा रहती निरी अकेली।

जीवन की अमृत बेली।

इसे सृजा है जिस खालिक ने, जगती सिरजी उस मालिक ने

जैसी यह है वैसी है पूर्वाभा अलबेली।

जीवन की अमृत बेली।

- विश्व वंद्य बापू का वध मानवता के लिए कलंक था। क्या हिन्दू और

क्या मुसलमान - सब रोये फूट-फूटकर। कवि का भावुक हृदय इस घटना से दहल उठा। अपनी कविता 'अश्रु अंजलि' में उन्हें श्रंद्धाजलि देते हुए कवि कहता है :-

आये रमते राम जगत में,
रमते रहे सदा शुभ-सत में।
नीर-क्षीर करके विवेक से मेट गये भ्रमता।
अरे क्यों रोती है ममता ?
आया नाथूराम मारने,
अन्त अहिंसा का सँवारने,
अन्तर्धृति दृढ़ता पुकारती अनिर्वाच्य-क्षमता।
अरे क्यों रोती है ममता ?
मंत्र मोहिनी बोल मधुर थे,
मोहनदास मनस्वी सुर थे।
जड़ चेतन से जो ऊपर थे, दूँ किसकी समता ?
तुलसी सूर-कबीरा-मीरा,
नाम सरसता करुणा-धीरा,
धर्म-नीति-संयोग गंभीरा-सफल योग समता
विश्व-शांति के थे अभिलाषी,
सहज-सत्य-सुख, प्रकृत-विलासी।
आत्म-सुचिंतन, रामउदासी, जन-जन में रमता,
अरे क्यों रोती है ममता?

- कवि सादिक अहमद 'सादिक' का काव्य-जगत व्यापक है और विविध वर्णी है। कवि-हृदय हिन्दू या मुसलमान में न तो विभक्त होता है और न ही इस प्रकार के कोई भेद स्वीकार करता है। कवियों की केवल एक जाति होती है - 'कवि'और एक धर्म होता है- 'काव्य-सृजन'। सादिक साहब न हिन्दू थे और न मुसलमान। वे मात्र एक कवि थे और कविता द्वारा मानवता की सेवा करना उनका धर्म था।

कला -पक्ष

सादिक अहमद 'सादिक' की कविता का कला-पक्ष भी उसके भाव-पक्ष की भांति अत्यंत पुष्ट हैं। ये बुन्देलखंड के थे अवश्य, परन्तु इनकी काव्य-भाषा खड़ी बोली है जो संस्कृत तत्सम प्रधान है। कुछ स्थलों पर उर्दू के एवम् बुन्देली के शब्द रूपों का प्रयोग हुआ अवश्य है, परन्तु ऐसे स्थल कम हैं। संस्कृत की तत्सम प्रधान शब्दावली का प्रयोग कवि के काव्य में हुआ है। परन्तु यह इतनी किलष्ट नहीं है कि पाठक इसके अर्थ तक न पहुँच सके। इनकी काव्य भाषा सहज है, बोध गम्य है एवम भावानुकूल है।

कवि, शब्द चित्र गढ़ने में अत्यन्त कुशल है। 'भिखमंगा' कविता में 'भिखमंगे' का उसके उपकरणों सहित जो शब्द चित्र कवि ने साकार किया है, वह दर्शनीय है। इस प्रकार कवि की काव्य भाषा चित्रात्मक है।

सादिक साहब के काव्य की शैली गीतात्मक है। गीतों के जो गुण धर्म-कोमलकान्त पदावली, गेयता, लघुता, प्रभावोत्पादकता आदि होते हैं, इनके गीतों में वे सहज उपलब्ध हैं। प्राय: सम्पूर्ण गीत छंदबद्ध और मात्राओं के नियमों से सुसज्जित हैं।

कवि जब अपना कर्म करता है तो उसकी कविता में विभिन्न रस और अलंकार सहज रूप में आ ही जाते हैं। सादिक साहब की रचनाएँ प्राय: समस्त रसों में निबद्व हैं। श्रृंगार की ओर इनका रुझान लगभग कम या न के बराबर रहा है। हास्य की सृष्टि भी कवि द्वारा नहीं की गयी है। शान्त और करुण रस के चित्रण में सादिक साहब का मन रमा है।

प्रदेय

बुन्देलखंड में अनेक कवियों ने बुन्देली में रचनाएँ कीं, वहीं मैथलीशरण गुप्त जैसे मनीषियों ने खड़ी बोली को समृद्ध किया। सादिक अहमद का विशिष्ट

अवदान यही है कि इन्होंने खड़ी बोली के उन्नयन में अपने सार्थक प्रयास किये और क्षेत्रीयता की संकुचित भावना से ऊपर उठकर राष्ट्र भाषा हिन्दी के स्वरूप को संवारा। हिन्दू मुसलिम एकता को स्थापित और दृढ़ करने में सादिक साहब का महत्वपूर्ण योगदान है। इनकी साहित्य सेवा को बिजावर के राजकवि बिहारी ने इन पंक्तियों द्वारा सराहा है जो सर्वथा उचित ही है :

शब्दों की शुद्ध सजावट कर,
कविता की कांति बनाई है।
छन्दों की रचना मीठी है,
बन्दों की भरी भलाई है।
भगवान भक्ति का मर्म महा,
उड़पति सा उत्तम ऊब रहा।
यह प्रेम प्रबंध निबंध नया,
सादिक अहमद ने खूब कहा ।।[13]

नसीर परवाज

परिचय -

'परवाज' उपनाम धारित नसीर साहब का पूरा नाम नसीर अहमद है। नसीर अहमद का जन्म 1 दिसंबर 1940 को सागर में हुआ। आपने अर्थशास्त्र और उर्दू विषय से एम.ए. पुणे विश्वविद्यालय से किया। सन् 1962 से 1975 तक शासकीय सेवान्तर्गत आप मौलाना आजाद कॉलेज ऑफ टेक्नालोजी भोपाल में 1975 से 77 तक बी.एच.ई.एल. झांसी और 1977 से सेवानिवृत्ति तक बी.एच.ई.एल. भोपाल में कार्यरत रहे। वर्तमान में आप एन-2/1092/बी, गोविंदपुरा, भोपाल में निवासरत हैं।

काव्य-कृतियाँ -

परवाज का शायराना सफर सन् 1960 के आसपास उत्तरप्रदेश के ललितपुर से प्रारंभ हुआ और इन्होंने उर्दू गजलों से अपने लेखन कार्य की शुरुआत की। उर्दू के उपरान्त ही शायर हिन्दी कविता के क्षेत्र में आया। इस संबंध में स्वयं नसीर परवाज का कथन द्रष्टव्य है :- 'उर्दू साहित्य की सम्पूर्ण परम्पराओं और गरिमा में डूबा हुआ गजल के मुख पर अपना नाम लिखने की चेष्टा करता रहा। जब चिंतन के कांधे पर हाथ रखा और दर्शन ने तीसरा नेत्र खोला तो नयी दिशाओं का भी आभास हुआ। उर्दू साहित्य-जगत में शायद मेरा नाम अपरिचित नहीं हैं, ऐसा मेरा अनुमान है कि मेरी गजलों का संग्रह - 'मताए दी दए तर, मध्यप्रदेश उर्दू अकादमी द्वारा प्रकाशित किया जा चुका है। 'राइटर्स मंच' के गठन के पश्चात उर्दू हिन्दी को परस्पर निकट लाने के प्रयासस्वरूप हिन्दी गीतों की ओर आया तो जन्म लिया इस संग्रह ने जो 'गीत थकी साँसों' के नाम से प्रस्तुत है।

परवाज जी के वक्तव्य से स्पष्ट है कि हिन्दी का मोह उन्हें इस ओर खींच लाया। फिर भी, हिन्दी की अपेक्षा उर्दू में ही इनका लेखन अधिक है। इनका रचना संसार निम्नानुसार है:-

उर्दू साहित्य (प्रकाशित)

1. खित्ता-ए-गुलाब - ललितपुर के 25 शायरों की रचनाओं का संकलन
2. मताए-दीदये-तर - गजलों का संग्रह
3. भेल में उर्दू - सम्पादक मंडल के सदस्य

उर्दू साहित्य (अप्रकाशित)

1. महक - उर्दू की नजमें
2. मेरा नबी - नाते

3. एक गजल - तेरह सौ शेर की एक गजल

4. पांच गजलें - सौ-सौ शेर की पांच गजलें

5. कताआत - मुक्तक संग्रह

6. मीर की धुन में गाते हैं - मीर के रंग की गजलें

7. सरे वादिये एहसास - नज्में

हिन्दी साहित्य (प्रकाशित)

1. भेल में हिन्दी

2. इन्द्रधनुष - भेल के 7 कवियों की रचनाओं का संग्रह

3. गीत थकी सांसों के - हिन्दी गीत

हिन्दी साहित्य (अप्रकाशित)

1. तुम से ही - हिन्दी खंडकाव्य

स्वयं के हिन्दी गीतों के संबंध में लेखक ने जो विचार स्पष्ट किये हैं, वे द्रष्टव्य हैं - 'मेरे गीतों की भाषा और भावों का अंग-अंग पवित्र गंगाजल से धुला हुआ है। मैंने क्षण-क्षण से जो पाय, कागज पर उकेर दिया। सम्पूर्ण जीवन अतृप्ति प्यास ढोने में बीता। सागर-मंथन में विष भी मिला और अमृत भी। न मैं अमृत पीकर अमर हो सका और न विष पीकर मर ही सका। विश्वास यह है कि जीवित हूँ। जीने का यही विश्वास कभी-कभी सलीब भी बना है। स्वयं मेरे विश्वास ने मेरी सच्चाई पर विश्वास नहीं किया। इसी एकान्त चिंतन का प्रतिफल है - मेरे गीत। मेरे गीतों में केवल मेरी अपनी ध्वनि है और उसकी प्रतिध्वनि भी। मुझे नहीं मालूम, नव गीत के इस युग में कौन इन्हें आंखों से लुभाएगा फिर भी सोचता हूँ, सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र की धरती अभी बंजर नहीं हुई।

अपने गीतों के संबंध में कवि के आत्मकथ्य को समीक्षा की दृष्टि से देखना पड़ेगा। यद्यपि हिन्दी में कवि का लेखन कम ही है, फिर भी उसका महत्व कम नहीं है। रचना के प्रभाव का परिमाण उसकी संख्यात्मक दृष्टि से नहीं मापा जा सकता।

समीक्षा :

कथ्य -

नसीर परवाज का हिन्दी काव्य बहुमुखी है। प्रकृति व सृष्टि तथा संसार के विविध व्यापारों से इन्होंने साक्षात्कार किया है। इन विविध रूपी विषयों में प्रकृति, वर्णन, मानव-जीवन के त्रास, घुटन, चिन्ता आदि का चित्रण, राष्ट्र-प्रेम, राष्ट्रीय त्रासदियां आदि-आदि हैं। अपने प्रथम संग्रह 'गीत थकी सांसों के' में ही कवि की प्रौढ़ता विद्यमान है। संग्रह की सम्पूर्ण एक सौ इक्कीस कविताओं मे एक ताजगी है, नयापन है और मौलिक उद्भावनाएँ हैं। राष्ट्रभक्ति संबंधी एक गीत में इस प्रकार की भावना द्रष्टव्य है। हिन्दुस्तान के लोगों की आशाएँ, उनकी शक्ति और उनका मान-सम्मान इसी देश में संभव है। जिस देश में राम, गौतम, नानक और मुईन जैसे ईश्वर राम अवतार हुए, जिस देश में सूर, मीरा, तुलसी और गालिब तथा टैगोर के काव्य, स्वयं गुंजायमान हो रहे हों, उस देश पर ज्ञान, धर्म, जीवन मर्यादा आदि सब न्यौछावर हैं।

अपनी आशा, अपनी शक्ति मान और सम्मान,

प्यारा हिन्दुस्तान।

ज्ञान, धर्म जीवन, मर्यादा-सब इस पर कुर्बान,

प्यारा हिन्दुस्तान।

इसमें उपजे राम और गौतम नानक और मुईन

हिन्दू-मुसलिम, सिक्ख ईसाई, प्रेम भाव में लीन

सत्य-अहिंसा का करता है, पल-पल पर आह्वान

प्यारा हिन्दुस्तान।

सूर के स्वर, मीरा की भक्ति, गालिब की आवाज,

कण-कण पर तुलसी की छाया और टैगोर का साज।

इसने सारे जग को बाँटा, सच्चाई का ज्ञान,

प्यारा हिन्दुस्तान।

इसमें लाल किले का गौरव,

इसमें सुन्दर ताज।

मान अजन्ता शान एलोरा,

कुतुब हमारी लाज।

हिन्दी, उर्दू बंगला, उड़िया,

सिंधी रस की खान॥

गंगा-यमुना-कृष्ण, नर्बदा,

धोएँ इसका रूप।

गर्मी-सर्दी बरखा इसमें,

रंग निखारे धूप॥

पर्वत, सागर उज्जवल इसके,

रूप विचार महान॥

कहीं बुकारो, कहीं भिलाई,

कहीं भेल आधार।

इसके सिर पर मुकुट हिमालय,

गौरव का अवतार।

नेहरू गांधी और आजाद की

मेहनत का वरदान।[16]

उपयुर्क्त गीत देखने में साधारण प्रतीत होता है। परन्तु परिगणन शैली में जिस प्रकार भारत की संस्कृति, भारत के अतीत गौरव, भारत की प्राकृतिक सम्पदा, भारत की कला और युग के साथ कदम से कदम मिलाकर चलता हुआ भारत के वर्तमान रूप को चित्रित किया गया है, वह दर्शनीय है, पठनीय है।

मूल्यों के प्रति समर्पण -

कवि मानवीय मूल्यों को हर हाल में बनाये रखना चाहता है। स्थापित आदर्शों के प्रति वह समर्पित है और उन्हें बनाये रखने का आह्वान भी करता है :-

रावण तो भिक्षा मांगेगा,
मन का आदर्श नहीं छोड़ो
यह लक्ष्मण रेखा मत तोड़ो।
अंधी चंचलता क्या जाने,
बहरूपी है सारी दुनियाँ
धोखा बनकर छल जाती है
हर पग की संसारी दुनियां।
अपने मन का निर्मल स्वरूप
अतृप्त साधना से जोड़ो।
यह लक्ष्मण-रेखा मत तोड़ो।

कवि मूल्यों पर अंध-श्रृद्धा रखने की बात भी नहीं कर रहा है। इसी कविता में एक स्थल में वह स्पष्ट उद्घोष करता है :

जो शब्द कपट ने चमकाये
उन शब्दों का कुछ अर्थ नहीं,
अपने अंदर ही छुप जाना,
संयम है केवल व्यर्थ नहीं।
इतनी उदारता उचित नहीं,
संयम है केवल व्यर्थ नहीं।
इतनी उदारता उचित नहीं,
यह दिशा आचरण की मोड़ो।

पराये दोषों को न निहारकर अपने दोषों को देखने और उनके परिमार्जत करने की नीतिगत शिक्षा अत्यंत प्राचीन है। कबीर ने यहाँ तक कहा है कि- मैं दूसरों की बुराईयाँ ढूँढ़ने निकला था, पर कोई बुरा न मिला और जब मैंने अपना दिल खोजा, तो मुझसे बुरा कोई न मिला :

बुरा जो देखन में चला, बुरा न मिलिया कोय,
जो दिल खोजा आपना, मुझसा बुरा न कोय ।।

कबीर के इसी आदर्श से प्रभावित कवि भी व्यक्ति को आत्मावलोकन करने की सलाह देता है :-

पगले, दर्पण देख ।
कितना धुँधला कितना उजला,
तेरा जीवन देख ।।
दूजे के मुख पर क्या अंकित,
पढ़ने से क्या लाभ ?
झाँक न मूरख बनकर, घर-घर,
अपना आँगन देख ।।
सच कहने की, सच सुनने की,
कुछ तो आदत डाल,
जिसमें तेरा स्वार्थ निहित है,
वह है माया जाल ।
जग तुझको झूठा लगता है,
किसके कारण देख ।।[18]

अध्यात्मवाद -

सांसारिक बिडम्बनाएँ जब व्यक्ति को व्यथित कर देती हैं, तब वह विश्व से विमुख होने लगता है और अध्यात्म की ओर उसकी समग्र चेतना केन्द्रित हो जाती

है। उसे संसार के सारे रिश्ते झूठे नजर आने लगते हैं। आदि और मध्यकालीन कवियों ने इस ओर बार बार संकेत किये हैं। कवि ने भी उन्हीं भावों के अनेक स्थलों पर व्यक्त किया है :-

झूठी छाया, झूठी काया, झूठी चांदी-सोना,
रैन-बसेरा पल दो पल का सांसे सिर्फ खिलौना।
आशा, अभिलाषा उम्मीदें - सब जीवन के रोग,
कबीरा खैर मनाये।
माटी ओढ़ी, माटी पहनी, माटी रूप संवारा
बिलख रहीं आवारा गलियाँ दिल जोगी बंजारा।
बहुरूपी विश्वास जगत का धुंधला जोग वियोग
कबीरा खैर मनाये।

== == ==

तन की पूँजी, मन की माया हुई चिता की राख,
आशंकित आधार रह गया केवल मुट्ठी में।
भूल गयीं आवारा सांसें सब फूलों के नाम,
टुकुर-टुकुर दो जलते दीपक अनायास बोले,
माथा टेक चुका पत्थर पर, पूजा का अभिमान
निश्चित और अनिश्चित घड़ियां, तन कैसे खोलें।
आंधी से लड़ पड़ी विवशता जंगल-जंगल आग,
आंसू का उपकार रह गया केवल मुट्ठी में।[20]

जीवन क्षण भंगुर है। जीवन में जो ऐश्वर्य है, वह तभी तक है, जब तक सांसें हैं। सांसों की डोर टूटने पर ऐश्वर्य रूपी या जीवन रूपी माला बच ही नहीं सकती-

शब्दकोश अंधे हैं, हर अभिलाषा धुंधली
डरी भावनाएँ पीती अंजान दिशाएँ,

ऊबड़ -खाबड़ पथ न पकड़े अँगुली मेरी

छाया से वंचित ठहरी परिचित तनहाई ।

संबंधों का ज्वार सिर्फ मकड़ी का जाला-

टूटेगी जब डोर बचेगी कैसे माला ।

अध्यात्मवाद में जहां जीवन को क्षण भंगुर माना जाता है वही जीवन-जगत के अदृश्य संचालक को जानने की रहस्य भावना भी इसमें निहित रहती है । इस अदृश्य को जानने की जिज्ञासा कवि में है । इस जगत के कार्य-व्यापार के संचालन के पीछे कौन सी शक्ति है ? - इस प्रश्नचिह्न का समाधान पाने की चेष्टा हजारों वर्षों से संतों-कवियों-तत्वज्ञों द्वारा विभिन्न रूपों में की जा रही है । कवि भी यथा सामर्थ्य इस रहस्य को पाने की चेष्टा कर रहा है:-

माटी पूछे-

लम्बी डोरी, छोर नहीं कुछ,

दसों दिशाएं और नहीं कुछ,

पागल अपने आप में डूबा

चमकीले अभिशाप में डूबा

आंसू इतना सीमित क्यों है ?

माटी पूछे-

नाम, धाम, घर , पता, ठिकाना

किसने पूछा किसने जाना ?

आदि कहाँ है, अन्त कहाँ है ?

ढलता सूरज संत कहाँ है ?

मानव आखिर जीवित क्यों है ?

प्रकृति -चित्रण

कवि-हृदय प्रकृति से सदैव ही तादात्म्य स्थापित करता रहा है। कविता का प्रकृति से शाश्वत संबंध रहा है। कवि नसीर परवाज ने भी इस संबंध का निर्वाह किया है। सावन (वर्षा) का मौलिक चित्रण द्रष्टव्य है :-

बूँद-बूँद बादल ने वस्त्र उतारे
सावन जाग उठा।
धरती ने सतरंगी हाथ पसारे
सावन जाग उठा।

कीचड़ में डूब गया
पत्तों का जंगल,
अम्बर ने आंज लिया
आँखों में काजल।
काँटों में उलझ गया
धरती का आंचल

जाग पड़ी चट्टानें
धार-धार, कल-कल,
करने लगा चन्दा तारों को इशारे
साजन जाग उठा
बूँद-बूँद बादल ने वस्त्र उतारे
सावन जाग उठा।

थिरक उठी आँगन में
रिमझिम फुहारें।
पलक झपकाने लगीं,
बरखा बहारें।

लहर-लहर गाने लगीं

गीली मल्हारें,

आशाएँ खेतों की

आरती उतारें,

मौसम भी धरती की माँग संवारे

कण-कण जाग उठा ।

बूँद-बूँद बादल ने

वस्त्र उतारे सावन जाग उठा ।[23]

होली-वर्णन

होली का पर्व मस्ती और उमंग का त्यौहार तो है ही, प्रेम और सद्भाव का संदेश भी देता है, कवि इस पर्व के द्वारा प्रेम की व्यंजना कर रहा है :

चुनरी भीगे सारी भीगे, भीगे कोरा अंग,

डालो प्रेम का रंग

प्रीतम की क्वांरी अभिलाषा

नाचे गोरी संग

डालो प्रेम का रंग ।

एक रंग तन आलिंगन का,

एक रंग स्नेह ।

एक रंग प्यासे अधरों का

भीगे जिसमें देह

अंग बचाना मुश्किल ठहरे

घर हो इतना तंग ।

डालो प्रेम का रंग ।

= = = = =

धीमी-धीमी पवन रेशमी

दहक रही हो आग

गंगा के संग श्यामल यमुना

खेले सांची फाग

यौवन की पावन धरती पर

बजती रहे तरंग ।[24]

प्रेम और श्रृंगार

श्रृंगार आदिकाल से कवियों का सर्वप्रिय वर्ण्य विषय रहा है। श्रृंगार और प्रेम एक ही सिक्के के दो पहलू है। प्रेम लौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार का होता है। लौकिक प्रेम में देहाशक्ति रहित प्रेम को उदात्त माना गया है। यह आदर्श स्थिति होती है। इसका भी अपना श्रृंगार होता है। नसीर परवाज के अधिकांश गीत प्रेम और श्रृंगार के ही विविध रूप हैं। इनमें भी मांसल-प्रेम के अंकन में कवि ने अपना मन रमाया है।

कवि की दृष्टि प्रेम के समय 'उजड़ी रातों' पर रहती है और इसीलिए वह प्रेम के प्रति सशंकित है। यहाँ उसकी दृष्टि तन को भेद कर मन तक नहीं जा पाती -

मैं कैसे तुमसे प्यार करूँ ?

तुम उजड़ी रातों का जंगल

तुम घनी दोपहरी कुण्ठा की

कैसे तुमको स्वीकार करूँ

मै कैसे तुमको प्यार करूँ ?[25]

वैसे तो प्यार में कोई शर्त नहीं होती, पर कवि प्यार करने के लिए बंधनों का सहारा लेने का पक्षधर है। एक ओर जहाँ वह उजड़ी रातों के जंगल को 'स्वीकार' और 'प्यार' करने में अपनी असमर्थता व्यक्त करता है, वहीं दूसरी ओर प्यार करने के

लिए 'अगर' जैसे शब्दों से अपनी शर्तें भी थोपता है और ये शर्तें हैं - 'सजल समर्पण और आलिंगन की परिभाषा' -

मुझसे अगर प्यार है तुमको,
मेरी छाया मेरी काया
सांसों का विश्वास बना लो,
तोड़ो जग के रिश्ते-नाते
धड़कन को आभास बना लो
अभिलाषा की बांह थामकर
मुझको अपनी प्यास बनालो

मुझसे अगर प्यार है तुमको,
तन की जलती दोपहरी को
पुण्य गंग की अभिलाषा दो
बांहों की फैली सृष्टि को
सजल समर्पण की भाषा दो
दीवाली में दीप जलाओ
आलिंगन को परिभाषा दो ।[26]

कवि 'थोड़ा सा प्यार' चाहता तो है, पर इस थोड़े से प्यार के रूप में वह केवल 'देह' की कामना करता है हृदय की नहीं :-

शीतल हो धरा समर्पण की
बांहों का हार मुझे दे दो ।
मैं लिख दूं अधरों पर चुंबन,
इतना अधिकार मुझे दे दो ।
थोड़ा सा प्यार मुझे दे दो ।

इतने समीप आओ मेरे

काया पर छाया डाल सकूं

नयनों में आंज सकूं सपने

खुशबू सांसों में पाल सकूँ

जीवित शीतल हो अर्थ सुधा

शब्दों का हार मुझे दे दो ।[27]

अन्यत्र भी कवि की यही कामना दृष्टिगोचर होती है :-

अधरों पर चुंबन सजा, मन में चाहत घोल ।

तन से तन को बांधकर, जीवन भर न खोल ।।

जिस दिन न देखे तुझे होती चाह उदास,

अर्थहीन हों दूरियाँ, आजा इतने पास ।।

तू शब्दों का आचरण तू भाषा तू ज्ञान ।

खोकर अपने आपको, बन मेरी पहचान ।।[28]

नसीर परवाज के हिन्दी काव्य में प्रेम की उदात्त व्यंजना कम ही है। यदि कहीं है भी तो वह नीति या उपदेश की पृष्ठभूमि के अंतर्गत हुई है। वस्तुतः दैहिक प्रेम ही कवि का इष्ट प्रतीत होता है। मध्यकालीन कवि रसखान ने भी कभी देहिक प्रेम का समर्थन करते हुए लिखा था कि जब तक दो तन मिलकर एक नहीं होते तब तक वह 'प्रेम' नही होता :

दो मन इक होते सुन्यौ, पर वह प्रेम न आहि ।

होर जबै वै तनहुँ इक, सोई प्रेम कहाहि ।।[29]

रसखान का प्रेम संबंधी यह दृष्टिकोण परवाज के प्रेम-चित्रण पर भी परिलक्षित होता है।

संघर्ष करने की प्रेरणा

अपने कई गीतों द्वारा परवाज ने मनुष्य से आगे बढ़ने और संघर्ष करने का भी आह्वान किया है :-

मंजिल उनकी बहुत दूर है
जो घुटनों के बल चलते है,
उनको छूता नहीं नया युग
जो आशाओं पर चलते हैं।
हिम्मत और विश्वास के आगे
पर्वत शीश झुकाता है।
तूफानों में पलने वाला
तहके मोती लाता है।
उजियारा उनका सुहाग है।
जो आंधी में भी जलते हैं,
मंजिल उनकी बहुत दूर है
जो घुटनों के बल चलते है।[30]

एक और अपेक्षा -

झटक दो पलकों से सपने कि सूरज हँसी उड़ाता है
उजाला अंग चुराता है, समय यह बीता जाता है।
करो कुछ कर्त्तव्यों की बात
नया युग मांग रहा सौगात,
सुगंधित हर डाली हर पात-
तुम्हारे दास हुए दिन-रात
मिटा दो भेदभाव की बात, कि यह विष आग लगाता है।[31]

कवि बार-बार आगे बढ़ने की, आगे बढ़ते रहने का आह्वान करता है । मानव अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है वह विवश और लाचार नहीं है -

कदम बढ़ा हिम्मत से, मंजिल दूर नहीं,
मानव भाग्य विधाता है , मजबूर नहीं ।
तूफानों से लड़ना शान जवानी की,
डरकर जो भागा, उसने नादानी की,
मेहनत जहाँ पसीना अपना टपकाये
आशाओं का स्वर्ग धरा पर लिख जाए
जख्म कोई इस धरती पर नासूर नहीं ।

हिम्मत से आगे कदम बढ़ाने की प्रेरणा देते हुए कवि 'जिओ और जीने दो' के सिद्धांत को अंगीकार करने का भी आह्वान करता है इसी गीत में -

खुद भी जी, सारी दुनियां को जीने दे
आँखों को चाहत के सपने पीने दे ।
आदर्शों का सुख संसार बना मन को
बोल तुझे जंगी नफरत मंजूर नहीं ।[32]

जीवन के प्रति दृष्टिकोण

कवि के चारों ओर निराशा का वातावरण है । इस निराश वातावरण से वह अत्यंत व्यथित है । कुशल-क्षेम पूछना भी अब मात्र एक औपचारिकता है - बोझिल औपचारिकता । व्यक्ति अपने त्रास, घुटन, अवसाद और विभिन्न समस्याओं से जूझ रहा है और तिल-तिल कर भीतर से टूट रहा है, फिर भी वह 'शेष कुशल है' की थोथी मुसकान होंठो पर पोते हुए है :-

तुमसे अब ज़ब भी मिलता हूँ

कितनी ही बातें करता हूँ

अंधी बातें, बहरी बातें

गूंगी बातें लंगड़ी बातें

जैसे अम्बर पत्थर मारे

जैसे धरती हँसी उड़ाये।

घर में सब बच्चे कैसे हैं

वह कैसे हैं

कल जोड़ों में दर्द बहुत था

गैस भी शायद खत्म हो गयी

कैरोसिन आइल की लाइन

अरे बाप रे

दो लीटर ही।

मुश्किल से ले पाये बच्चे

सूखी लकड़ी

इस बारिश में कहां मिलेगी

ग़ल्ला जब सस्ता था

कुछ स्टॉक किया था

मँहगाई सिर पर चढ़ आयी

सब्जी भी अब कम आती है

रेट 'हाई' है।

आलू दो से ढाई बिके थे

= = =

आज तो पप्पी का पेपर है

देखो क्या रिजल्ट रहता है

बच्चे अब पढ़ते भी कम हैं।

टी.वी. एक जरूरत है

ऑफिस का माहौल

बहुत गंदा लगता है,

सब साथी हैं

लेकिन खा जाने को आतुर

कल साहब से झड़प हो गयी

काम करे भी आखिर कितना

प्रमोशन के समय

वही चमचे दिखते हैं।

ओवर टाइम बस अपनों को

नींद नहीं आती अब हमको

ब्लड प्रेशर हाई है शायद

कल छुट्टी है

बच्चों के कपड़े लाना है

घर धोना है

शेष कुशल है।

सब कुछ जैसे रटा-रटाया

औपचारिकता केवल अभिनय...।[33]

मध्यवर्ग की जीवन की विवशताओं और विद्रूपताओं को कवि ने अत्यंत कुशलतापूर्वक चित्रित किया है।

निराशा और कुंठा -

विद्रूपताओं और जीवन-संघर्षो से कवि इतना निराश हो गया है कि वह पत्थर होने की कल्पना करने लगता है। वह चेतन नहीं बना रहना चाहता। चेतन है तो संवेदनाएँ हैं और संवेदनाएँ हैं तो जीवन के कार्य-व्यापारों के प्रति विभिन्न भाव हैं। जड़ होने में पत्थर होने में चेतना के खतरे तो नहीं है :-

मै पत्थर नहीं हूँ
अतृप्त आत्मा का धुंधला बिम्ब हूँ।
अपनी पूर्ति के लिए
खुद को तोड़ता बिखराता रहता हूँ
बटोरता रहता हूँ अपनी ही किरचें
लहूलुहान हाथों से

काश। मैं पत्थर होता
मौसम बदलने का समय
रात और दिन ढलने की गति
छू न पाती मुझे
आदर्शों की लकीरें खींच न पाता
धड़कनों के कोरे पृष्ठों पर।
पागलों की भांति
उस पर हँसता रहता
जिसने पत्थर को
अभिव्यक्ति से वंचित रखा
काश में पत्थर होता।[34]

'आशा' भारतीय दर्शन का विशिष्ट भाव है। हम आशावादी हैं। असफलताओं के गहन अंधकार में निराशा का आना स्वाभाविक है। चारों ओर

व्याप्त नैतिक मूल्यों के पतन की घोर निराशा तो है, उससे कवि व्यथित भी है: पर उसने 'आशा से आकाश थमा है'- का भारतीय मूल मंत्र छोड़ा नहीं है। वह आशावादी है, भारतीय चिंतन में उसकी आस्था है:-

ऊषा जाने कब से खड़ी है
प्रतीक्षा के कुसुम लिये
थाली में
सागर के उस छोर पर
जहाँ चुम्बन टाँकता है
अम्बर
धरती के अधरों पर
और
इतिहास लिख रहा है
प्यास का
बहते जल पर
सूरज अभी तक
नहीं आया।

सृष्टि के रचयिता ने
हजारों बार पिया है।
प्रयत्नों का विष
अभागा सूरज
कभी तो देख सके-'कल'।
किन्तु
प्रकृति के नियमानुसार
बुझ जाना पड़ा रोज
बूढ़े सूरज को

ताकि

जन्म ले सके

एक नया सूरज

अगले दिन

अंधेरे की कोख से ।[35]

पूर्व में कहा जा चुका है कि परवाज की कविता के स्वर विविध रूपों में मुखरित हुए हैं। इनमें विभिन्न मानवीय भावों का चित्रण है, व्यवस्था के प्रति आक्रोश है, गिरते नैतिक मूल्यों की चिन्ता है, उनकी स्थापना का प्रयास है, प्रकृति चित्रण है, प्रेम है और असफल प्रेम का रोदन है। प्राय: सभी विषयों को स्पर्श करने का प्रयास कवि द्वारा किया गया है, परन्तु कवि के काव्य का मूल स्वर 'प्रेम' है। कवि यौवन का आकांक्षी है, प्रेम-पिपासु है। 'डायरी के पन्ने' कृति के लगभग सम्पूर्ण दोहे इसी भावना से अभिव्यंजित हैं और 'गीत थकी सांसों के' गीत भी सफल और असफल प्रेम शब्दों से बुने गये हैं। इस प्रेम में पारलौकिक प्रेम तलाशना व्यर्थ है।

कला-पक्ष

नसीर परवाज के गीतों और कविताओं की एक विशेषता यह है कि ये सब शीर्षक विहीन है। किसी भी कविता और गीत का शीषर्क कवि ने नहीं दिया है। चूँकि कवि मूलत: शायर है फिर भी हिन्दी में जो भी लिखा वह प्रभावित करता है और महत्व है उसका।

भाषा -

कवि के हिन्दी काव्य की भाषा गीत-भाषा है। प्राय: कोमल कान्त पदावली गीतों में प्रयुक्त हुई है। कठोर वर्णो, संयुक्ताक्षरों और लंबे समासों का प्रयोग नहीं किया गया है। अत्यन्त सरल, सहज, भाषानुकूल और प्रवाहपूर्ण भाषा कवि ने

प्रयुक्त की है। संस्कृत के तत्सम, तद्भव, स्थानीय बुन्देली बोली व उर्दू के प्रचलित शब्दों के साथ साथ विदेशी शब्दों का भी प्रयोग इनकी काव्य-भाषा में मिलता है।

संस्कृत शब्द (तत्सम)-

अधर, अमर, रज, ग्रहण, तन, अंबर, पल, चिन्तन, गरल, पथिक, पथ, अन्तहीन, सागर, असीमित, रस, पर्वत, प्रेम, धर्म, साधना, मृंगतृष्णा, अनुराग, छाया, विधि, अनिमेष, भ्रम, स्मृति, आदि।

तद्भव -

आंसू, बूँद, अँखुए, गूंगा, साँस, लेखा, धुंधला, श्राप, भाप, अंगना, बाँह, उजियारा, पन्ने आदि

उर्दू -

सफर, दर्द, अदालत, मजबूरी, फर्ज, तिजोरी, कर्ज, बेजान, जिंदगी, किताब, हद, दुनियाँ।

बोलचाल के एवं बुन्देली शब्द -

चौमासा, बपौती, डगर, मटमैला, गागर, बदरी, सन्नाटा, चिल्लाना, माटी, हाँपना, कइयां (बुन्देली), कैथ (बुन्देली), बेर-मकोरा-सीताफल (बुन्देली) घोंसला-घरघूला आदि

अंग्रेजी व अन्य -

कैरोसिन आइल, स्टॉक, रेट, हाई, पेपर, रिजल्ट, टी.वी., ऑफिस, प्रमोशन, ओवर टाइम, ब्लड प्रेशर आदि।

कल्पना की उड़ान एवम् नयी भाषिक संरचना -

मौलिक काव्य के लिए तथा काव्य में प्रभाव व चमत्कार लाने के लिए कवि नयी काव्य भाषा गढ़ता है, नये मुहावरे तलाश करता है और इनसे अपनी कविता को सजाता है। नसीर परवाज की काव्य-भाषा इससे भरपूर है व समृद्व है। कवि ने यह भाषा गढ़ने के लिए कल्पना की ऊँची उड़ान भरी है। कुछ दृष्य दृष्टव्य है :-

चिन्तन की गरल पिपासा, आभास की शूली पर उपासना, गूंगा, अतीत, थकी-थकी, तनहाई, दीवार, रोई चौमासे पीकर, चीखों के गाँव, आँसू ने पहन लिये दर्द, अंधे शब्दकोष, गूंगा अंधेरा, गूंगी पुस्तकों की भीड़, अपाहिज अंधकार, चुंबन टाँकता है अम्बर आदि।

शैली -

परवाज ने हिन्दी में गीत ही प्रधान रूप से लिखे हैं। गीतों के अतिरिक्त कुछ अतुकान्त कविताएँ और दोहों की रचना भी की है। दोहे कहीं-कहीं शास्त्रीय दृष्टि से दोषपूर्ण हो गये है।

कतिपय उदाहरण -

संभव हो तो रोज ही मुझसे आकर मिल,
आंसू बन बह जाएगा वरना मेरा दिल ॥[36]

पग-पग जलते सूर्य को, अंधियारा भटकाये,
जब भी बांधू जतन से बंधन खुल-खुल जाये।[37]

सहज भाव से जो कहूँ कान खोलकर सुन।
अपनी खुली निगाह से मेरी चिंता चुन ॥[38]

मुझसे मिलना छोड़कर राह कौन अपनाई।
कितनी अंधी हो गयी स्वप्नों की अंगनाई ॥[39]

तेरे कितने रास्ते तेरे कितने घर ।

जग को ठोकर मार दे लेकिन खुद से डर ।।[40]

संकलन में ऐसे 57 दोहे हैं जिसमें छन्दशास्त्रीय दृष्टि से मात्रिक दोष हैं ।

कवि के प्रायः सभी गीत भाव और भाषा की दृष्टि से अत्यंत समृद्व है । कोमलता, सक्षिप्तता, गेयता, प्रवाह ओर प्रभाव गीत की इन विशेषताओं से नसीर परवाज के गीत भरपूर है । कुछ गीतों में अवश्य ही इन विशेषताओं का अभाव है ।

अलंकार

आज की कविता में रस, छंद व अलंकार विधान का पालन करना अब आवश्यक नहीं रह गया है । परवाज की कविता में तलाशने पर यद्यपि शास्त्रीय अलंकारों को खोजा जा सकता है, परन्तु इसके लिए कवि का विशेष आग्रह परिलक्षित नहीं होता ।

प्रदेय -

शायर और कवि-दोनों के काव्य-धर्म का सफलता पूर्वक पालन नसीर परवाज द्वारा किया जा रहा है । हिन्दी गीतकार के रूप में इन्होंने हिन्दी गीत (और नवगीत) को बहुत कुछ प्रदान किया है । हिन्दी उर्दू को पास लाने में इनका महत्वपूर्ण अवदान है । गीतों के लिए, मानव की अंतर्बाह्य प्रकृति के अनुसार विविध विषयों का चयन और फिर उनका गीत और कविता के रूप में सफलतापूर्वक निर्वाह करना नसीर परवेज के काव्य की प्रमुख विशेषता है ।

नसीर परवाज हिन्दी में अच्छा लिख रहे हैं । वे अनुभवशील व प्रौढ़ कवि हैं । हिन्दी साहित्य को उनसे असीम अपेक्षाएँ है ।

मायूस सागरी

परिचय-

नयी पीढ़ी के मुसलमान हिन्दी क़वियों में मायूस सागरी का महत्वपूर्ण स्थान है। इनकी दीर्घकालीन साहित्य सेवा है और सम्प्रति, साहित्य-सृजन मे अहर्निक्ष रत है। रसखान, रहीम, रसलीन आदि मुसलमान कवियों ने हिन्दी में जिस परम्परा को स्थापित किया था, उसी का संवर्द्धन मायूस जी द्वारा किया गया है।

बुन्देलखंड के सागर जिले की बंडा (बेलई) तहसील मुख्यालय में मायूसजी का जन्म हुआ। इसी छोटे से कस्बे में निवासरत मायूस जी प्रचार-प्रसार से दूर रहकर साहित्य सेवा में लीन है। कवि कहानीकार निबंधकार व गजलकार के साथ-साथ आप पत्रकार भी हैं। बंडा में इनका स्वयं का प्रकाशन संस्थान और प्रिंटिंग प्रेस है।

रचनाएँ

मायूस जी की अब तक प्रकाशित पुस्तकों की संख्या सात है। प्रकाशन काल के क्रमानुसार ये निम्नलिखित है :

1. अनुकथन

यह मायूस जी की प्रथम प्रकाशित कृति है। सन 1985 में प्रकाशित इस 60 पृष्ठीय कृति में कवि द्वारा सन् 1981 से सन 1984 तक की रचित मुक्त रचनाएँ हैं। कवि ने इन्हें 'काव्य-लेख' से अभिहित किया है - 'इस विधा का नाम मैंने 'काव्य-लेख' चुना, जो सुबोध, स्पष्ट और दोनों विधाओं का प्रतिनिधित्व बोध कराता है, जबकि - 'अ कविता कहना अस्पष्ट और गूढ़ है। 'काव्य लेख' को मैं मुक्त छंद भी नहीं मानता, क्योंकि अपने नाम के अनुरूप कविता को छंद से मुक्त करना अलग और लय-छंद विहीन कर देना अलग बात है। मेरा ऐसा ही लय छंद विहीन सृजन है यह।''[41]

2. अभ्यास

1980 से 1985 तक के कालखंड में सृजित छोटी बहरों की 44 हिन्दी गजलों का संकलन है यह। इसका प्रकाशन सन् 1986 में हुआ। इन गजलों में कवि की प्रगतिवादी विचारधारा प्रतिबिंबित है। अन्य विषयों को भी कवि ने स्पर्श किया है। इस संकलन के प्रति अपने विचार व्यक्त करते हुए सॉनेर के प्रसिद्ध प्रगतिशील कवि त्रिलोचन शास्त्री ने ग्रंथ की भूमिका में लिखा है - ''मायूस सागरी की गजलें देखकर मुझे हर्ष हुआ। भरसक उन्होंने हिन्दी को गजलों के जरिये संवारा है। इन दिनों हिन्दी में गजल लिखने की प्रवृत्ति जोरों पर है। जहाँ तक मैं देख पाया हूँ, उन गजलों में संवार, निखार और ऊँचाई ढूंढनी पड़ती है और कभी कभी यह मेहनत अकारथ जाती है।''[42]

3. अथ -

सन 1989 में प्रकाशित मायूस सागरी का यह दूसरा गजल संकलन है तथा तीसरी कृति है। गजल के बारे में मायूस सागरी को संस्कारजन्य लम्बी तैयारी मिली। इस गजल संकलन में हिन्दी गजल का निखरा हुआ रूप देखने को मिलता है। विख्यात कवि और सागर विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति श्री शिवकुमार श्रीवास्तव ने 'अथ' की गजलों के बारे में लिखा है - ''उर्दू में काव्य का श्रेष्ठ रूप गजल है। मायूस सागरी ने काफी अच्छी गजलें कहीं है। इधर हिन्दी में गजलें लिखी जाने लगी है और उर्दू के इस काव्य रूप को हिन्दी में सम्मान पूर्ण स्थान मिला है इस परम्परा को मायूस सागरी आगे बढ़ा रहे है।''[43]

4. ''अब अल्फाज बनकर जी रही है इन्दिरा गाँधी''

यह पुस्तक इन्दिरा गाँधी के व्यक्तित्व को समर्पित है। इसको पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की पूर्व प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के प्रति मायूस सागरी में

अटूट श्रद्धा की भावना रही है। इस पुस्तक की शैली उर्दू नजमों की शैली है और भाषा में हिन्दी उर्दू दोनों का समन्वय है। मायूस सागरी ने पूर्व प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी की हत्या के बाद इन नजमों को लिखा था। इसमें उस वातावरण को बदलने का संदेश दिया गया है। जिसके तहत इंदिरा गांधी और उनके जैसे अनेक नेताओं की हत्या की जाती है। इसका प्रकाशन भी सन 1989 में हुआ।

5. मानस की प्रीत -

संत शिरोमणि महाकवि तुलसीदास की पत्नी रत्नावली को लेकर हिन्दी में अनेक श्रेष्ठ काव्य लिखे गये हैं जिनमें मैथलीशरण गुप्त हरिप्रसाद 'हरि' जैसे ख्याति प्राप्त कवियों के काव्य ग्रंथ है, कवि मायूस सागरी ने अपनी इस कृति को रत्नावली नाम न देकर पुस्तक का शीर्षक 'मानस की प्रीत' रखा है, किन्तु वास्तव में पुस्तक रत्नावली पर ही केन्द्रित है। मायूस सागरी ने इस ग्रंथ में महाकवि तुलसीदास के प्रति अपनी श्रद्धा के साथ-साथ बुन्देली की अभिव्यंजना शक्ति का परिचय भी दिया है :-

रत्ना-प्रेमभार ने ढोते
पीर पराई संजोते
जिते ई माटी पै रोजे
राम पै रीजे होते[44]

इस लघुकृत्ति का प्रकाशन काल सन् 1992 है।

6. गुरूदक्षिणा -

यह एक खंडकाव्य है जो 1993 में प्रकाशित हुआ है। गुरूदक्षिणा में गुरू और शिष्य के संबंधों को लेकर कवि ने अपनी आस्था व्यक्त की है। इस खंडकाव्य के बारे में सागर विश्वविद्यालय के पूर्व आचार्य एवं हिन्दी विभाग के अध्यक्ष डॉ. कान्तिकुमार जैन ने लिखा है - ''गुरू शिष्य के संबंधों को नये विश्वास और नयी

ऊजी से गढ़ने का यह प्रयास केवल काव्य की ही सम्पत्ति नहीं है। यह नये समाजशास्त्र की भी आधार शिला है। यह एक कवि की कविता तो है ही एक संस्कृति कर्मी और उदात्त जीवन मूल्यों में विश्वास करने वाली नागरिक कविता भी है।''[45]

7. ब्रजरज -

मायूस सागरी का यह काव्यग्रंथ बुन्देली भाषा या बुन्देली बोली में लिखा गया है। इस ग्रंथ के बारे में कवि ने लिखा है - ''ब्रजरज रची इस भाव दर्पण में प्रेम तपस्विनी राधिका जी योगेश्वर श्रीकृष्ण और आत्मज्य ज्ञानी उद्धव जी की अन्तस छवियों को प्रतिबिम्बित करने का प्रयास किया है। जो निसंदेह कृष्ण साहित्य मर्मज्ञों और बुन्देली के जानकार विद्वानों की आत्मा को झंकृत करेगा और रोम रोम इस सच्चाई के सम्मानार्थ खड़ा होगा।''[46]

प्रसिद्ध कवि एवं फिल्म गीतकार विट्ठलभाई पटेल ने ब्रजरज के बारे में लिखा है - ''ब्रजरज की विशेषता यह है कि कि गीत, गजल और कहानी लिखने वाले भाई मायूस सागरी ने राधा-कृष्ण को बुन्देली में स्मरण किया है। अभी मायूस की ऐसी उम्र नहीं है कि वे धर्म और अधात्म की ओर बढ़ें, लेकिन कहीं न कहीं संस्कार बोलते है और जब बोलते हैं तो कलम से उजागर होते है। कलमकार का धर्म ईमान उसकी कलम की निष्पक्षता होती है। इस संग्रह में पद चौकड़िया, सोरठा, सवैया, धनासरी, गीत, गजल, दोहा आदि के माध्यम से कृष्ण राधा के चरित्र को मर्यादित ढंग से प्रस्तुत किया है। मीरा, सूर और कबीर जैसा भाव हिन्दी साहित्य में दुर्लभ है फिर भी मायूस पूरे आत्मविश्वास और अनूठेपन से कृष्ण लीला का सजीव चित्रण करते है।''[47]

ब्रजराज का प्रकाशन 99-2000 में हुआ। इसमें कवि की पौढ़ता अन्य कृतियों की अपेक्षा अधिक व्यंजित होती है।

मायूस सागरी ने कहानियाँ और अय गद्य रचनायें भी प्रस्तुत की है। किन्तु उनका विवेचन यहाँ अप्रसांगिक है। क्योंकि शोध का विषय केवल काव्य तक ही सीमित है।

समीक्षा

मायूस सागरी ने कविता की विविध शैलियाँ अपनाई हैं। उनके काव्य में भाषिक संरचना में भी विविधता है जिसमें उई, हिन्दी, बुन्देलखंडी का सम्मिश्रण दिखायी देता है। उनके कवि पर कहीं-कहीं उनकी पत्रकारिता हावी होती हुई सी दिखाई देती है और इसीलिए कहीं-कहीं सपाट बयानी मिलती है। काव्य के अलंकरण की ओर कवि का ध्यान बहुत कम गया है। और इसी प्रकार स्वतंत्र प्रकृति चित्रण भी उनके काव्य में कम मिलता है। भाषा के मिश्रित रूप के कारण कहीं-कहीं अनगढ़ता भी दिखायी देती है। मायूस सागरी ने अपनी सतत् रचना शीलता का परिचय अवश्य अपने ग्रंथों के द्वारा दिया है।

जीवन-मूल्यों के प्रति समर्पण

कवि का जीवन-मूल्यों के प्रति मोह है और यह तथ्य उसके भारतीय संस्कृति के उदान्त स्वरूप में विश्वास करने का परिचायक है। वैसे तो 20 वीं शताब्दी के आधे भाग तक आते आते ये आदर्श चरमराने लगे थे। परन्तु अब तो हम आस्थाहीनों की अग्रपंक्ति के लिए अंधी दौड़ लगाने लगे हैं। सारी परम्पराएं समाप्त सी होती जा रही हैं। सारे संबंध बिखर रहे है। भारतीय संस्कृति में सर्वाधिक पावन माने गये गुरु-शिष्य के संबंध दरक रहे हैं। ऐसा इसलिए कि अब न वे 'गोविंद से बड़े गरू' और न ही कृष्ण जैस शिष्य रहे हैं। यह निराशा का वातावरण है तो भयावह, परन्तु इतना नहीं कि हम हताश हो जाएँ। अपने खंडकाव्य 'गुरुदक्षिणा' में कवि ने गुरू की प्रतिष्ठा को पुन:स्थापित करने का प्रयास किया है :-

मानव का विश्वास तुम्हीं हो

युग की अंतिम आस तुम्हीं हो ।

तुमको ही घेरे रहती है -

मानवता बेजार

हे गुरुजन महिमा अपरम्पार ।

संघर्षशीलता

संघर्ष ही जीवन है । बिना संघर्ष किये मनुष्य अपना न तो पथ प्रशस्त कर सकता है और न ही वह मनुष्य कहलाने का अधिकारी हो सकता है। कवि तो संघर्षशील मनुज को देवता भी कहता है -

मुसीबत से निरन्तर जूझता है ।

वो मेरी कल्पना का देवता है ।

दुख वे, उलझन पे आवरण डालो

मन के दर्पण पे आवरण डालो

जीतना हो अगर समर दुख का,

तुम बुझे मन पे आवरण डालो ।

तत्कालीन परिस्थितियों का चित्रण -

कवि अपने समय व समाज का द्दष्टा होता है । अपने समय में होने वाली विभिन्न हलचलों से उसकी भावनाएँ उद्वेलित होती है और वे काव्य बन जाती है । मायूसजी ने अपनी विभिन्न कृतियों में इस उद्वेलित भावनाओं की अभिव्यक्ति की है ।

पढ़-लिख कर भी

बे-रोजगार की मार

अभाव की जिल्लत

और भूख की आग में

जल गया सारा स्वाभिमान

शायद

इसीलिए

वह नौ जवान

नहीं रहा अब

बेकार

क्योंकि अब वह

हो गया है निरीह

और

बिछा बैठा है

अपनी सारी निरीहता

शहर के

भीड़-भरे फुटपाथ पर ।[51]

पेट की भूख व्यक्ति को क्या-क्या करने पर विवश कर देती है । प्रस्तुत रचना में कवि ने अत्यन्त कलात्मक रूप में और ध्वन्यात्मक ढंग से इस विवशता को व्यक्त किया है:

'कलुआ'

नहीं जाता अब

बनिया की दूकान

और

न करता है उससे

इन्कार सुनकर भी

बेहया बन

झुकता सौदा तोलने का

इसरार

क्योंकि

अब जाती है

बनिया की दूकान

उसकी अपनी

जवान वेटी

जो बगैर पैसों के

ले आती है-

एक सप्ताह का राशन ।[52]

मानव निरंतर नैतिक मूल्यों से कटता जा रहा है। जिनसे उसे घृणा करनी चाहिए, वही उसके सगे बनते जा रहे है :

चोरी, डाका हो या ठगी

मानव की हो गयी सगी

टकरा के सत्य से यहाँ

हर कल्पित भावना भगी

हर झूठी वात ही यहाँ

पाओगे सत्य में पगी ।[53]

प्रगतिवादी काव्य -

मायूस सागरी के काव्य में यद्यपि विभिन्न धारायें मिलती है, पर उनका मूल काव्य-स्वर जनवादी चेतना से सम्पृक्त है। उनका प्रगतिवादी चिन्तन समूचे काव्य पर है :

यहाँ तक आ गये हो तो तनिक दलितों से मिल आओ ।

व्यवस्था की विमुख छवि अपनी आंखों देखते जाओ ॥

तुम्हें अपने किये पर खेद है, किंचित न पछताओ ।

अभावों की तिरस्कृत बस्तियां तत्क्षण संवार आओ ।।

व्यवस्था निर्वसन कैसे रहेगी मान भी जाओ

प्रदर्शन-वेश-भूषा त्याग दो-गांधी नजर आओ ।।[54]

= = =

सीख न मानी अभिमानी ने स्यानों की ।

छवि काली कर डाली सब सम्मानों की ।

श्रमजीवी निर्धनता अपने हाथों से -

तोड़ रही है गर्व-शिला धनवानों की ।[55]

= = =

हम कब कहते हैं यह स्वतः हमारी है ।

व्यथा दुखीजन की शब्दों ने धारी है ।।[56]

= = =

जो भी लिखते सच मानो झूठा लिखते ।

हम भूखे मानव को यदि अफरा लिखते ।

उसकी रोटी कर्म साधना का फल है ।

कैसे एक श्रमिक को हम बच्चा लिखते ।।[57]

= = =

'अनुकथन' कृति का तो प्रारम्भ ही दलितों शोषकों से सहानुभूति और उन्हें अन्याय अत्याचार के विरोध में उठ खड़े होने के आह्वान के साथ होता है :-

दलितों !

शोषितों !

कब तक रहोगे

अन्याय के सामने

नतमस्तक ?

कब तक चुराते रहोगे

हालात से आंखें

क्या नहीं जूझोगे स्वयं

शोषण के विरुद्ध

क्या टेकते ही रहोगे

पीढ़ी-दर-पीढ़ी

अन्याय के आगे घुटने ?[58]

प्रकृति चित्रण-

मायूसजी चूंकि प्रगतिवादी विचारधारा के कवि है अतः इनके काव्य में प्रकृति चित्रण प्रायः कम ही हुआ है। वैसे भी प्रगतिशील साहित्य सर्जक यर्थाथवादी होते है। सर्वहारा के दुख के आगे उन्हें प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण का अवकाश ही कहाँ रहता है। मायूस जी ने जो भी प्रकृति के शब्द चित्र उकेरे है, प्रायः ठीक ही बन पड़े है :

गर्मी में ज्वाला बरसाये, सर्दी में जम जाये धूप

वर्षा में देखा है मैंने छुई-मुई सी शर्माये धूप।

जैसे कोई आंख मिचौली खेल रहा हो अपने संग

ऐसे ही मेरे घर-आंगन-चौबारे में आये धूप ॥[59]

हिन्दू धर्म व दर्शन-

मायूस सागरी ने हिन्दू धर्म नायकों पर भी लिखा है, जो निःसंदेह वंदनीय है, अभिनन्दनीय है। ऐसा कर उन्होनें धार्मिक कट्टरपन की शिला को तोड़ने का प्रयास किया है और अपनी उदार-दृष्टि का परिचय दिया है। मायूस जी ने अपने इस लेखन के द्वारा रहीम-रसखान-रसलीन कारे बेग फकीर द्वारा स्थापित परम्परा को पुष्ट

करने का प्रयास किया है । परन्तु स्थापित परम्परा में रसखानादि मुसलिम कवियों के काव्य में भावों की जो गहनता और संवेग है, मायूस जी में नहीं । इनकी कृति- 'मानस की प्रीत' इसका उदाहरण है ।

इनका अपेक्षाकृत प्रौढ़ ग्रंथ 'ब्रजरज' भाव-संवेगों की गहनता की दृष्टि से कहीं सर्वाधिक हृदयग्राही है । सम्पूर्ण ग्रंथ बुन्देली बोली में होने से अतिरिक्त विशेषता रखता है ।

ब्रजरज में पद, चौकड़िया, दोहा-सोरठा, धनाक्षरी, गीत व गजलों के प्रयोगों द्वारा कृष्ण की विभिन्न लीलाओं का गायन किया गया है । इन छंदो में कहीं कहीं अत्यन्त मनोहारी व मौलिक भावों का अंकन कवि द्वारा किया गया है :

कान्हा, मैं गैया तोरी,
भव-वन में भटकन ने दइये- पत रखिये मोरी ।
तेंई लगत निरबल को बल है, तेंई धनी धोरी ।।
कउं वंशी सें ने हांको तो-जग देहे खोरी ।
सुद-गिरमा से बांदे रइयो-ई राधे भोरी ।।[60]

सर्वथा मौलिक उद्भावना है उपयुर्क्त पद में भोली राधा रूपी गाय तुम्हारी है, इसे अपनी सुधियों की रस्सी से बांधकर रखना । हे कृष्ण, इसे यदि आपने इसे वंशी की मधुर ध्वनि रूपी लाठी से हांककर अपनी ओर नहीं किया तो संसार आपको दोष देगा ।

श्याम अब तक नहीं आये । उनकी राह देखते-देखते अब तो आशा भी निराशा में बदलने लगी है । कहने को राधा स्वस्थ दिखायी दे रही है, पर वह हृदय से रुग्ण है - 'मनसा रोग'- प्रेम में विरह का रोग लगा है उसे - अपने मन की बात किससे कहे वह ? किसे मन की पीड़ा सुनाकर हलकी हो -

मोरी आसा भइ भदरंगी

ब्रज, मधुवन सब उसने लग रय-तुम का बिछुरे संगी

मनसा रोग लगो है मोखौं - कैबे खों हों चंगी

सौतों खों सरबस है नेही - राधे छब की तंगी

का के कयं की के भरमायें - चाल चलत बेढंगी ।[61]

मायूस सागरी की 'ब्रजरज' में कवि ने अद्भुत कल्पना शक्ति और काव्य-कौशल का परिचय दिया है। विरह से दग्ध राधा अपनी व्यथा से चिंतित नहीं है। वह कहती है - मुझे तो तू सता रहा है, पर अपनी मां को क्यों 'पेर' (कष्ट) रहा है ? इस पद में बुन्देली शब्द 'पेर' व 'असफेर' शब्दों का अत्यंत सार्थक व मनोरम प्रयोग किया गया है :

कनैया, मैये तो ने पेर,

अपने आठ पहर में से ते, छिन ई खों बी हेर।

ढूंढत फिर रइ ममता मारी महलन के असफेर।

ब्रज आवे सें मथुरा में का हो जैहे अंधेर

कहती सो ब्रज आनें पर है - नहीं देर सबेर।[62]

'ब्रजरत' का मूल भाव व मूल रस विप्रलम्भ है। विप्रलम्भ श्रृंगार की दशों अवस्थाओं में से 'मरण' को छोड़कर शेष का मनोरम प्रयोग ग्रंथ में हुआ है। वस्तुतः ब्रजरज विरह काव्य है, विरह का महाकाव्य है। 'स्मृति' संचारी का एक भावचित्र :

कनैया ! जमुना ढिंग आ जाव।

अपनी रास-सखी के लाने, इत्तौ नें तरसाव,

ऊंसइ मीत कदम्बै बैठौ - ऊसइ चीर चुराव,

ऊसई जबरई माखन खालो - ऊंसइ मोय सताव,

तुम बिन छिन-छिन बड़तइ जा रव - जो मन-बिछरन घाव।[63]

'ब्रजरज' के कथ्य में कहीं-कहीं सूरदास और बिहारी का स्पष्ट प्रभाव कवि ने ग्रहण किया है। भ्रमर गीत लिखते समय तो मायूस सागरी ने कहीं-कहीं सूर की भाव-भंगिमाएँ ही राधा और गोपियों को प्रदान कर दी है। बिहारी के प्रसिद्ध दोहे- 'बतरस लालच लाल की मुरली धरी लुकाय/ सौंह करें भौहनिं हँसे, देनि कहे नट जांय' को मायूस जी ने बुन्देली चौकड़िया में कितने सुंदर ढंग से व्यक्त किया है :

राधा कान्है खीब खिजाबें - बंशी ऐंच लुकाबें,
दैबे हांत बड़ाबें छिनखों - फिर आपइ नट जाबें।
रूप इमरत पीबे के लानें - जबरइं की बतियाबें,
परतइ तन पै नेह फुआरें - तन मन खो सिहरावें।[64]

अन्य अनेक स्थलों पर भी प्राय: परम्परागत कथनों - अनुकथनों को ग्रहण किया गया है यथा- दधि, लीला,गोचारण, बांसुरी को सौत कहना, कुब्जा के प्रति गोपियों व राधा का सौतिया अह युक्त कथन आदि।

मायूस सागरी के 'ब्रजरज' का काव्य परम्परायुक्त होकर भी कहीं-कहीं मौलिक सृष्टि का आभास कराता है। ऐसे अनेक स्थल ग्रंथ में उपलब्ध हैं। यह ग्रंथ भावकाव्य है और भक्ति इसका अभिप्रेत है। यह ग्रंथ पद्य प्रधान ग्रंथ कृष्ण काव्य परम्परा का सुन्दर पुष्प है। इस परम्परा में मात्र भक्ति है और भक्ति प्रेम के अभाव में सम्भव ही नहीं है। यह प्रेम लोकोत्तर है, उदात्त है, एक निष्ठ, एकांतिक, सघन, गहन, अन्तर्भूत और शाश्वत है। यह प्रेम निर्गुण व सगुण दोनों रूपों में समान रूप और सह-अनुभूति द्वारा प्रवाहित होता है। 'ब्रजरज' के पदों में, बुन्देली चौकड़ियों में, इसमें प्रयुक्त अन्य साधनों - दोहों, सोरठों, वार्णिक छंदों एवम् गजलों में इस प्रवाह का सुखद अवलोकन किया जा सकता है।

कला पक्ष-

भाषा -

मायूसजी की काव्य भाषा खड़ी बोली एवम् बुन्देली है। अपनी काव्य-कृतियों - 'अब' और 'अभ्यास' में इन्होंने खड़ी वोली में हिन्दी गजलें लिखी हैं। 'गुरुदक्षिणा' और 'अनुकथन' में भी खड़ी बोली का प्रयोग हुआ है। 'मानस की प्रीत' में खड़ीबोली भी है और बुन्देली भी, जबकि 'ब्रजरज' पूर्णरुपेण बुन्देली बोली का काव्य है। मायूस जी की काव्य भाषा में यत्र-तत्र संस्कृत के तत्सम शब्द और उर्दू के प्रचलित सामान्य शब्दों का मणि-कांचनवत् प्रयोग हुआ है। बुन्देली में इन्होंने जो काव्य रचना की है, उस पर स्थानीय प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। छतरपुर-टीकमगढ़ क्षेत्र में संज्ञापद के अन्त में 'न जोड़कर' बहुवचन का प्रयोग होता है। जैसे - फूल-फूलन, घर-घरन, खेत-खेतन, ढोर-ढोरन, बाग-बागन आदि। सागर-दमोह-जबलपुर क्षेत्र में खड़ी बोली की भांति संज्ञापदों के बहुवचन इस प्रकार प्रयुक्त होते हैं फूल - फूलों, घर-घरों, खेत-खेतों, ढोर-ढोरों, बाग-बागों आदि। मायूस जी की बुन्देली बोली में यही भाषारूप प्राप्त होता है।

शैली एवम छन्द विधान -

विवेच्य कवि किसी एक शैली से नहीं बंधा है। प्रसंगानुसार व्यास-शैली, समास-शैली, परिगणन-शैली, ललित शैली आदि का प्रयोग मायूसजी के काव्य में हुआ है। अनुकान्त छंद, गीत, गजल, और बुन्देली चौकड़ियों के अतिरिक्त शास्त्रीय छंदों - दोहा, चौपाई, सोरठा, सवैया एवम् धनाक्षरी जैसे कार्णिक छन्दों का प्रयोग कवि द्वारा किया गया है। शास्त्रीय छन्दों को यथासंभव निर्दोष बनाने की चेष्टा कवि द्वारा की गयी है, परन्तु कुछ छन्दों में (विशेषरूप से वार्णिक छंद-धनाक्षरी में) वर्ण भंग-दोष परिलक्षित होता है। एक दो छंदो के उदाहरणार्थ प्रस्तुत किया जा सकता है :

गोपी बोली, हमें पतौ - श्याम के सखा हौ तुम,

माता के पिता के सुखै- नाथ ने करे नमन ।

नइं तौ ई गो-धाम में - और को बताव ऊधौ-

कौनउं ऐंसी चीज काँ जो - स्याम कौ लुभाय मन ।

पै हाँ जिनके नेह में - बंदे ने ऊकी मौज खों -

चौंचा दब पुन्न जौ - ब्रज मे खिले सुमन ।

नेह बंधन एंसी - होत जे में बंदे सब-

मुनी लौ ने काट पाय - कर-कर सौ जतन ।।[65]

इन्द्र पूजा रोकबे, कान्हा बोले नन्द से,

बाबा ! गोबरधन की पूजा करबाव नॉ

ई से अपनी गउवें ग्राम वासी फल पात,

का हमाय लाने देत, इन्द्र बताव नाँ ।

नन्द कहे पूजौ जो, गोबरधन ग्वालों नें

इन्द्र कोप सात दिनाँ, सूदें बतयाव नाँ,

कान्हा छिंगरी धरौ, गोबरधन हेर कें

इन्द्र आव नब कें, हेर के अघाव नाँ ।।[66]

उपर्युक्त दोनों छन्दों में वर्ण न्यून और वर्णाधिक्य दोष स्वतः द्रष्टव्य है। इस प्रकार के अनेक छंद है ।

सोरठा छन्द में भी लगता है, कवि ने नया प्रयोग किया है । शास्त्रीय नियमानुसार सोरठा, दोहे का उलट होता है जिसके प्रथम और तृतीय चरण तुकान्त दोनो अनिवार्य हैं, परन्तु द्वितीय और चतुर्थ चरणों में तुकें मिलना आवश्यक नहीं, अंत में लघु-गुरू(15) आवश्यक हैं। मायूस सागरी के समस्त सोरठे शास्त्रीय नियमों का चतुर्थ चरण भी समस्त सोरठे के तुकान्त हैं :-

राधा कौ इक मूल, रोंम-रोंम कान्हा हिलौ ।

राधा छब कौ फूल, कान्हा के अन्तर खिलौ ।।

वे समजत उत्पात, आ गय मूंडै मारबे ।

दोरे-दोरे जात, कान्हा जिनखों तारबे ।।

जब राधा मनुहार , ढरमां ताने देत है ।

कान्हा कौ उपकार, मुसका के सुन लेत है ।।[67]

अलंकार -योजना -

'ब्रजरज' मध्यकालीन-काव्य से प्रभावित है । जब मध्यकालीन काव्य से प्रभावित है, तो मध्यकालीन काव्य के तत्व भी उसमें उपस्थित होने चाहिए, जो उपस्थित है । इन तत्वों में अलंकार योजना भी एक है ।

'ब्रजरज' में अलंकारों को जबरन नहीं ठूसां गया है, अपितु वे सहज रूप से काव्य में आये हैं । उत्प्रेक्षा, रूपक, (सांग, निरंग, परम्परित सहित) वक्रोक्ति, अन्योक्ति, विभावना, यमक, श्लेष और अनुप्रास आदि अलंकारों से 'ब्रजरज' मण्डित है । अन्य कृतियों में अलंकार योजना प्राय: नहीं की गयी है ।

प्रदेय -

मायूस सागरी संभावनाओं के कवि है । जहां एक ओर उनकी दृष्टि वर्तमान परिदृश्य को स्पर्श करती है, वहीं दूसरी ओर मध्यकालीन काव्य परिदृश्य को भी पुर्नजीवित करती है । मायूसजी का महत्वपूर्ण प्रदेय है - अपनी बोली में साहित्य सृजन कर उसे जन-सामान्य के लिए सुगम बनाना । कृष्ण-काव्य-परम्परा में विपुल साहित्य-सृजन हुआ है । मायूस जी के 'ब्रजरज' का उसमें निश्चित ही महत्वपूर्ण स्थान निर्धारित होगा । मुसलमान हिन्दी कवियों की श्रेणी में ये अग्रपंक्ति के अधिकारी है । डॉ. कांतिकुमार जैन ने मायूस सागरी का मूल्यांकन करते हुए लिखा है - ''मायूस सागरी किसी सानी, किसी कलाकार की तरह नहीं लिखते, सीधे-सादे उस आदमी

की तरह लिखते है जिसे अपनी परम्परा से प्यार है, जो अपनी भावना, अपनी सम्वेदना दूसरों से बांटना चाहता है। कोई दूब के बीज बोता नहीं है। पानी का जरा सा सहारा पाकर जैसे दूब हरिया जाती है, वैसे ही मायूस की कविता हमारे मन को हरा-भरा बना देती है।.... मायूस की 'ब्रजरज' की कविता मन से मन की बातचीत है। यह मन राधा का है और कृष्ण का है। राधा और कृष्ण के मनोभावों को प्रकट करने में वे ही कवि सफल हुए हैं जो कला की बारीकियों के फेर में नहीं पड़े। सूर, मीरा, रसखान को लगा, जैसे राधा और कृष्ण के बहाने चिर पुरुष और चिर-नारी के सारे उद्वेगों, संवेगों, आवेगों को जितनी अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है, उतना अन्य तरह नहीं। यदि ऐसा न होता तो पाकिस्तान की परवीन शाकिर और फहमीदा रियाज अपने उर्दू काव्य में राधा और कृष्ण के गीत न गातीं। मायूस के 'ब्रजरज' की राधा और कृष्ण का चित्रण किसी सगुण या निगुर्ण की चिन्ता नहीं करता। प्रेम का जो अजस्त्र स्त्रोत हमारे मन में है, प्रेम की जो सैकड़ों छलियां हर किसी के मन में समाई हुई हैं, मायूस उन्हीं का बड़ी सादगी बड़ी पुरकारी से ब्रजरज की कविताओं में बखान करते है।''

बुन्देल खंड के मुसलमान हिन्दी कवियां में निःसंदेह मायूस सागरी का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

संदर्भ सूची

(1) श्री भैयालाल व्यास, चौबे कालोनी छतरपुर से ली गयी भेंट वार्ता दि. 2/1/04

(2) उदाहरणस्वरूप दिये गये छंद सेवंठा(दतिया) की कहानीकार डॉं कामिनी से प्राप्त।

(3) कवि के व्यक्तित्व व कृतित्व की जानकारी डॉं. कामिनी से प्राप्त।

(4) श्रीमदभगवत गीता (2-12)

(5) मध्यप्रदेश के मुसलमान हिन्दी कवि: श्रीचन्द्र जैन:पृ. 136

(6) श्रीमदभगवत गीता (12-2)

(7) मध्यप्रदेश के मुसलमान हिन्दी कवि: श्री चन्द्र जैन: पृ. 135

(8) श्रीमदभगवत गीता (12-6)

(9) मध्यप्रदेश के मुसलमान हिन्दी कवि: श्री चन्द्र पृ. 135

(10) श्रीमदभगवत गीता

(11) मध्यप्रदेश के मुसलमान हिन्दी कवि : श्रीचन्द्र जैन : पृ. 135

(12) वही, पृ. 139

(13) बिहारी-बिहार:बिहारीलाल : पृ. 58

(14) गीत थकी सांसो के: नसीर परवाज (भूमिका) पृ. 5

(15) वही, पृ. 6

(16) वही, पृ. 47

(17) वही, पृ. 96

(18) वही, पृ. 22

(19) वही, पृ. 23

(20) वही, पृ. 25

(21) वही, पृ. 25

(22) वही, पृ. 88

(23) वही, पृ. 93

(24) वही, पृ. 65

(25) वही, पृ. 55

(26) वही, पृ. 57

(27) वही, पृ. 69

(28) डायरी के पन्ने: नसीर परवाज:पृ. 25

(29) प्रेम बाटिका: रसखान (दोहा क्र. 07)

(30) गीत थकी सांसो के: नसीर परवाज: पृ. 40

(31) वही, पृ. 42.

(32) वही, पृ. 63

(33) वही, पृ. 117

(34) वही, पृ. 119

(35) वही, पृ.122

(36) डायरी के पन्ने: नसीर परवाज: पृ.02

(37) वही, पृ. 03

(38) वही, पृ. 05

(39) वही, पृ. 06

(40) वही, पृ. 44

(41) अनुकथन : मायूस सागरी: (दो शब्दो के बहाने)

(42) अभ्यास: मायूस सागरी (भूमिका:बिलोचन शास्त्री)

(43) अथ: मायूस सागरी (पीठिका: शिवकुमार श्रीवास्तव)

(44) मानस की प्रीत: मायूस सागरी: पृ.28

(45) गुरुदक्षिणा: मायूस सागरी (संस्कृतिकर्मी और उदान्न नागरिक की कविता: कांतिकुमार जैन)

(46) ब्रजरज: मायूस सागरी (संदर्भ: ब्रजरज सृजन)

(47) वही, (दृष्टिकोण: विट्ठलभाई पटेल)

(48) गुरुदक्षिणा: मायूस सागरी: पृ. 24

(49) अथ: मायूस सागरी, पृ.24

(50) वही, पृ. 64

(51) अनुकथन: मायूस सागरी: पृ.73

(52) वही, पृ. 24

(53) अर्थ- मायूस सागरी: पृ.56

(54) वही, पृ. 04

(55) वही, पृ. 05

(56) वही, पृ. 05

(57) वही, पृ. 33

(58) अनुकथन: मायूस सागरी: पृ.11

(59) अभ्यास: मायूस सागरी: पृ. 40

(60) ब्रजरज: मायूस सागरी: पृ. 03

(61) वही, पृ.37

(62) वही, पृ.62

(63) वही, पृ.63

(64) वही, पृ. 67

(65) वही, पृ. 94

(66) वही, पृ. 108

(67) वही, पृ. 135

सप्तम अध्याय

उपसंहार
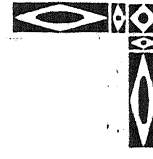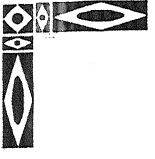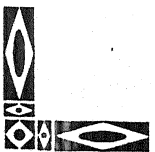
समाज का पथ-प्रदर्शन करने वाले महापुरुषों का कोई धर्म नहीं होता, देश व समाज नहीं होता, कोई जाति नहीं होती। प्राणिमात्र की सेवा उनका धर्म होता है, समूचा विश्व उनका परिवार, समाज और राष्ट्र होता है तथा मानवता ही उनकी जाति होती है। इसीलिए इन्हें धर्म, राष्ट्र व जाति की संकुचित सीमा में आबद्ध नहीं किया जा सकता- यह आदर्श स्थिति है। परन्तु सांसारिक व्यवहार में ऐसा नहीं हो पाता। यही कारण है कि राम-कृष्ण-बुद्ध भारत की, जीसस क्राइस्ट पाश्चात्य देशों की और हजरत मोहम्मद साहब अरब देशों की सीमा-रेखा माने जाते हैं - 'जनता जनार्दन' की दृष्टि में।

कवि एक नये संसार की सृष्टि करता है। वह समाज को नवोन्मेष व नूतन दृष्टि प्रदान करता है। वह सृष्टा व युग-द्रष्टा होता है, अपने काव्य द्वारा वह मानवता का पथ प्रशस्त करता है, अतः कवि भी महापुरुष है - अवतार-पुरुष है। इसीलिए कवियों को भी धर्म व जाति आदि में विभाजित नहीं किया जा सकता। तुलसी-सूर-कबीर मीराँ न हिन्दुओं के कवि हैं और खुसरो, जायसी, रसखान, रहीम न मुसलमानों के कवि हैं। परन्तु धर्म व सम्प्रदायों का जो विभाजन मूढ़ मानव ने कर रखा है, उस दृष्टि से इनके विभेद जातिगत आधार पर हो गये हैं। यदि इस स्थूल रूप को ग्रहण करें तो मुसलमान कवि वे हैं, जिन्होंने मुसलिम होकर हिन्दू देवी-देवताओं, तीर्थों व उनकी संस्कृति में अपनी आस्था व्यक्त करते हुए उसे काव्य-स्वर प्रदान किया है। लगभग डेढ़ हजार वर्ष से हिन्दू-मुसलमान इस देश में साथ-साथ रहते आ रहे हैं। इन दोनों ने इस दीर्घावधि में परस्पर संघर्ष भी किये और दोनों गले भी मिले। गले मिलने-मिलाने की इस सकारात्मक क्रिया में मुसलमान कवियों की महत्वपूर्ण एवम् अविस्मरणीय भूमिका रही है। ये

मुसलमान कवि देश के विभिन्न क्षेत्रों के थे, पर आज भी सम्पूर्ण देश इनके काव्यामृत से उपकृत हो रहा है।

हिन्दी साहित्य के आदिकाल, भक्तिकाल रीतिकाल एवम् आधुनिक काल में न्यूनाधिक मुसलमान कवि हुए हैं। अपने युगानुरूप इन सबने हिन्दी कविता को अपना अवदान दिया है। आदिकाल के अमीर खुसरो महत्वपूर्ण कवि हैं तो भक्तिकाल के जायसी-कुतुबन-मंझन और कबीर। रीतिकाल में रसलीन, आलम व कारे कवि हुए हैं, तो आधुनिक काल में मंजर, मीर व मुंशी अजमेरी आदि। रहीम व रसखान दो ऐसे नाम हैं जिनके उल्लेख के बिना समूचा हिन्दी-साहित्य ही अधूरा है। ये दोनों नाम वस्तुतः भक्तिकालीन शुभ्रध्वज के ध्वजदण्ड हैं।

भक्ति आंदोलन जब प्रारम्भ हुआ तो उसमें मुसलमान कवियों ने भी अपनी काव्य-समिधाएँ दीं। भक्ति-आंदोलन को सफल बनाने में इन कवियों का बहुत बड़ा योगदान रहा। हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखते समय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तीन प्रकार की भक्ति का उल्लेख किया - प्रेममार्गी (सूफी), ज्ञानमार्गी (निर्गुण) और सगुण। मुसलमान भक्त-कवियों की काव्य-साधना के भी ये तीनों रूप रहे हैं। भक्ति आंदोलन में निर्गुण की अपेक्षा सगुण रूप को अधिक लोकप्रियता प्राप्त हुई और सगुण में भी राम काव्य की अपेक्षा कृष्ण-काव्य को। मुसलमान कवियों का मन जितना कृष्ण-लीला के शब्दांकन में रमा उतना राम-चरित में नहीं। इसका कारण राम का राजसी और मर्यादित चरित्र था। इसके विपरीत कृष्ण लोकनायक थे और जन-जीवन से सीधे-सीधे जुड़े थे।

भक्ति-काल के कंसारि योगेश्वर कृष्ण-रीतिकाल में नटवर नागर और रसिक-शिरोमणि हो गये। मुसलमान कवियों ने भी युगधारा के अनुरूप कृष्ण के स्वरूप को 'राधा माधव' रूप को चित्रित किया। रीतिकाल के मुसलमान कवि एक बात में अवश्य ही भिन्न हैं कि इन्होंने - 'आगे के सुकवि रीझि हैं तो कविताई, न तु राधिका-कन्हाई सुमिरन को बहानो है' - के बहाने से कविताई नहीं की, अपितु हृदय से कृष्ण-

चरित को अंकित किया - भाव-विह्वल होकर - ''कृष्ण-काव्य की मधुरता, रूप-माधुरी, लोक-जीवन से सम्बद्ध, चारा कुछ को अपने भीतर समेटने की चाहत में कृष्ण के उस सौंदर्य और उनकी दिनचर्या में समाहित हो गयी। यहां लोकलाज का तिरस्कार तक मिलता है। इस कृष्ण माधुरी ने मुसलमान कवियों को भी अपनी ओर आकृष्ट किया। कृष्ण-भक्ति की काव्य-भाषा कृष्ण की लीला-भूमि में अठखेलियाँ करती ब्रजभाषा ही रही। भक्ति के प्रचार-प्रसार के साथ ब्रजभाषा का व्यापक और सघन प्रचार हुआ, जिसकी मिठास आज तक सुनते आ रहे हैं। इस लोकरंजन में प्रबंधत्व के स्थान पर मुक्तक और गीत रचे गयें। कृष्ण की लोकरंजक लीलाओं ने हमें उल्लास और व्यथा से सींचा। यह अकारण नहीं कि मुसलमान कवि इसी ओर आये और अपने को कृष्णभक्ति में तिरोहित कर दिया। राममार्गी भक्ति-धारा की ओर लगभग कोई मुसलमान कवि फटकने तक नहीं गया। हो सकता है, यह परम्परा से प्राप्त सूफी प्रेमधारा से उसके तंतु नहीं जुड़े हों बल्कि ये तन्तु कृष्णभक्ति से जुड़ गये हों ...।''[1]

बुन्देलखण्ड क्षेत्र और बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी कवि

बुन्देलखण्ड देश का हृदयस्थल है। इसकी भौगोलिक सीमाएँ वर्तमान मध्यप्रदेश और उत्तरप्रदेश के कुछ जिलों तक फैली हुई हैं। इनमें मध्यप्रदेश का सम्पूर्ण सागर संभाग, भोपाल-होशंगाबाद संभाग के कुछ जिले, जबलपुर तथा ग्वालियर संभाग के कुछ जिले व क्षेत्र समाहित हैं। इसी प्रकार उत्तरप्रदेश का सम्पूर्ण झाँसी मण्डल तथा आसपास का कुछ क्षेत्र इसमें समाहित है। प्राचीनकाल व मध्यकाल में बुन्देलखण्ड की राजनैतिक सीमाएँ परिवर्तित होती रही हैं और इसके साथ ही इसके नाम भी बदलते रहे हैं। पूर्व व मध्यकाल में बुन्देलखण्ड खण्ड-खण्ड विभाजित था, आज भी है। पूर्व में चेदि, दशार्ण, निषद आदि नामों से बुन्देलखण्ड के भिन्न भिन्न क्षेत्र जाने जाते थे तो मध्यकाल में जुझौतिप्रदेश, जेजाकभुक्ति आदि संज्ञाएँ इसे प्राप्त हुईं। आधुनिक काल में भी यह एक स्वतंत्र भौगोलिक व राजनीतिक इकाई के रूप में स्थापित न हो सका।

बुन्देलखण्ड दैहिक रूप से भले ही खण्ड-खण्ड रहा हो, पर इसकी आत्मा कभी विखण्डित नहीं हुई। इसके रीति रिवाज, मान्यताएँ, धर्म, बोली, आचार-विचार-खान-पान आदि समूचे क्षेत्र में अखण्डित रहे। बुन्देलखण्ड का अस्तित्व, उसकी पहचान-उसके भौगोलिक व राजनैतिक स्वरूप से नहीं है, अपितु कढ़ी-बरा में हैं, परदनी और खचउपनइयाँ में हैं, रमतूला और नगड़ियां में है। जवारों, नारे सुअटा व बुड़की के लमटेरा की तानों में हैं। इसकी पहिचान खजुराहो-देवगढ़-कालिंजर में हैं। धसान और बेतवा की कल-कल करती लहरों में है। बुन्देलखण्ड की पहचान आल्हा-ऊदल-छत्रसाल-दुर्गावती की तलवारों से है। इसकी पहचान यहाँ के वन-गिरि-केशव-गंगाधर व्यास, कारे बेग और मंजर से है। यहाँ की पहचान-कारसदेव, ग्वालबाबा, घटोइया बाबा, भुमानीमाता देवी दुर्गा से है। यह है बुन्देलखण्ड की वास्तविक पहचान, बुन्देलखण्ड का वास्तविक स्वरूप। यहां की मिठास तो इनमें हैं -

बेर-मकोरा-गुली करोंदा महुआ बड़ी मिठाई।
इनको स्वाद जो लेने हो तो बुंदेलखण्ड में करो सगाई॥

बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी कवि

अब तक की खोजों और अन्वेषणों से एक तथ्य उभरकर आया है कि आदिकाल में बुन्देलखण्ड में कोई मुसलमान हिन्दी कवि नहीं हुआ। यद्यपि आदिकाल में मुसलमान शासकों का कुछ प्रवेश और कालान्तर में हस्तक्षेप बुन्देलखण्ड में हो चुका था।

बुन्देलखण्ड के प्रारम्भिक मुसलमान हिन्दी कवि के रूप में तानसेन का प्रमुख और प्रधान नाम है। इन्होंने कुछ पदों की रचनाएँ की हैं, परन्तु ये संगीत के विभिन्न राग-रागनियों के रूप में उदाहरणस्वरूप प्रस्तुत किये गये हैं। तानसेन मूलतः हिन्दू थे, जिन्होंने कालान्तर में इसलाम धर्म स्वीकार कर लिया था और वे मुसलमान हो गये थे।

मध्यकाल में बुन्देलखण्ड में अनेक मुसलमान कवि हुए, जिन्होंने हिन्दी की श्रीवृद्धि की। इन कवियों में ऐनसांई, कारे बेग फकीर तथा महबूब के नाम उल्लेखनीय हैं। ऐनसांई सूफी संत कवि थे, फिर भी इन्होंने सगुण राम-कृष्ण को भी अपने ग्रंथों में समाहृत किया है। इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हुई हैं।

कवि कारे बेग फकीर की कविताएँ अत्यन्त भावुक और मार्मिक हैं। इनकी सम्पूर्ण रचनाओं व इनके व्यक्तित्व की खोज होना अब भी शेष है।

जहां कारे बेग फकीर की रचनाएँ दैव्य से परिपूर्ण हैं, वहीं महबूब व्यक्तित्व और कृतित्व भी अब तक तिमिराच्छादित है, जिसे शोध-कार्य की आवश्यकता है। महबूब की रचनाओं में रसखान के भावुक हृदय की प्रतीति होती है।

आधुनिक काल में भी बुन्देलखण्ड में मुसलमान कवियों ने हिन्दी काव्य की पुरातन परम्परा को जीवित रखा। आधुनिक काल के मुसलमान हिन्दी कवियों में मुंशी अजमेरी, अब्दुल रहमान मंजर, नबीबख्श 'फलक', सुबहान बख्श, वजीर मोहम्मद, सादिक अहमद सादि, नसीर परवाज, निहाल तावाँ, शमीम, रफत अधीर (शिवपुरी), मोहम्मद नईम सिद्दीकी (कोलारस-शिवपुरी), मायूस सागरी (बण्डा-सागर) आदि के उल्लेखनीय नाम हैं। आधुनिक मुसलमान हिन्दी कवियों के सिरमौर राजकवि मुंशी अजमेरी बुन्देलखण्ड के गौरव थे। मंजर, मीर (देवरी) फलक, सुबहान बख्श उस काल के कवि हैं जब हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग, छायावादी युग, प्रगतिवादी युग और प्रयोगवादी युग चल रहा था। मायूस सागरी, रफत अधीर, मोहम्मद नईम सिद्दीकी भी हिन्दी में अच्छा लिख रहे हैं और ये संभावनाओं के कवि हैं। ये समस्त कवि बुन्देलखण्ड के हैं और अपनी रचनाओं में बुन्देली संस्कृति की झलक दिखा ही देते हैं। मायूस सागरी की कृति - 'मानस की प्रीत' में विशुद्ध बुन्देली बोली में कुछ दोहे, चौपाइयाँ एवं चौकड़िया हैं। 'ब्रजरज' तो सम्पूर्ण ग्रंथ ही बुन्देली में है। रफत अधीर यद्यपि मूलतः खड़ी बोली के कवि हैं व श्रृंगार उनका प्रमुख प्रतिपाद्य है फिर भी बुन्देली के प्रभाव से ये अछूते नहीं हैं। यद्यपि यह प्रभाव अल्प ही है। मोहम्मद नईम सिद्दीकी

मूलतः बुन्देलखण्ड (जिला जालौन, ग्राम-कोटरा) के निवासी हैं इसीलिए इनके गीतों में बुन्देली का पूर्ण प्रभाव है। इसके साथ ही श्री नईम ने विशुद्ध बुन्देली में भी काव्य-सृजन किया है। 'बुन्देली माटी' शीर्षक से इनके संकलन में 22 बुन्देली गीत हैं।

मुसलमान कवियों के काव्य में बुन्देली शब्दों का प्रयोग

'बुन्देली' हिन्दी भाषा की एक बोली है, परन्तु विभिन्न क्षेत्रों में इसे विविध रूपों में बोला जाता है और तदनुसार लिखा भी जाता है। जार्ज ग्रियर्सन ने अपने ग्रंथ - 'भारत का भाषा सर्वेक्षण' में बुन्देली के चार प्रकार प्रामाणिक बुन्देली, पँवारी, लोधन्ती एवम् खटोला - बताये हैं। इन चार प्रमुख प्रकारों के अतिरिक्त बनाफरी (उत्तर-पूर्वी बुन्देलखण्ड व पश्चिम बघेलखण्ड)। कुण्डरी (हमीरपुर बांदा तथा केन के किनारे प्रचलित) तथा निभट्टा (जालौन) बोलियां भी बुन्देली बोली के उपरूपों के रूप में प्रचलित हैं।[2]

प्रामाणिक बुन्देली बोली के प्रमुख केन्द्र झाँसी, सागर, टीकमगढ़, ओरछा, छतरपुर आदि हैं। छतरपुर के बिजावर तथा पन्ना के आसपास के क्षेत्र, चरखारी आदि के आसपास बुन्देली का 'खटोला' रूप प्रचलित है। हमीरपुर जिले के उत्तरी-पश्चिमी भाग तथा जालौन के निकटवर्ती उरई परगने में लोध जाति की बहुलता के कारण यहां की बुन्देली को लोधन्ती कहा जाता है।[3] दतिया जिले के कैरुवा, उनाव, बड़ौनी, दिगुवाँ उचाड़ आदि क्षेत्र में बुंदेली का पंवारी रूप व्यवहृत होता है।[4]

बुन्देलखण्ड के इन क्षेत्रों में बुन्देली बोली के जो रूप प्रचलित हैं, उन क्षेत्रों के कवियों के काव्य में उसी रूप के शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये शब्द जीवन के विविध कार्य-व्यापारों से सम्बद्ध हैं।

बुन्देली बोली के शब्दों का विश्लेषण करने पर विदित होता है कि बुन्देलखण्ड के आधुनिक मुसलमान कवियों की अपेक्षा मध्यकालीन कवियों ने बुन्देली शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में कम किया है। इसका कारण यह है कि उस समय काव्य-भाषा

ब्रज थी और कवि इसी भाषा की ओर आकृष्ट थे। बुन्देलखण्ड के मुसलमान कवि क्या, सभी कवियों ने बुन्देली छोड़ ब्रज में काव्य रचना की। ईसुरी, गंगाधर व्यास तथा घासीराम की भांति इन्होंने पूर्णरुपेण बुन्देली भाषा को अपने काव्य की भाषा नहीं बनाया। आदिकाल में बुन्देलखण्ड में किसी मुसलमान कवि के होने का पता नहीं चलता, पर इस काल में बुन्देली एक समर्थ बोली का रूप ले चुकी थी। 'परमाल रासो' की पूरी काव्य-भाषा ही बुन्देली है।

मध्यकाल के मुसलमान हिन्दी कवियों ने ब्रज के प्रभाव को ग्रहण किया। अब यह बात अलग है कि बुन्देलखण्ड के निवासी होने के कारण कुछ बुन्देली शब्दों का प्रसंगवश अथवा स्थानीयता के कारण प्रयोग हुआ हो। प्रसिद्ध संगीतज्ञ तानसेन की प्रसिद्धि संगीत के कारण है। पर उनकी कविता में बुन्देली का सर्वथा अभाव है। तानसेन बुन्देलखण्ड में जन्में अवश्य थे, पर उनका पूरा समय अकबर-दरबार में व्यतीत हुआ अतः उनके काव्य में खड़ी बोली और ब्रज का प्राधान्य होना स्वाभाविक है।

मध्यकाल के अन्य हिन्दी मुसलमान कवियों में भी यही प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। आलीपुरा के मध्यकालीन कवि महबूब भी ब्रज-भाषा पथ के पथिक थे। परन्तु इनकी कविता में कुछ सीमा तक बुन्देली शब्द और उसके व्याकरणिक रूप प्राप्त होते हैं। 'ग्वालन' (ग्वालों), अँगोछन (अँगोछो), सुरन (सुरों), टेर (बुलाना) जैसे शब्द प्रयुक्त हुए हैं।

कवि ऐनसांई का काव्य-क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है और वैसी ही है उनकी काव्य-भाषागत विविधता। इनकी कुण्डलियाँ अत्यन्त लोकप्रिय हैं और इनमें अनेक प्रकार के बुन्देली शब्दों का प्रयोग हुआ है, यद्यपि इनकी मूल काव्य-भाषा ब्रज ही है। आपई (स्वयं से), नाईं (नहीं), ऐसेईं (ऐसे ही), निरभै (निर्भय), मूंड (सिर), मरजाद (मर्यादा), ठीकरा (कटोरा), किरिया (क्रिया), पतरे (पतले), मोपर (मुझ पर), दई (दीन्हीं), कै जात (कह जाते हैं) आदि सैकड़ों शब्द बुन्देली के प्रयुक्त हुए हैं।

कारे बेग फकीर की कविता परिमाण में प्रचुर नहीं है। जो भी कवित हैं, वे मिश्रित हैं, अर्थात् ब्रज, उर्दू, खड़ी बोली एवं बुन्देली का संगम। उर्दू के प्रचलित शब्दों को बुन्देली प्रकृति के अनुसार प्रयुक्त किया गया है जैसे - ज्वाब या ज्वाप (जबाब), जिनगी (जिंदगी), मुल्क (मुलक) जबान (जुवान) तखत (तखत) फिक्र (फिकर) आदि। इन शब्दों के अतिरिक्त मूल बुन्देली शब्द भी इनके काव्य में उपलब्ध हैं जैसे - करी (की), ए हो (संबोधन वाचक), पांवड़े, गरे (गले) तो लौ (तब तक), जो लौ (जब तक) आदि। किन्तु, एक बात निश्चित है कि कारे कवि के काव्य में बुन्देली शब्दों का प्रयोग कम हुआ है।

आधुनिक कवियों ने भाषा सुधार एवं भाषा-परिष्करण-आंदोलन के कारण खड़ी बोली में लिखना प्रारम्भ किया। देश के एक भाषा-निर्माण के लिए तो यह शुभ रहा, पर क्षेत्रीय बोलियों के लिए घाटे का सौदा निरूपित हुआ। आधुनिक काल के प्रारम्भिक चरणों में तो ब्रजभाषा में काव्य-लेखन की धूम रही, परन्तु धीरे-धीरे यह भी समाप्त हो गयी। जो ब्रज बोली कभी सम्पूर्ण हिन्दी साहित्याकांश में व्याप्त थी, वह काल-प्रभाव के कारण संकुचित होकर ब्रज-प्रदेश तक सीमित रह गयी। हिन्दी खड़ी बोली के समृद्ध होने पर क्षेत्रीय बोलियों के प्रति रचनाधर्मियों का प्रेम उमड़ा, फलतः बुन्देली को गति प्राप्त हुई और इसमें साहित्य-लेखन के साथ-साथ व्यापक स्तर पर शोध कार्य भी होने लगे। यही कारण है कि मध्यकालीन बुन्देलखण्ड के हिन्दी-मुसलमान कवियों के काव्य में बुन्देली बोली के शब्दों की बहुलता नहीं है और आधुनिक कवियों में यह प्रवृत्ति है। इन्होंने खड़ी बोली में काव्य-रचना करने के साथ-साथ बुन्देली में भी साहित्य सृजन किया। राजकवि मुंशी अजमेरी, वजीर मोहम्मद, सुबहान बख्श आदि ने अपनी काव्य-साधना हेतु यही पथ ग्रहण किया, जबकि अब्दुल रहमान मंजर, मीर अली मीर, सादिक अहमद सादिक ने विशुद्ध खड़ी बोली में अपने काव्य का प्रणयन किया।

मुंशी अजमेरी की खड़ी बोली कविताओं में तिकोनी (त्रिकोण), बरोनी (भौहें), तमाखू (तम्बाकू), मूसर (मूसल), मउवा (महुआ), मड़वा (मण्डुप) आदि सैकड़ों बुन्देली शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इनकी बुन्देली में लिखित कविताएँ तो बुन्देली शब्दों का संग्रह सा है जिसमें ऐसे अनेक शब्द प्रयुक्त हुए हैं जो अल्पज्ञात हैं या बुन्देली में कम प्रयुक्त होते हैं।

बजीर मोहम्मद ने खड़ी बोली में कम लिखा है। इन्होंने बुन्देली में ही अधिकांश काव्य-रचना की है। इन्होंने विशुद्ध बुन्देली शब्दों के अतिरिक्त संस्कृत के तत्सम व उर्दू के शब्दों को बुन्देली की प्रकृति के अनुसार ढालकर उनका प्रयोग किया है। ऐसे कतिपय शब्द उदाहरणार्थ प्रस्तुत किये जा सकते हैं :-

(संस्कृ.)	वज्र	-	बज्जुर
(बुं.)	उनको	-	उनका
(बुं.)	कूरा	-	कूड़ा
(बुं.)	भलई	-	भले ही
(बुं.)	बैलन	-	बैलों की
(बुं.)	ठांड़ी	-	खड़ी
(बुं.)	चपिया	-	छोटा घड़ा
(उर्दू)	जिंदगी	-	जिंदगानी

सतुआ, लुचई, चुटकी, गुठला, टपरा, ढला-चला जैसे अन्य अनेक शब्द इनके काव्य में व्यवहृत हुए हैं।

मायूस सागरी की काव्यकृति - ब्रजरज तो पूर्णरुपेण बुन्देली में ही है। इनकी अन्य कृतियों - मानस की प्रीत व अब आदि में भी बुन्देली बोली में लिखित छन्द व बुन्देली के शब्दों का प्रयोग हुआ है। इनकी बुन्देली बोली में स्थानीयता का गहरा रंग है। भोजन, वेश-भूषा, धर्म, राजनीति, कृषि, वाणिज्य, विभिन्न भावनाएँ, कृषि

उपकरण व विभिन्न उत्पाद, रोजमर्रा के जीवन से जुड़ी वस्तुएँ तथा जीवन के विभिन्न क्रिया कलापादि के लिए बुन्देली में जो शब्द हैं, उनका सटीक प्रयोग मायूस सागरी की कविता में उपलब्ध है। ठेठ बुन्देली शब्द - गड़ेल (लौकी), फदक (चिकनी तोरई), घुइयां (अरबी), लुचईं (पूड़ी), पिसी (गेहूँ), जुनई (ज्वार) आदि खाद्य पदार्थों व कृषि उत्पादों के साथ-साथ पनइयां (पनही-जूते), परदनियां (धोती), पोलका, सलूका (ब्लाउज), स्वापा (साफा), पिछोरा (चादर), पल्ली (रजाई), गेडुंआ (तकिया), कथूला (गद्दा), अँगोछा (तौलिया) आदि शब्दों का प्रयोग मायूसजी के काव्य में है।

भावों की सटीक अभिव्यक्ति में बुन्देली अत्यन्त प्रभावी व समृद्ध बोली है। इसका विपुल शब्द-भण्डार है। बुन्देलखण्ड के हिन्दी मुसलमान कवियों ने इस बोली में काव्य-सृजन किया, इस बोली के शब्दों को अपने काव्य में स्थान दिया। इससे बुन्देली समृद्ध हुई और दूसरा शब्द भण्डार बढ़ा। इस दृष्टि से इन कवियों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

मुसलमान कवियों के काव्य में बुन्देली संस्कृति की झलक

संस्कृति, मानव की अंतर्वृत्तियों की बाह्य कलात्मक अभिव्यक्ति है। मनुष्य के आचार-विचार, सोच, खान-पान वेशभूषा, साहित्य कला-धर्म-दर्शन-आदि संस्कृति के तत्व हैं। समय परिवर्तन का प्रभाव न्यूनाधिक रूप से संस्कृति पर भी होता है और उसमें स्पष्ट बदलाव नजर आने लगता है, यद्यपि उसका मूलस्वरूप विकृत नहीं होता, वह अनेक थपेड़ों को झेलते हुए भी अचल रहता है। भारतीय संस्कृति में माता-पिता-गुरू-बहनोई-बड़े भाई आदि के चरण स्पर्श करने की परम्परा है जो हजारों वर्षों से चली आ रही है। विदेशी प्रभाव के कारण भले ही अब हाथ मिलाना प्रलन में आ गया हो, परन्तु चरण-स्पर्श की परम्परा अब भी बहुसंख्यक भारतीय समाज में है। हमारी दान देने की परम्परा को तो आज अच्छी-अच्छी प्रगतिशील विचारधाराओं की सरकारें भी प्रोत्साहित कर रही है - ये कतिपय उदाहरण संस्कृति के अपरिवर्तनशीलता के हैं।

बुन्देलखण्ड की संस्कृति लोक-संस्कृति है। लोक जीवन का समग्र चित्रण इस संस्कृति में परिलक्षित होता है। जन्म, जन्म के समय के विभिन्न संस्कार, नेग-चार, विवाह, विवाह के समय की विभिन्न रीतियां व क्रियाएँ, मेले, विभिन्न पर्वोत्सव व धार्मिक संस्कार, कृषि कार्यों से संबंधित क्रियाएँ आदि अनगिनत ऐसे विषय हैं, जो बुन्देलखण्ड की संस्कृति का निर्धारण करते हैं। बुन्देलखण्ड के मुसलमान कवियों ने अपने हिन्दी काव्यों में इन सबका अच्छा चित्रण किया है।

किसी क्षेत्र-विशेष की संस्कृति के उतार-चढ़ाव का दिग्दर्शन उस क्षेत्र में व्यवहृत भाषा द्वारा होता है। लोक संस्कृति विशेष रूप से बुन्देली लोक संस्कृति के विशेषज्ञ डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त का मानना है कि - ''जनपदीय भाषा या बोली जनपद की राजनीतिक, सामाजिक और सांस्कृतिक चेतना की माध्यम होती है। लोक-संस्कृति गतिशील होती है, इसीलिए उसमें कुछ न कुछ परिवर्तन स्वाभाविक है। किन्तु लोकभाषा जनपद के इतिहास और संस्कृति के स्वरूप की संतत साक्षी होती है, इसीलिए जनपद की सीमाएँ लोकभाषा क्षेत्र से निर्धारित हुआ करती है।''[5]

बुन्देलखण्ड के मुस्लिम कवियों ने हिन्दी में जो लिखा उसमें बुन्देलखण्ड जनपद की मनोरम और मधुरिम तस्वीर है। कारे बेग फकीर जब भाव-विह्वल होकर श्रीकृष्ण को - ''हिन्दुन के नाथ हो तो मेरा कुछ दावा नहीं, जगत के नाथ तो हमारी सुधि लीजिए'' - जैसा उलाहना देते हैं, तो निश्चित ही वे उनके सम्मुख ओरछा की गणेशकुँवरि महारानी की वह गाथा सजीव हुई होगी, जब रामलला ने अपने भक्त की टेक पूरी की थी और अयोध्या से आकर ओरछा विराज गये थे। यह बुन्देलखण्ड में ही संभव था।

मुंशी अजमेरी ने तो मुक्त हृदय से बुन्देली संस्कृति का गुणगान किया है :-

चंदेलों का राज्य रहा चिरकाल जहाँ पर,
हुए वीर नृप गण्ड, मदन परमाल जहाँ पर।
बढ़ा विपुल बल विभव बने गढ़ दुर्गम दुर्जय,

मंदिर महल मनोज्ञ सरोवर अनुपम अक्षय ।

वही शौर्य सम्पत्तिमयी कमनीय भूमि है,

यह भारत का हृदय रुचिर रमणीय भूमि है ।

= = =

गढ़ ग्वालियर सुदृढ़ कोट नामी कालिंजर,

दुर्गम दुर्ग कुड़ार कठिन कनहरागढ़ नटवर ।

छोटे-मोटे और सैकड़ों दुर्ग खड़े हैं,

मानों उस प्राचीन कीर्ति के स्तंभ गढ़े है ।

दुर्ग मालिकामयी दीर्घ दृढ़ अंग भूमि है,

अरि दर्पहन बुन्देलखण्ड रण रंगभूमि है ।[6]

बुन्देलखण्ड की संस्कृति में 'भैयाबन्दी' का महत्वपूर्ण स्थान है । इसी 'भैयाबन्दी' के कारण बुन्देलखण्ड संमरसता का केन्द्र है । यहाँ द्वेष-भावना को कोई स्थान प्राप्त नहीं है । हिन्दू-मुसलमान और मंदिर-मसजिद में यहाँ कोई अन्तर नहीं । नबीबख्श 'फलक' यही कहते हैं :-

राम या रहीम रहमान का न भेद मान,

मंदिर में मसजिद में रोज रोज जाता हूं ।

आयतें कुरान की खुशी से पढ़ता हूँ यथा,

वेद औ पुरान के तथैव गीत गाता हूँ ।

मेरे यहां काशी और कावा में न भेदभाव,

साधुओं फकीरों से प्रसन्नता दिखाता हूँ ।

हिन्द की जुबान-हिन्दी-उर्दू का गुमान मुझे,

दतिया निवासी कवि 'फलक' कहाता हूँ ।

बुन्देलखण्ड में दान-पुण्य और तीर्थ-यज्ञादि धार्मिक कर्मकाण्डों का अत्यन्त

महत्व रहा है। 'फलक' ने बुन्देली संस्कृति के इस पक्ष को भी अपने काव्य द्वारा व्यक्त किया है -

करि लै नादान दान पुण्य तीर्थ यज्ञ जाप,
सीधी कर राह बस शीघ्र निज धाम की।
छोड़ अभिमान और तज दै गुमान मूढ़,
बन ना अजान माला फेर हरिनाम की।
करिके सिंगार जहि पोषत फलक नित्य,
जूती तू बनेगी नाहिं ताके कबौ चाम की।
सम्पत्ति करोरन की कष्ट करि पैदा करी,
जैहे सो न तेरे साथ रैहे नही काम की।''

बुन्देलखण्ड की लोक संस्कृति के कुशल चितेरे वजीर मोहम्मद ने बुन्देली लोक-जीवन का जैसा सजीव चित्रण किया है, वैसा कम ही कवि कर सके हैं :

करके बैला की जब सानी,
रोटी लयँ ठांड़ी सबरानी।
ठण्डौ चपिया में भर पानी,
सूखी रोटी पै जिन्दगी किसान की।
बुन्देलखण्ड के प्रिय खाद्य - सतुआ का एक चित्र -
सतुआ लगै लुचई से प्यारो।
थोरे से टाठी भर जावै जो चुटकी भर डारो
भोरई प्रेम से जीको खाएँ, का बूढ़ो का बारो
जीभ लगातन नीचे जाबे, जा में बड़ो उआरो।

मायूस सागरी ने 'ब्रजराज' के द्वारा भले ही ब्रज, ब्रजवासियों, ब्रजप्रदेश व ब्रजाधीश का गायन किया हो, परन्तु इसके माध्यम से इन्होंने बुन्देलखण्ड की संस्कृति से भी तादात्म्य स्थापित किया है। सच तो यह है कि कोई भी कवि अपनी माटी से कटकर नहीं रह सकता। बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी कवियों ने भले ही ब्रज या

खड़ी बोली में अपनी काव्य-रचना की हो, परन्तु वे बुन्देली संस्कृति को भूले नहीं। बुन्देली संस्कृति प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष किसी न किसी रूप में इनके काव्य में परिलक्षित हुई।

सारांश -

बुन्देलखण्ड में मध्यकाल से लेकर अब तक जो मुसलमान कवि हुए हैं उन्होंने अपने काव्य द्वारा हिन्दी एवं बुन्देली के काव्य भण्डार की श्रीवृद्धि की है। बुन्देली संस्कृति को इन्होंने आत्मसात किया है और इसके गौरव को शोभा प्रदान की है। इन्होंने मानवता का सम्मान करना सिखाया है। आज चारों ओर असमानता, अर्थलोलुपता, विकृत मानसिकता और चमक-दमक पर दुनिया फिदा है, रिश्ते टूट रहे हैं, मानवीय संवेदनाएँ शनैः शनैः लुप्त होती जा रही हैं, इतिहास, धर्म शिक्षा और संस्कृति प्रदूषित हो रही है, धर्म और सम्प्रदाय के नाम पर निर्दोषों का लहू बह रहा है और मनुष्यत्व खतरे में है। ऐसे समय में इन मुसलामान कवियों के काव्य में मुखरित प्रेम, भाईचारे एवं शांति सद्भाव के संदेशों को जन-जन तक अनिवार्य रूप से पहुँचाना ही चाहिए। इसी विचार का मूर्तरूप प्रस्तुत शोधग्रंथ है। अमीर खुसरो, जायसी, कुतुबन, मंझन, मुबारक, जान, आलम, शेख, नेवाज, बिलग्रामी, यारी साहब, रसलीन, रहीम और रसखान तो राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रकाशित हुए, पर बुन्देलखण्ड के ये मुसलमान कवि अप्रकाशित अविज्ञापित और उपेक्षित ही रहे। यद्यपि इनका काव्य-माधुर्य एवं अवदान राष्ट्रीय स्तर पर छा जाने वाले मुसलमान कवियों से किसी भी रूप में कम न था। बुन्देलखण्ड के मुसलमान हिन्दी कवियों के लिए भी भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के ये उद्गार अत्यन्त सार्थक एवं महत्वपूर्ण हैं :-

'इन मुसलमान हरिजनन पै,
कोटिक हिन्दू वारिये ।।'

सन्दर्भ सूची

(1) तुलसी-साधना (मासिक) : संपा. : प्रो. अवधेश प्रसाद पाण्डेय, प्रका. म.प्र. तुलसी अकादमी, भोपाल, जुलाई-अगस्त - 99, पृ. 26-27

(2) बुन्देली काव्य परम्परा (प्रथम भाग) : डॉ. बलभद्र तिवारी, पृ. 76

(3) वही, पृ. 77

(4) ग्वालियर संभाग में व्यवहृत बोली रूपों का भाषा वैज्ञानिक अध्ययन : डॉ. सीता किशोर, पृ. 71, 72 (आराधना ब्रदर्स, 152-सी, गोविंदनगर, कानपुर-6)

(5) बुन्देली संस्कृति और साहित्य : डॉ. नर्मदा प्रसाद गुप्त, सम्पादक - कपिल तिवारी, म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद्, भोपाल, पृ. 17

(6) बुन्देलखण्ड : मुंशी अजमेरी, पृ. 4